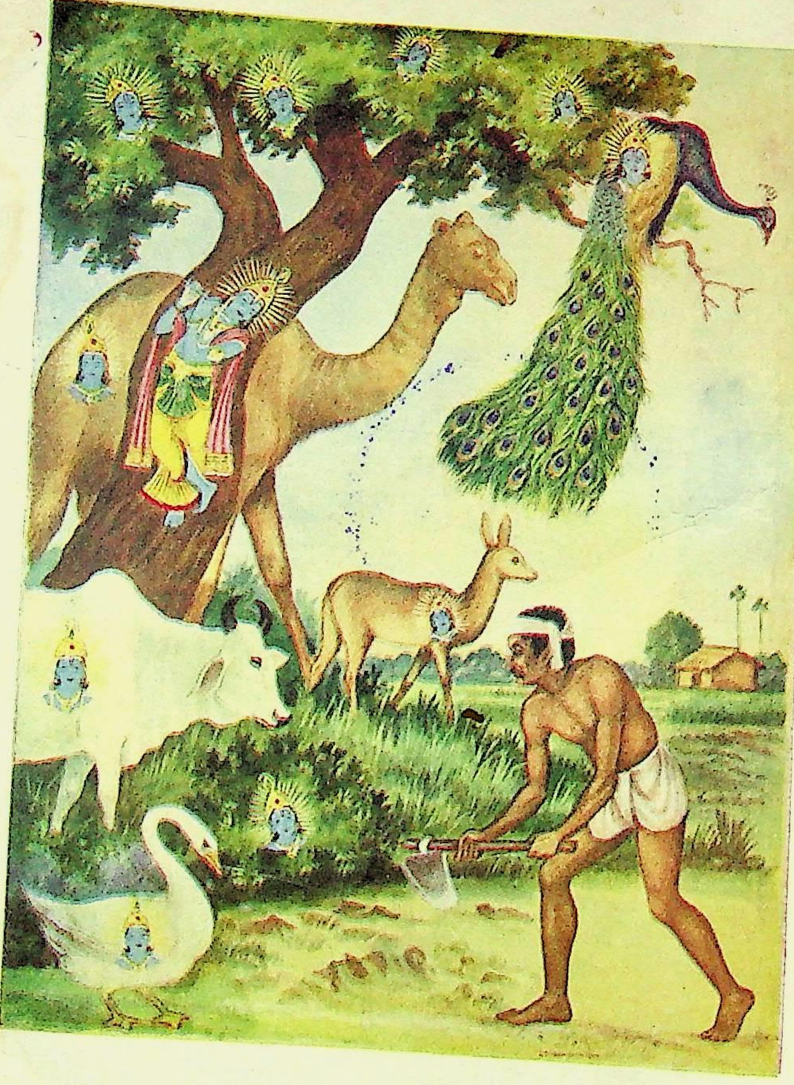

LIBRARY
No

कर्मयोगका तत्त्व



सब कार्योंमें भगवद्दृष्टि

श्रीहरिः

कर्मयोगका तत्त्व

काम करते हुए भगवत्-प्राप्तिकी साधना

काम करते हुए भी हम ईश्वरको सदा-सर्वदा याद रखते हुए अपना कल्याण किस प्रकार कर सकते हैं—इस सम्बन्धमें कुछ निवेदन किया जाता है। निश्चय ही सभी लोग कामको छोड़कर भजन-ध्यानमें नहीं लग सकते। वास्तवमें गीताके अनुसार कामको छोड़ देनेकी आवश्यकता भी नहीं है। लोग भूलसे ही यह धारणा कर लेते हैं कि गीता तो संन्यास ले लेनेका ही उपदेश देती है। किंतु यह बात ठीक नहीं, क्योंकि अर्जुन तो सब कुछ छोड़कर

भीखके द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करनेको तैयार ही हो गये थे। उन्होंने भगवान्‌से स्पष्ट कह दिया था कि—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥

(गीता २।५)

'इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा।'

किंतु भगवान्‌ने उसे अपना स्मरण करते हुए ही स्वधर्मरूप युद्ध करनेकी आज्ञा दी।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

भगवान्‌के इस उपदेशके अनुसार जब भगवत्स्मृतिके रहते हुए युद्ध-जैसी क्रिया भी हो सकती है तो फिर हमलोगोंके साधारण कार्योंके होनेमें तो कठिनाई ही क्या है? गीता अध्याय १८ श्लोक

५६ में तो सदा कर्म करते हुए भी भगवत्प्राप्ति होनेकी बात कही गयी है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ।'

अतः भगवान्‌की शरण होकर कर्म करने चाहिये । कई भाइयोंका कहना है कि काम करते हुए भजन करनेसे काम अच्छी तरह नहीं होता और कामको अच्छी तरह करनेसे भजन निरन्तर नहीं होता । उनका यह कहना ठीक है । आरम्भमें ऐसी कठिनाई हो सकती है, किंतु आगे चलकर अभ्यासके बढ़ जानेपर भगवत्-कृपासे यह कठिनाई नहीं रहती । इसलिये काम करते समय भी हमें भजनका अभ्यास डालना चाहिये । इस सम्बन्धमें नटनीका उदाहरण सामने रक्खा जा सकता है । नटनी बाँसपर चढ़ते समय ढोल भी बजाती रहती है और गायन भी करती है । किंतु इन सब क्रियाओंको करते हुए भी उसका ध्यान निरन्तर अपने पैरोंपर ही रहता है । इसी प्रकार गाने-बजानेकी भाँति हमें सब काम करने चाहिये और उसके पैरोंके ध्यानकी तरह हमें परमात्मामें अपना मन रखना चाहिये ।

जब हमलोग कोई भी काम करें, उस समय हमें श्वास या वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामका जप तथा गुण-प्रभावके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही काम करनेका अभ्यास डालना चाहिये ।

काम करते समय यह भाव रहना चाहिये कि यह काम भगवान्का है और उन्हींके आज्ञानुसार मैं इसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये कर रहा हूँ। प्रभु मेरे पास खड़े हुए मेरे कामको देख रहे हैं—ऐसा समझकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

इस प्रकार मनसे परमात्माका चिन्तन और श्वास या वाणीसे उनके नामका जप करते हुए ही काम करनेका अभ्यास करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। ऐसा अभ्यास करनेसे आरम्भमें यदि काममें कमी भी आवे, तो कोई हर्ज नहीं। वास्तवमें जप-ध्यानमें कमी नहीं आनी चाहिये।

हमलोगोंको प्रातः-सायं दोनों समय नियमितरूपसे अपने-अपने अधिकारीके अनुसार ईश्वरकी उपासना अवश्य ही करनी चाहिये; क्योंकि प्रातःकालकी उपासना प्रेमपूर्वक करनेपर परमात्माकी कृपासे दिनभर उनकी स्मृति रह सकती है। स्मृतिको तैलधाराकी तरह अखण्ड बनाये रखनेके लिये हमें चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते तथा प्रत्येक कार्य करते हुए भगवान्को अपने साथ समझना चाहिये। मनमें सदा-सर्वदा यह निश्चय रखना चाहिये कि हम जो कुछ करते हैं उसे भगवान् ही करवाते हैं। गुरु जिस प्रकार बच्चेका हाथ पकड़कर उससे अक्षर लिखवाते हैं, उसी प्रकार परमात्मा हमें प्रेरित करके समस्त कार्योंका आचरण हमसे करवाते हैं। कठपुतली जिस प्रकार सूत्रधारके इशारेपर नाचती है उसी प्रकार हमें भगवान्के हाथमें अपनी बागडोर सम्हलाकर उनके इशारेपर काम करना चाहिये। इस प्रकारके अभ्याससे हमें प्रत्यक्षमें शान्तिका अनुभव होने लगेगा

और हमारे इस साधनसे परमात्मा विशेष प्रसन्न होंगे। इसी प्रकार सायंकालकी भी उपासना प्रेमपूर्वक करनेपर भगवत्कृपासे रात्रिमें और सोनेके समय भी भगवान्‌की स्मृति रह सकती है। उससे दुःस्वप्नोंका नाश होकर वृत्तियाँ सात्त्विक हो जाती हैं और निरन्तर प्रसन्नता तथा शान्ति रहती है। इसलिये हमें अपने मस्तकपर प्रभुका हाथ समझकर सदा आनन्दित रहना चाहिये और भोग, आराम, पाप, आलस्य तथा प्रमाद आदिको मृत्युके समान समझकर अपने जीवनके क्षणोंका उपयोग उत्तम-से-उत्तम कार्योंमें ही करना चाहिये। भगवान्‌के नामका जप और गुण तथा प्रभावके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही उनकी आज्ञाके अनुसार तत्परताके साथ काम करना चाहिये।

परंतु इस साधनामें निम्नलिखित बातें अत्यन्त बाधक हैं— क्रोध, वैमनस्य, ईर्ष्या, भय, शोक, मोह, अभिमान, मनोमालिन्य, राग-द्वेष और घृणा आदि। इन विघ्नोंको मृत्युके समान समझते हुए इनका सर्वथा परित्याग कर देना ही उचित है। इनसे छुटकारा पानेका मुख्य उपाय है—ईश्वरकी शरण। इस शरणागतिका यदि पूर्णतया पालन कर लिया जाय तो उपर्युक्त विघ्नोंसे सहज ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है—इसमें तो संदेह ही क्या है, किंतु परेच्छा और अनिच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो उसे ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न होनेसे भी इन विघ्नोंसे छुटकारा हो सकता है। मनके प्रतिकूल जो कार्य होता है उसे दैवेच्छा यानी भगवदिच्छा-से होनेवाला मान लें तो तुरंत ऊपर लिखे विघ्न नष्ट हो सकते हैं। जब कोई कार्य हमारे मनके प्रतिकूल हो तो हमें समझना चाहिये

कि इसमें निश्चय ही भगवान्‌का हाथ है । यह उनकी हमपर बड़ी भारी दया हो रही है कि वे सब कुछ जानते हुए भी आज हमारे हितके लिये हमारी परीक्षा ले रहे हैं । अब हमें सावधान रहना चाहिये कि कहीं हम उस परीक्षामें अनुत्तीर्ण न हो जायँ। इस प्रकार जो उस स्थलपर भी आनन्दका ही अनुभव करता है वही वास्तविक भक्त है। भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहना ही तो भक्तका परम कर्तव्य है। अतएव भगवान्‌का भक्त बननेकी इच्छावालोंको चाहिये कि वे उनके प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहें । भगवान् हमें पापोंसे मुक्त करके विशुद्ध बनाने तथा सहनशील और धैर्यवान् होनेके लिये हमारे मनके प्रतिकूल पदार्थ भेजकर हमें चेतावनी दिया करते हैं । बाढ़, भूकम्प, महामारी और दुर्भिक्ष आदि अनिच्छासे होनेवाले अनिष्ट भगवान्‌के द्वारा ही भेजे हुए होते हैं । मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों आदिद्वारा परेच्छासे जो अनिष्ट होते हैं, उनमें भी भगवान्‌की ही प्रेरणा समझनी चाहिये । यह समझकर हमें उन विपरीत परिस्थितियोंमें भी इतना आनन्द होना चाहिये, जितना कि एक दरिद्र पुरुषको पारसके प्राप्त होनेपर भी नहीं होता।

निन्दा और अपमान हमको जिस दिन अच्छे मालूम होने लगेंगे उस दिन समझना चाहिये कि हम भगवान्‌के संनिकट पहुँच रहे हैं। वर्तमान स्थितिसे वह स्थिति बिल्कुल विपरीत होगी । जो मान और स्तुति आज हमको अमृतके समान मधुर लगते हैं, वे ही भगवत्-शरणापन्न होनेपर विषके समान लगने लगेंगे । जिस प्रकार स्तुति सुनकर हमारे हृदयमें प्रसन्नताकी लहर उठती है, उसी प्रकार जब निन्दा सुनकर भी हमारे हृदयकी वही स्थिति बनी रहेगी, हमारे हृदयमें

स्तुति सुननेके समान ही प्रसन्नताकी लहर उठेगी, तब समझना चाहिये कि हम भगवान्‌के समीप आ गये हैं। आज पुष्पमाला पहनकर जिस हर्षका अनुभव हम करते हैं, ठीक उसी हर्षकी अनुभूति तब हमें जूतोंसे तिरस्कृत होनेपर भी होगी।

हमें चाहिये कि हम उन पुरुषोंको, जो हमारी निन्दा करते हैं, उसी भावसे देखें जिस भावसे हम अपनी प्रशंसा करनेवालेको देखते हैं। महात्मा कबीरदासजी तो यहाँतक कहते हैं कि निन्दक पुरुषको अपनी कुटिया देकर अपने पास बसाना चाहिये।

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी प्रकारसे हो अपनी निन्दा करनेवालेको अधिक-से-अधिक अपने सम्पर्कमें रक्खा जाय; क्योंकि वह हमारे जिस कार्यकी निन्दा करेगा उसे सुधारनेकी चेष्टा हमारे द्वारा अवश्य ही होगी। मनुष्यको अपने दोष शीघ्र दिखलायी नहीं पड़ते, परंतु किसीके द्वारा अपने दोषोंके लिये चेतावनी दिये जानेपर कल्याण-कामी पुरुष उन दोषोंको दूर करनेकी चेष्टा करता है। अतएव हमें प्रसन्नतापूर्वक अपनी निन्दा सुननेका स्वभाव बनाना चाहिये। ऐसा स्वभाव बना लेनेपर हमारे द्वारा होनेवाले निन्दनीय कार्योंका तथा निन्दा-श्रवणसे उत्पन्न होनेवाले हमारे अन्तःकरणके विकारोंका विनाश हो सकता है, इसी बातका स्पष्टीकरण करनेके लिये एक काल्पनिक उदाहरण दिया जाता है।

एक दूकानदार था। उसके हृदयमें किसीके प्रति जरा भी क्रोध, द्वेष या घृणाका भाव नहीं था। वह सभी कार्योंमें भगवत्प्रेरणाका ही अनुभव किया करता था। वह अपने-आपको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर चुका था। एक बार पासके एक दूकानदारने उसे इस प्रकार प्रत्येक विधानमें संतुष्ट और कभी क्रोध न करते हुए देखकर विचार किया कि आज चाहे जैसे हो उसको क्रोध दिलाना चाहिये। यह निश्चय करके वह उसकी दूकानपर गया और प्रत्येक बातमें उसके विपरीत बोलने लगा। उसने उसके प्रति न जाने कितनी कटूक्तियाँ— कितने अपशब्द कहे; पर वह अपनी स्थितिसे तिलभर भी विचलित न हुआ। अन्तमें उसे किसी प्रकार भी क्रोध न करते देखकर उस दूकानदारको अपनी असफलतापर कुछ निराशा हुई, किंतु फिर भी उसने मन-ही-मन इस बातका दृढ़ संकल्प किया कि मैं इसे क्रोध दिलाकर ही विश्राम लूँगा। कुछ दिनों बाद मौका देखकर वह फिर उसके पास गया और कहने लगा—'आज मुझे अपने ससुराल जाना है। मैं चाहता हूँ कि तुम भी मेरे साथ चलो।' उस भक्तने उसके संतोषके लिये उसकी बातको स्वीकार कर लिया और साथ जानेके लिये तैयार हो गया। जब वे दोनों चलने लगे तब उसने उस भक्तसे कहा कि इस समय मेरे पास कोई नौकर नहीं है और मेरी इस मिठाईकी हँडियाको ससुरालतक ले जाना जरूरी है। क्या तुम अपने सिरपर रखकर उसे वहाँतक ले चलोगे ? उस भक्तने सहर्ष उस हँडियाको अपने सिरपर रख लिया और वह उस दूकानदारके आगे-आगे चलने लगा। जब वे लोग एक दूसरे स्थानपर पहुँचे जहाँपर

बड़ा भारी जनसमूह एकत्र था, उपयुक्त अवसर देखकर दूकानदारने पीछेसे अपने डंडेसे उस हँड़ियाको फोड़ दिया। हँड़ियाका फूटना था कि उसके भीतरका सारा कीचड़ और सारा मैला उस भक्तके बदनपर फैल गया। उस भक्तको इस दशामें देखकर सारा जनसमाज हँस पड़ा। वह दूकानदार भी भक्तके सामने खड़ा होकर खूब हँसने लगा। उन सबको हँसते देखकर वह भक्त भी खिलखिलाकर हँसने लगा। तब उस दूकानदारने पूछा कि 'भाई! मैं तो तुम्हारी इस दुरवस्थापर हँस रहा हूँ; पर तुम्हारे हँसनेका क्या कारण है?' उस भक्तने कहा—'मैं अपने ऊपर भगवान्‌की महती अनुकम्पाका अनुभव करके हँस रहा हूँ। आपकी भी मुझपर कितनी दया है जो कि आप पद-पदपर मेरी सम्हाल रखते हैं। नहीं तो किसको क्या गरज पड़ी है कि वह बिना किसी स्वार्थके दूसरेका भला करे—उसकी पूरी सम्हाल रक्खे। आप तो हमेशा ही मुझपर कृपा करके ऐसा कार्य करते रहते हैं जिससे मैं अक्रोधकी कसौटीपर खरा उतर सकूँ।' इस बातको सुनते ही वह दुष्टात्मा दूकानदार पानी-पानी हो गया। उसकी कलुषित भावनाएँ एकदम विलुप्त हो गयीं, उसकी आँखें खुल गयीं। वह उस भक्तके चरणोंमें लोट गया और अपने अपराधोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करने लगा। उस भक्तने उसे अपने हाथोंसे उठा लिया और कहा—'भाई आप तो मेरे गुरु हैं। आपके द्वारा ही तो मैं अक्रोधका पाठ पढ़ सका हूँ। मेरे हितकी दृष्टिसे ही भगवान्‌ने आपके द्वारा यह कार्य करवाया है। आप चिन्ता न कीजिये। इस कार्यके करवानेमें भगवान्‌की इच्छा थी।'

कहनेका अभिप्राय यह है कि सब कार्योंमें भगवदिच्छाका अनुभव करनेके कारण ही उस महात्माके मनमें स्वयं जनसमाजमें अपमानित किये जानेपर भी किञ्चिन्मात्र भी विपरीत भाव उत्पन्न ही नहीं हुआ। अस्तु,

भगवान् अपने भक्तोंके सम्मुख उनके हितके लिये इस प्रकारकी प्रतिकूल परिस्थितियाँ पैदा करते रहते हैं। उन विपरीत विधानोंके प्राप्त हो जानेपर भी जो जरा भी उद्विग्न न होकर उन्हें भगवान्के भेजे हुए पुरस्कार समझकर उनमें सदा संतुष्ट रहते हैं, वे ही सच्चे भक्त हैं। इसके विपरीत यदि हम उनके विधानमें आनन्द नहीं मनाते, उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न नहीं होते तो हम भगवान्के भक्त कहाँ? इसीलिये इन सब विपरीत विधानोंमें भी हमें हर्ष होना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे हमारे पूर्वकृत पापोंका नाश होता है, आत्मबल और सहनशक्तिकी वृद्धि होती है और साथ-ही-साथ भगवत्स्मृति होकर शास्त्र-विपरीत कर्मोंका होना रुक जाता है तथा शत्रु मित्र बन जाता है और विष अमृतके रूपमें परिणत हो जाता है।

श्रीतुलसीदासजीने भी यही कहा है—

गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥

(राम० उत्तर० ११९।४)

इसकी चरितार्थता प्रह्लाद और मीरा आदिके जीवनमें प्रत्यक्ष देखी जाती है। मीराबाई भगवान्की अनन्य उपासिका थी। उसकी भक्तिसे चिढ़कर राणाने उसके प्राणोंका हनन करनेके लिये उसके पास विषका प्याला यह कहकर भेजा कि मीरा! यह तेरे उपास्यदेव-

का चरणामृत है। कहना नहीं होगा कि भक्तिमती मीरा भगवान्‌का नाम लेकर उसे पी गयी। भगवान्‌के चरणामृतसे बढ़कर उत्तम वस्तु उसके लिये और हो ही क्या सकती थी? भगवान् भी अपने भक्तोंका अनिष्ट कैसे होने देते? तुरंत मीराका वह विष अमृत हो गया। यह दृश्य देखकर राणा अवाक् रह गया और मीराकी भक्तिके प्रभावसे प्रभावित होकर अन्तमें उसका भक्त बन गया। यह है ईश्वर-भक्तिका प्रताप।

इसलिये हमलोगोंको भी अपने मनके प्रतिकूल जो कुछ भी हो उसे भगवान्‌का विधान समझकर हर समय संतुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि उन प्रभुकी प्रेरणाके बिना वृक्षका एक पत्ता भी नहीं हिल सकता! अतएव चाहे हमारा कोई कितना ही अनिष्ट क्यों न करे, हमें उसको भगवान्‌की ही प्रेरणा जानकर उससे प्रेम ही करना चाहिये—उसके प्रति आदर-बुद्धि ही रखनी चाहिये। यह भी ईश्वर-शरणागतिका तत्त्व है। अपनेसे प्रेम करनेवालेके साथ तो पशु भी प्रेम करते हैं। कुत्ते, गधे आदि सभी इसके प्रमाण हैं। देखा जाता है कि एक जब दूसरेसे प्रेम करता है तो दूसरा भी उससे प्रेम करता है। जब एक कुत्ता दूसरेको चाटता है तो दूसरा भी उसको चाटता है। इसी प्रकार वैरके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। यदि हमलोग भी अपनेसे प्रेम करनेवालेके साथ प्रेम और अपनेसे द्वेष रखने-वालोंके साथ द्वेष करें तो फिर हममें और पशुओंमें अन्तर ही क्या है? हमें तो अपनेसे वैर करनेवालेके साथ भी अधिक-से-अधिक प्रेम करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही हमारा वास्तविक मनुष्यत्व सिद्ध होगा।

इस विषयमें हमारे सामने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-ने प्रेमके व्यवहारका जो आदर्श रक्खा है वह कितना उच्च है ? निरपराधी रामको कैकेयी दशरथजीकी इच्छा न रखते हुए भी चौदह वर्षके लिये वनमें भेज रही है। भगवान् राम उसकी आज्ञाको शिरोधार्य करके सहर्ष वन जानेको तैयार हैं। कैकेयीके बाणके समान मर्मवेधी वचनोंका उत्तर भगवान् कितनी नम्रता और मधुरताके साथ देते हैं। वे कहते हैं—'माता ! वनमें जानेसे मुनियोंके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त होगा। वन जानेमें पिताजीकी आज्ञा और आपकी भी सम्मति है। मेरे वन जानेसे भाई भरतको राज्य मिलेगा। इससे बढ़कर मेरे लिये सौभाग्यकी और बात ही क्या हो सकती है ?' श्रीतुलसीदासजीने अयोध्याकाण्डमें कहा है—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

(राम० अयोध्या० ४१, ४२।१)

इतने विनय और प्रेमपूर्ण व्यवहारके होनेपर भी कैकेयीने निष्ठुरताका ही व्यवहार किया।

सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल बक्र गति जद्यपि सलिलु समान॥

(राम० अयोध्या० ४२)

जब सीता भी रामचन्द्रजीके साथ वन जानेको तैयार हो गयी

तब कैकेयी उसे कहती है—'हे सीते! लो, तुम भी वल्कल वस्त्र धारण कर लो।' सीता वल्कल वस्त्र अपने हाथमें ले लेती है। परंतु वह राजकुमारी, जिसने कभी अपने हाथसे आभूषणादि भी नहीं पहने, वल्कल वस्त्र पहनना क्या जाने? वह भगवान्की ओर देखने लग जाती है। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् लज्जाकी परवा न करके [illegible] वल्कल वस्त्र पहनाते हैं। इस अनुचित और करुणापूर्ण [illegible]देखकर रनवासकी स्त्रियाँ रो पड़ती हैं और वसिष्ठजी कैकेयी-[illegible]कठोर व्यवहारकी कड़ी आलोचना करके सीताको वल्कल वस्त्र [illegible]नानेका विधान करते हैं। अन्तमें अपनी विमाताके दुर्व्यवहारों-[illegible] तनिक भी ध्यान न देकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् [illegible]न्द्रजी प्रसन्नवदन होकर हँसते-हँसते वनकी ओर चले जाते [illegible]ना ही नहीं, अपितु चित्रकूटमें तथा चौदह वर्षकी अवधि [illegible]ोनेपर अयोध्या लौटकर सबसे प्रथम कैकेयीका ही आदर करते [illegible]उनके इस आदर्श व्यवहारसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि [illegible] साथ कोई चाहे कितना ही कठोरतापूर्ण व्यवहार करे; किन्तु [illegible]उसके साथ प्रेमका ही व्यवहार करना चाहिये।

जब किसीको हमपर क्रोध होता है तो हमें समझना चाहिये कि हमारा कोई अपराध बन गया है इसीसे तो इनको क्रोध आया है। यदि हमारा कोई भी अपराध न होता तो इन्हें अकारण ही क्यों क्रोध आता। इस प्रकार अपनेपर दूसरेके क्रोधित होनेमें अपनेको ही उसका कारण मानकर अपनेको ही अपराधी समझना चाहिये। परंतु यदि अपनेको भी क्रोध आ गया तो फिर अपनी नीचताकी

चरम सीमा ही समझनी चाहिये। किसी भी जीवपर क्रोध करना भगवान्‌पर ही क्रोध करना है। इसलिये किसीपर भी क्रोध न करके सबके साथ अहैतुक प्रेम करना चाहिये; क्योंकि किसीके साथ जो प्रेम करना है वह भगवान्‌के साथ ही प्रेम करना है। इस प्रकारके प्रेमपूर्ण व्यवहारके प्रभावसे हम भगवान्‌के परम प्रिय बन जायँगे। गीताके १२ वें अध्यायके १५ वें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए कहते हैं——

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है——वह भक्त मुझको प्रिय है।'

अतः साधकोंको निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही उनकी आज्ञाके अनुसार काम करना चाहिये और अपने मनके प्रतिकूल कार्योंको भी भगवान्‌का विधान समझकर सदा उनमें संतुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌का प्रत्येक विधान जीवोंके कल्याणके लिये ही होता है। यदि यह रहस्य याथातथ्य समझमें आ जाय तो भगवत्साक्षात्कार होकर सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है।



गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप

'गीताका निष्काम कर्मयोग भक्तिमिश्रित है या भक्तिरहित ? यदि भक्तिमिश्रित है तो उसका क्या स्वरूप है ?

इस प्रश्नपर विचार करते समय आरम्भमें कर्मोंके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंपर कुछ सोच लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है । कर्म कई प्रकारके हैं, जिनको हम प्रधानतया तीन भागोंमें बाँट सकते हैं—निषिद्धकर्म, काम्यकर्म और कर्तव्यकर्म ।

चोरी, व्यभिचार, हिंसा, असत्यभाषण, कपट, छल, जबरदस्ती अभक्ष्य-भक्षण और प्रमादादिको निषिद्धकर्म कहते हैं ।

स्त्री, पुत्र, धनादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये एवं रोग-संकटादि-की निवृत्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंको काम्यकर्म कहते हैं ।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, यज्ञ, दान, तप, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, वर्ण तथा आश्रमके धर्म और शरीर-सम्बन्धी खान-पानादि कर्मोंको कर्तव्यकर्म कहते हैं ।

'कर्तव्यकर्म' भी कामनायुक्त होनेसे काम्यकर्मोंके अन्तर्गत समझे जा सकते हैं; परंतु उनमें वर्णाश्रमके स्वाभाविक धर्म तथा जीविकाके कर्म भी सम्मिलित हैं, इसलिये उनके पालन करनेकी मनुष्यपर विशेष जिम्मेवारी रहती है । किसी खास विषयकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त काम्यकर्म करना-न-करना अपनी इच्छापर निर्भर रहता है, इसीलिये इनका अलग-अलग भेद है ।

इन तीनों प्रकारके कर्मोंमें निषिद्धकर्म तो सभीके लिये सर्वथा त्याज्य हैं। मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंके लिये काम्यकर्मोंकी कोई आवश्यकता नहीं, रहे 'कर्तव्यकर्म' जिनकी संज्ञा भावोंके भेदसे सकाम और निष्काम दोनों ही हो जाती हैं। जबसे—

सकाम कर्म

—के अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा होती है, तबसे आरम्भकर कर्मकी समाप्तिके बाद चिरकालतक मनमें केवल फलका अनुसंधान रहता है। ऐसे कर्म करनेवालेकी चित्तवृत्तियाँ पद-पदपर अपने लक्ष्य-फलको विषय करती रहती हैं। यदि धनके लिये कर्म होता है तो उसे पल-पलमें उसी धनकी स्मृति होती है। उसका चित्त धनाकार बना रहता है। कर्मकी सिद्धिमें जब उसे धन मिलता है, तब वह हर्षित होता है और जब असिद्धि होती है, धन नहीं मिलता या अन्य कोई बाधा आ जाती है, तब उसे बड़ा क्लेश होता है। उसका चित्त फलानुसंधानवाला होनेके कारण प्रायः निरन्तर व्यथित और अशान्त रहता है। ऐसे पुरुषका विषयविमोहित चित्त किसी-किसी समय उसे निषिद्ध कर्मोंके करनेमें भी प्रवृत्त कर सकता है। यद्यपि शास्त्रके आज्ञानुसार कर्मोंका आचरण करनेवाला सकामी पुरुष निषिद्ध कर्मोंका आचरण करना नहीं चाहता, तथापि विषयोंका लोभ बना रहनेके कारण उसके गिर जानेका भय बना ही रहता है। कहीं कर्ममें कुछ भूल हो जाती है, तो उसे सिद्धि तो मिलती ही नहीं, उलटे प्रायश्चित्त या दुःखका भागी होना पड़ता है। परंतु—

निष्काम कर्म–

–का आचरण करनेवाले पुरुषकी स्थिति सकामीसे अत्यन्त विलक्षण होती है । उसके मनमें किसी प्रकारकी सांसारिक कामना नहीं रहती, वह जो कुछ कर्म करता है, सो सब फलकी इच्छाको छोड़कर आसक्तिरहित होकर करता है । यहाँपर यह प्रश्न होता है कि 'यदि उसे फलकी इच्छा नहीं है तो वह कर्म करता ही क्यों है ? संसारमें साधारण मनुष्य बिना किसी हेतुके कर्म कर ही नहीं सकता और हेतु किसी-न-किसी फलका ही होता है । ऐसी स्थितिमें फलकी इच्छा बिना कर्मोंका होना सिद्ध नहीं होता ।' यह ठीक है । साधारण मनुष्यके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेमें किसी-न-किसी हेतुका रहना अनिवार्य है, परंतु हेतुके स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं । सकामभावसे कर्म करनेवाला पुरुष भिन्न-भिन्न फलोंकी कामनासे नाना प्रकारके कर्मोंको करता है, उसके कर्मोंमें हेतु है 'विषय-कामना' । इसीलिये वह आसक्त होकर कर्म करता है, उसकी बुद्धि कामनाओंसे ढकी रहती है (देखो २ । ४२–४४; ९ । २०-२१) । इसीलिये वह कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें सुखी और दुखी होता है; परंतु निष्कामभावसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्मोंमें हेतु रह जाता है एक 'परमात्माकी प्राप्ति' ।* इसीलिये वह नित्य नये उत्साहसे आलस्यरहित होकर कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, सांसारिक फल-कामना न होनेसे वह आसक्त नहीं

* निष्काम कर्मयोगीकी परमात्माको प्राप्त करनेकी कामना परिणाममें परम कल्याणकी हेतु होनेके कारण कामना नहीं समझी जाती; भगवत्प्राप्तिकी कामनावाला पुरुष निष्काम ही समझा जाता है ।

होता और कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें उसे हर्ष-शोकका विकार नहीं होता; क्योंकि उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो गया है। वह कर्मके बाहरी फलपर कोई खयाल नहीं करता; उसकी दृष्टिमें संसारके समस्त पदार्थ उस परमात्माके सामने अत्यन्त तुच्छ, मलिन और क्षुद्र प्रतीत होते हैं। वह उस महान्-से-महान् परमात्माकी प्राप्तिरूप शुभेच्छामें जगत्के सम्पूर्ण बड़े-से-बड़े पदार्थोंको तुच्छ समझता है (२ । ४९)।

इसीसे सांसारिक विषयरूप फलोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें उसे हर्ष-शोक नहीं होता। सकामी पुरुषकी भाँति उससे निषिद्ध कर्म बननेकी भी सम्भावना नहीं रहती। निषिद्ध कर्मोंमें कारण है 'आसक्ति या लोभ'। निष्कामी पुरुष जगत्के समस्त पदार्थोंका लोभ छोड़कर उनसे अनासक्त होना चाहता है। वह श्रीपरमात्माको ही एकमात्र लोभकी वस्तु मानता है, उसीमें उसका मन आसक्त हो जाता है; अतएव उसकी प्राप्तिके अनुकूल जितने कार्य होते हैं वह उन सबको बड़े उत्साहके साथ करता है। यह निर्विवाद बात है कि परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल तो वे ही कार्य हो सकते हैं जिनके लिये भगवान्ने आज्ञा दी है, जो शास्त्रविहित हैं, जो किसीके लिये किसी प्रकारसे भी अनिष्टकारक नहीं होते; ऐसे कर्मोंमें निषिद्ध कर्मोंका समावेश किसी प्रकार भी नहीं हो सकता, इसीलिये निष्कामी पुरुष सकामी पुरुषसे सर्वथा विलक्षण होता है।

सकामी पुरुष जगत्के पदार्थोंको रमणीय, सुखप्रद और प्रीतिकर समझकर उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे, सिद्धिमें सुख और असिद्धिमें दुःख होनेकी प्रत्यक्ष भावनाको लेकर ममतायुक्त मनसे आसक्तिपूर्वक कर्म

करता है और निष्कामी पुरुष सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभाव रखता हुआ आसक्ति और फलकी इच्छाको त्याग-कर भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है। यही सकाम और निष्काम कर्मोंमें भावका अन्तर है।

गीतामें निष्काम कर्मका आरम्भ--

—दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकसे होता है। ११ वेंसे ३० वें श्लोकतक सांख्ययोगका प्रतिपादन करनेके बाद ३१ वें श्लोकसे क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये अर्जुनको उत्साहित करते हुए ३८ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं--

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

मोहके कारण पाप-भयसे भीत अर्जुनको सुख-दुःख, जय-पराजय और लाभ-हानिरूप सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखनेसे कोई पाप नहीं होनेकी बुद्धि सांख्यके सिद्धान्तानुसार बतलाकर अगले श्लोकसे निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन आरम्भ करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
(२।३९)

'हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन—जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धनको भलीभाँति त्याग देगा यानी सर्वथा नष्ट कर डालेगा।'

इसके बादके श्लोकमें निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने जरा-से भी निष्काम कर्मयोगरूपी धर्मको महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलाया । आगे चलकर ४७ वें श्लोकमें कर्मका अधिकार और फलका अनधिकार वर्णन करते हुए ४८ वें श्लोकमें भगवान्‌ने, जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने-न-होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम ही 'समत्व' है और इस समत्वभावका कर्मके साथ योग होनेसे ही वह कर्मयोग बन जाता है, ऐसा कहते हुए अर्जुनको आसक्ति त्याग कर सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी और आगे उसका फल बतलाया 'जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय अमृतमय परमपद परमात्माकी प्राप्ति हो जाना' (देखो गीता २ । ५१) ।

इस प्रकार भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ४७ वें से ५१ वें श्लोक तक कर्मयोगका विवेचन किया, यद्यपि इस विवेचनमें स्पष्टरूपसे भक्तिका नाम कहीं नहीं आया; परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह कर्मयोग भक्तिशून्य है । मेरी समझसे गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है । इतना अवश्य है कि कहीं-कहींपर तो उसका भाव प्रधानरूपसे अच्छी तरह व्यक्त हो गया है और कहीं-कहींपर वह गौण होकर अव्यक्तरूपसे निहित है । परमात्माके अस्तित्व और उसे प्राप्त करनेकी शुभ भावना तो सामान्यरूपसे कर्मयोगके प्रत्येक उपदेशमें बनी हुई है । निष्काम कर्मका आचरण ही तभीसे आरम्भ होता है जबसे साधक अपने मनमें परमात्माको पानेकी शुभ और दृढ़ भावनाको लेकर संसारके भोगोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकका विचार छोड़कर फलासक्तिका त्याग कर देना चाहता है ।

जो कर्म भगवान्‌की प्रीति या प्राप्तिके लिये नहीं होते उनका तो नाम ही कर्मयोग नहीं होता। कर्मयोग नाम तभी सफल होता है जब कर्मोंका योग परमात्माके साथ कर दिया जाता है। अवश्य ही गीतामें कर्मयोगकी वर्णनशैली दो प्रकारकी है। किसी-किसी श्लोकमें तो भक्ति प्रधानरूपसे स्पष्ट प्रकट है, किसी-किसीमें वह अप्रकटरूपसे स्थित है।

जहाँ भक्तिका प्रधानरूपसे कथन है वहाँ 'मुझमें अर्पण करके' 'परमात्मामें अर्पण करके' 'मेरा स्मरण करता हुआ कर्म कर' 'सब कुछ मेरे अर्पण कर' 'मदर्थ कर्म कर' 'स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा कर' 'मेरे आश्रय होकर कर्म कर' 'मेरे परायण हो' आदि वाक्य आये हैं (देखो गीता ३। ३०; ५। १०; ८। ७; ९। २७-२८; १२। ६, १०; १८। ४६, ५६, ५७ इत्यादि)। जहाँ भक्तिका सामान्य भावसे अप्रकट विवेचन है वहाँ ऐसे शब्द नहीं आते (देखो गीता २। ४७-४८-४९-५०,५१; ३। ७, १९; ६। १; १८। ६, ९ इत्यादि)।

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवत्-भावना दोनों ही वर्णनोंमें है और इसीलिये भगवन्नाम, भगवत्-शरण और भगवदर्थ आदि भावोंके पर्यायवाची शब्द जिन श्लोकोंमें स्पष्ट नहीं आते उनके अनुसार आचरण करनेसे भी जीवको भगवत्प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि उसका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही होता है। इसमें संदेह नहीं कि कर्मयोगके साथ स्मरण-कीर्तनादि भक्तिका संयोग कर देनेपर भगवत्-प्राप्ति बहुत शीघ्र

होती है और सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें ऐसे ही योगी पुरुष उत्तम समझे जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गीता ४। ४७)

'सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है वही मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

जो इस भावसे स्पष्टरूपसे भक्तिका संयोग नहीं करते उनको भी कर्मयोगसे भगवत्-प्राप्ति तो होती है; परंतु बहुत विलम्बसे होती है (देखो गीता ४। ३८; ६। ४५)

गीतामें निष्काम कर्मयोगका वर्णन 'समत्वयोग' 'बुद्धियोग' 'कर्मयोग' 'तदर्थकर्म' 'मदर्थकर्म' 'मदर्पण' 'मत्कर्म' और 'सात्त्विक त्याग' आदि अनेक नामोंसे किया गया है। इन सबका फल एक होनेपर भी इनके साधनकी क्रियाओंमें भेद है। उदाहरणार्थ यहाँ—

मदर्पण और मदर्थका भेद—

—कुछ अंशमें बतलाया जाता है। मदर्पण या भगवदर्पण एक है तथा मदर्थ, तदर्थ या भगवदर्थ एक है। इनमें मदर्पण कर्मका स्वरूप तो यह है कि जैसे एक आदमी किसी दूसरे उद्देश्यसे कुछ धन संग्रह कर रहा है और उसके पास पहलेसे कुछ धन संगृहीत भी है परंतु वह जब चाहे तब अपने धन-संग्रहका उद्देश्य बदल सकता है और संगृहीत धन किसीको भी अर्पण कर सकता है। कर्मका

आरम्भ करनेके बाद बीचमें या कर्मके पूरे होनेपर भी उसका अर्पण हो सकता है। भक्तराज ध्रुवजी महाराजने राज्यप्राप्तिके लिये तपरूपी कर्मका आरम्भ किया था परंतु बीचमें ही उनकी भावना बदल गयी, उनका तपरूपी कर्म भगवदर्पण हो गया, जिसका फल भगवत्-प्राप्ति हुआ।

साथ ही आरम्भके इच्छानुसार उन्हें राज्य भी मिल गया; परंतु वह राज्य साधारण लोगोंकी तरहसे बाधक नहीं हुआ। यह भगवदर्पण कर्मकी महिमा समझनी चाहिये। अतएव आरम्भमें दूसरा उद्देश्य होनेपर भी जो कर्म बीचमें या पीछे भगवान्‌के अर्पण कर दिया जाता है वह भी भगवदर्पण हो जाता है।

मदर्थ या भगवदर्थ कर्ममें ऐसा नहीं होता, वह तो आरम्भसे ही भगवान्‌के लिये ही किया जाता है। किसी देवताके उद्देश्यसे प्रसाद बनाना या ब्राह्मण-भोजनके लिये भोजनकी सामग्रियोंका संग्रह करना जैसे आरम्भसे ही एक निश्चित उद्देश्यको लेकर होता है उसी प्रकार भगवदर्थ कर्म करनेवाले साधकके प्रत्येक कर्मका आरम्भ श्रीभगवान्‌के उद्देश्यसे ही हुआ करता है। भगवदर्थ कर्मके कई भेद अवश्य हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिके प्रयोजनसे कर्म करना, भगवान्‌की आज्ञा मानकर कर्म करना और भगवत्सेवास्वरूप कर्मोंमें नियुक्त होना आदि।

यह तो भक्तिप्रधान कर्मयोगकी बात हुई। इसके सिवा समत्व-योग, कर्मयोग और सात्त्विक त्याग आदि सब मिलते-जुलते-से ही वाक्य हैं। द्वितीय अध्यायमें ४७ वेंसे ५१ वें श्लोकतक जिसका

कर्मयोग आदिके नामसे वर्णन है उसीका अठारहवें अध्यायमें ६ ठे और ९ वें श्लोकमें त्यागके नामसे वर्णन है। वास्तवमें फल और आसक्तिका त्याग तो सभीमें रहता है। भक्तिप्रधान या कर्मप्रधान दोनों प्रकारका वर्णन निष्काम कर्मयोगके लिये ही है। इससे यह सिद्ध हो गया कि—

भगवत्प्राप्तिके लिये किया जानेवाला कर्म ही निष्काम कर्मयोग है

निष्काम कर्मयोगीको परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्यकर्मोंको छोड़कर एकान्तमें भजन-ध्यान करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहती। यदि कोई करे तो कोई आपत्ति नहीं है। भजन-ध्यान तो सदा-सर्वदा ही परम श्रेष्ठ है। परंतु एकान्तमें भजन-ध्यान न करके भी भगवच्चिन्तनसहित शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निरन्तर करता हुआ ही वह साधक परमात्माकी शरण और उसकी कृपासे परमगतिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५६-५७)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है, इसलिये सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्त-वाला हो।'

वास्तवमें कर्मोंकी क्रिया मनुष्यको नहीं बाँधती; फलकी इच्छा और आसक्तिसे ही उसका बन्धन होता है। फल और आसक्ति न हो तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता। भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ पुरुष सिद्धिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिको ही अपना सर्वस्व मानकर पतिका ही चिन्तन करती हुई, पतिके आज्ञानुसार, पतिके लिये ही मन, वाणी, शरीरसे संसारके समस्त नियत (अपने जिम्मे बँधे हुए) कर्मोंको करती हुई पतिकी प्रसन्नता प्राप्त करती है, इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी एक परमात्माको ही अपना सर्वस्व मानकर उसीका चिन्तन करता हुआ उसीके आज्ञानुसार मन, वाणी, शरीरसे उस परमात्माके ही लिये अपने कर्तव्यकर्मका आचरणकर परमात्माकी प्रसन्नता और परमात्माको प्राप्त करता है।

समस्त चराचरमें—सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें—परमात्माको व्यापक समझकर, सभीको परमात्माका स्वरूप मानकर अपने कर्मोंद्वारा निष्काम

कर्मयोगी भक्त भगवान्‌की पूजा करता है । एक महाराजाधिराज सम्राट्‌की प्रसन्नता सम्पादन करनेके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं होती कि उसके सभी कर्मचारी एक ही प्रकारका कार्य करें, सभी दीवान बनें या सभी सेनापति हों । अपने-अपने योग्यतानुसार जिसके जिम्मे जो काम महाराजके द्वारा सौंपा हुआ है, उसे अपने उसी कामसे महाराजको संतुष्ट करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । उसको चाहिये कि वह दूसरेके अच्छे-से-अच्छे कामकी ओर तनिक भी न ताककर प्रभुकी प्रसन्नताके लिये अपना काम कुशलताके साथ करे । राजदरबारका एक विद्वान् पण्डित वेदगान सुनाकर राजाको जितना प्रसन्न कर सकता है उतना ही महलोंमें झाड़ू देनेवाला राजाका परम आज्ञाकारी मामूली वेतनका नौकर भी महलोंकी सफाई-सुथराई रखकर कर सकता है । अपना कर्तव्यकर्म छोड़नेकी किसीको भी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये स्वार्थ छोड़कर अपने कर्तव्यकर्म उस प्रभुके अर्पण करनेकी । यही अपने कर्मोंसे परमात्माकी पूजा है और इसीसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

निष्काम कर्मयोगीका लक्ष्य रहता है केवल एक परमात्मा ! जैसे धनका लोभी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममें धनकी प्राप्तिका उपाय ही सोचता है । किसी तरह धन मिलना चाहिये केवल यही भाव उसके मनमें निरन्तर रहता है । जिस काममें रुपये लगते हैं, रुपये नहीं आते या उनके आनेमें कुछ बाधा होती है उस कामके वह समीप भी जाना नहीं चाहता । वह केवल उन्हीं कार्योंको करता है जो धनकी प्राप्तिके अनुकूल या सहायक होते हैं । इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी

भी 'आठ पहर चौंसठ घड़ी' मन, वाणी, शरीरद्वारा उन्हीं सब कर्मोंको करता है जो ईश्वरको संतुष्ट करनेवाले होते हैं। वह भूलकर भी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक चोरी-जारी, झूठ-कपट, मादक द्रव्यसेवन और अभक्ष्य-भक्षणादि निषिद्ध कर्मोंको और व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले प्रमादादि कर्मोंको नहीं करता। करना तो दूर रहा, ऐसे कार्य उसे किसी तरह सुहाते ही नहीं। वह निरन्तर उन्हीं न्याययुक्त और शास्त्रविहित कर्मोंके सोचने और करनेमें प्रवृत्त रहता है, जो उसके चरम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल और उसमें सहायक होते हैं। वह दूसरेके सुहावने और मान-बड़ाईवाले कर्मोंकी ओर लोलुपदृष्टिसे कभी नहीं देखता। चुपचाप स्वाभाविक ही अपने कर्तव्य कर्मको करता चला जाता है। वह यह नहीं देखता कि अमुक कर्म छोटा है, अमुक बड़ा है; क्योंकि वह इस बातको जानता है कि कर्मोंका स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है, उसमें हेतु है अन्तःकरणका भाव। भावसे ही मनुष्यका उत्थान और पतन होता है। इसीलिये वह दूसरेकी देखा-देखी किसी भी ऐसे ऊँचे-से-ऊँचे कर्मको भी करना नहीं चाहता, जो उसके लिये विहित नहीं है। वह यह नहीं देखता कि मेरे कर्ममें अमुक दोष है, दूसरेका अमुक कर्म सर्वथा निर्दोष है। वह समझता है कि दूसरेके गुणयुक्त उत्तम धर्मकी अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म ही अपने लिये श्रेष्ठ और आचरण करने योग्य है। स्वधर्मके पालनसे मनुष्यको पाप नहीं लगता (देखो गीता १८।४७)। आजकल इस निष्काम कर्मके रहस्यको न समझकर ही लोग सबको एकाकार करनेकी व्यर्थ चेष्टामें लगे हुए हैं।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(गीता १८। ४८)

'हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं।'

जो मनुष्य जिस वर्णमें उत्पन्न हुआ है उसके स्वाभाविक कर्म ही उसका स्वधर्म है, भारतवर्षकी सुव्यवस्थित वर्णव्यवस्था इसका परम आदर्श है। जो लोग इस वर्णव्यवस्थाको तोड़नेका प्रयत्न करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं, जगत्‌में भेद तो कभी मिट नहीं सकता, व्यवस्थामें विशृङ्खलता अवश्य ही हो सकती है जो और भी दुःखदायिनी होती है। जिस जाति या समुदायमें मनुष्य उत्पन्न होता है, जिन माता-पिताके रज-वीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर अपने कर्तव्यको समझनेकी बुद्धि आनेतक जिन संस्कारोंमें उसका पालन-पोषण होता है, प्रायः उन्हींके अनुकूल कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और उत्साह होता है। इसलिये वही उसका स्वभाव या प्रकृति समझी जाती है। और इस स्वभाव या प्रकृतिके अनुकूल विहित कर्मोंको ही गीतामें स्वधर्म, सहजकर्म, स्वकर्म, नियतकर्म स्वभावजकर्म और स्वभावनियत कर्म आदि नामोंसे कहा है। साधक पुरुषका जन्म यदि व्यवस्थित वर्णयुक्त समाजमें हुआ हो तो उसे अपना सहजकर्म समझ लेनेमें बड़ी सुगमता है, ऐसा न होनेपर उपर्युक्त हेतुओंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वधर्म निश्चित कर लेना चाहिये।

बस, इसी स्वधर्मके अनुसार आसक्ति और स्वार्थरहित होकर अखिल जगत्‌में परमात्माको व्यापक समझकर सबकी सेवा करनेके भावसे अपना-अपना कर्तव्यकर्म मनुष्यको करना चाहिये ।

एक वैश्य है, दूकानदारी करता है, व्यवसाय उसका कर्तव्यकर्म है । परंतु वह कर्तव्यकर्म निष्काम कर्मयोगकी श्रेणीमें तभी जा सकता है जब कि वह स्वार्थबुद्धिसे न होकर केवल परमात्माकी सेवाके निर्मल भावसे हो । दूकानदारी छोड़कर जंगलमें जानेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है मनके भावोंको बदलनेकी । स्वार्थ और कामनाका कलङ्क धो डालनेकी । जिस दिन सांसारिक स्वार्थकी जगह मनमें परमात्माको स्थान मिल जाता है उसी दिन उसके वे कर्म, जो बन्धनके कारण थे, स्वरूपसे वैसे ही बने रहकर भी परमात्माकी प्राप्तिके कारण बन जाते हैं ।

पारा और संखिया अमृतका-सा काम दे सकता है, यदि वह चतुर वैद्यके द्वारा शोधकर शुद्ध कर लिया जाय । जिस पारे या संखिये-के प्रयोगसे मनुष्यकी मृत्यु होती है वही पारा या संखिया विषभागके निकल जानेपर अमृत बन जाता है । इसी प्रकार जहाँतक कर्मोंमें स्वार्थ और आसक्ति है वहींतक उनसे बन्धन या मृत्यु प्राप्त होती है, जिस दिन स्वार्थ और आसक्ति निकालकर कर्मोंकी शुद्धि कर ली जाती है, उसी दिन वे अमृत बनकर मनुष्यको परमात्माका अमर पद प्रदान करनेमें कारण बन जाते हैं । इसीलिये किसी भी कर्तव्यकर्मके त्यागकी आव-श्यकता नहीं है, आवश्यकता है बुद्धिको शुद्ध करनेकी । एक मनुष्य सकामभावसे यज्ञ, दान, तप करता है और दूसरा एक मनुष्य केवल

अपने वर्णका कर्म शिक्षा, युद्ध, व्यापार या सेवा करता है; परंतु करता है सबमें परमात्माको व्यापक समझकर, सबको सुख पहुँचाने और सबकी सेवा करनेके पवित्र भावसे तो वह उस केवल यज्ञ, दान, तप करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि उसके कामना न होनेके कारण सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रहता है और निरन्तर परमात्माकी भावना तथा परमात्माकी आज्ञाका ध्यान रहनेसे लोभ और आसक्ति भी पास नहीं आ सकते। लोभ और आसक्तिके अभावसे उसके द्वारा पाप या निषिद्ध कर्मोंका होना तो सम्भव ही नहीं होता।

यहाँ मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञ, दान, तप नहीं करने चाहिये या ये क्षुद्र साधन हैं। ये तो सर्वथा ही उत्तम हैं और अन्तः-करणकी शुद्धिमें तथा परमात्माकी प्राप्तिमें बड़े सहायक हैं, परंतु ऐसा होता है उनका प्रयोग निष्कामभावसे करनेपर ही। अतएव यहाँ जो कुछ लिखा गया है वह केवल निष्काम कर्मयोगकी सच्ची महिमा बतलानेके लिये ही।

उपर्युक्त विवेचनसे यह भी सिद्ध हो गया कि निष्काम कर्मयोगी-से जान-बूझकर तो पाप नहीं बन सकते; परंतु यदि कहीं भूल, स्वभाव, अज्ञान या भ्रमसे कोई पाप बन भी जाता है तो वह उसके लागू नहीं होता; क्योंकि उसका उस कर्ममें कोई स्वार्थ नहीं है। स्वार्थरहित कर्मोंका अनुष्ठान कर्ताको बाँध नहीं सकता (देखो गीता ४। १४; ५। १०)। पक्षान्तरमें उसका प्रत्येक कार्य भगव-दर्पण होनेके कारण वह परमात्माका सर्वथा कृपापात्र बन जाता है।

राजाके अनेक कर्मचारी होते हैं, सबको योग्यतानुसार वेतन मिलता है और सभीपर राजाके किसी-न-किसी कामकी जिम्मेवारी रहती है। परंतु प्रत्येक वैतनिक कर्मचारी राजनियमोंसे बँधा हुआ रहता है, यदि भूल या अज्ञानसे भी किसी नियमको कोई कर्मचारी भङ्ग कर देता है तो उसे नियमानुसार दण्डका भागी होना पड़ता है। पर एक ऐसा मनुष्य जो किसी समय किसी प्रकारसे भी राज्य या राजासे कुछ भी स्वार्थ सिद्ध न कर केवल अहैतुकी राजभक्तिके कारण राजसेवा करता है, उसकी निःस्वार्थ सेवापर राजा मुग्ध रहता है। उसके द्वारा यदि समयपर कोई अज्ञानसे भूल हो जाती है तब भी राजा उससे नाराज नहीं होता। राजा समझता है कि यह तो राज्यका निःस्वार्थ सेवक है, ऐसा सेवक यदि भूलके लिये दण्ड चाहता है तो राजा कहता है, 'भाई ! हम तो तुम्हारे उपकारोंसे ही अत्यन्त दबे हुए हैं, तुम्हारी एक भूलका तुम्हें क्या दण्ड दें।' इतना ही नहीं बल्कि राजा उसके उपकारोंसे अपनेको उसका ऋणी समझकर सब तरहसे उसका हित ही करना चाहता है। इसी प्रकार जो परमात्माका निःस्वार्थ सेवक है, जो अपने प्रत्येक कर्मका समर्पण उस परमात्माकी प्रीतिके लिये उसीके चरणोंमें कर देता है, उससे यदि कोई भूल होती है तो उसपर अकारण सुहृद् परमात्मा कोई ध्यान नहीं देते। यह अनियम नहीं है; किंतु स्वार्थरहित सेवकके लिये यही नियम है।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता हुआ साधक शेषमें परमात्माको प्राप्त हो जाता है; परंतु ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्तके द्वारा भी लोकशिक्षाके लिये राजा

जनकादिकी भाँति आजीवन कर्म हो सकते हैं (देखो गीता ३।२०)। यद्यपि उनके लिये कोई कर्म शेष रह नहीं जाते (गीता ३।१७); परंतु जहाँतक मन और इन्द्रियाँ सचेत रहती हैं वहाँतक उनके लिये कर्म त्याग करनेमें कोई हेतु नहीं देखा जाता। किंतु कर्मयोगकी सिद्धिको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होते हैं (देखो गीता २।५५—५८; १२।१३—१९)।

ऐसे भगवान्‌को प्राप्त हुए महापुरुषके कर्म गीता तृतीय अध्यायके २५ वें श्लोकके अनुसार केवल लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं और वे कर्म कामना और संकल्पसे शून्य होनेके कारण स्वरूपसे होते हुए भी वास्तवमें कर्म नहीं समझे जाते (देखो गीता ४।१९-२०)।

इस प्रकार निष्काम कर्मयोगका साधक परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर देनेके कारण अन्तमें परमात्माके प्रसादसे परमात्माको पा जाता है। जिस कर्ममें आदिसे लेकर अन्ततक परमात्माका इतना नित्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध है वह कर्म भक्तिरहित कभी नहीं हो सकता। अतएव गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है।

—तथा—

'फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌के आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्वबुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका करना ही उसका स्वरूप है।'

भगवान्‌के लिये काम कैसे किया जाय ?

प्र०—प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌का काम समझकर भगवान्‌को याद रखते हुए किसीसे भी राग-द्वेष न करके अपने कर्तव्यका पालन किस प्रकार किया जा सकता है ?

उ०—सब कुछ परमेश्वरका ही है, परमेश्वर खेल कर रहे हैं, परमेश्वर बाजीगर हैं, मैं उनका झमूरा हूँ, यों समझकर सब कुछ ईश्वरकी लीला समझते हुए, परमेश्वरके आज्ञानुसार आसक्ति और फलकी इच्छा छोड़कर, परमेश्वरकी सेवाके लिये उन्हींकी प्रेरणा तथा शक्तिसे प्रेरित होकर कार्य करता रहे। यह समझकर बार-बार गद्गद होता रहे कि अहा ! मुझपर परमेश्वरकी कितनी अपार दया है कि मुझ-जैसे तुच्छको साथ लेकर भगवान् अपनी लीला कर रहे हैं। भगवान्‌के प्रेम, दया, प्रभाव, स्वरूप और रहस्यपर बारंबार विचार करता हुआ मुग्ध होता रहे।

(प्रेम) भगवान्‌के समान कोई प्रेमी नहीं है, वे प्रेमका इतना महत्त्व जानते हैं कि असंख्य ब्रह्माण्डके महेश्वर होते हुए भी अपनेको प्रेमीके हाथ बेच डालते हैं।

(दया) मैं कैसा नीच हूँ, कैसा निकृष्ट और महापामर हूँ, परंतु उस परम प्रभुकी मुझपर कितनी अपार दया है

कि वे मुझको साथ लेकर लीला कर रहे हैं। प्रभुने सब पाप-तापोंसे बचाकर मुझे ऐसा बना लिया है।

(प्रभाव) प्रभुके प्रभावका कौन वर्णन कर सकता है, वे चाहें तो करोड़ों ब्रह्माण्डोंको एक पलमें उत्पन्न, पालन और संहार कर सकते हैं।

(स्वरूप) सारे संसारका सौन्दर्य प्रभुके एक रोमके समान भी नहीं है। वे आनन्दमूर्ति हैं। उनका दर्शन परम सुखमय है। वे चेतनमय हैं। जैसे तारके द्वारा बिजली अनेक प्रकारसे कार्य कर रही है, वैसे ही प्रभुकी शक्ति सब कुछ कर रही है, वे विज्ञानानन्दघन परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं। वही नित्य विज्ञानानन्दघन प्रभु श्रीराम-कृष्ण आदिके रूपमें अवतार लेते हैं।

(रहस्य) उनका रहस्य कौन जान सकता है? वे सबमें समाये हैं, परंतु कोई उन्हें नहीं पकड़ पाता। मर्मका नाम ही रहस्य है। भगवान् श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए, उस रूपमें बहुत लोगोंने उन्हें भगवान् नहीं समझा। कोई ग्वालबालक समझता था तो कोई वसुदेव-पुत्र। जो महात्मा पुरुष उनको भगवान्‌के रूपमें जान गये, उन्हींपर उनका रहस्य प्रकट हुआ। प्रभुके रहस्यको जान लेनेपर चिन्ता, दुःख और शोकका तो कहीं नाम-निशान ही नहीं रहता। प्रभु सब जगह विराजमान हैं, इस रहस्यको जानना चाहिये।

अर्जुन भगवान्‌के रहस्यको कुछ जानते थे और उनसे रथ हँकवाते थे; परंतु वे भी भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर भय और हर्षके मिश्रित भावोंमें डूब गये। तब भगवान्‌ने कहा—'भय मत कर !' जबतक अर्जुनको भय हुआ तबतक उन्होंने भगवान्‌के पूरे रहस्यको नहीं समझा। पहचानना तो वस्तुतः यथार्थमें प्रह्लादका था, जो भगवान् नृसिंहदेवको विकरालरूपमें देखकर भी बेधड़क उनके पास चले गये। प्रह्लादको किञ्चित् भी भय नहीं हुआ। इसी प्रकार परमात्माके रहस्यको जाननेवाला सर्वदा सर्वत्र निर्भय हो जाता है।

प्र०—जीवमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह प्रभुके रहस्यको जान सके। जब प्रभु जनाते हैं तभी जान सकता है। प्रह्लादको प्रभुने जनाया तभी तो वे भगवान्‌को जान सके। वे हमलोगों-को अपना रहस्य किस उपायसे जना सकते हैं ?

उ०—इसके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये। वे कृपा करके जना सकते हैं। परंतु यह नियम है कि पात्र होनेंसे ही प्रभु अपनेको जनाते हैं; इसलिये भगवान्‌की दयापर दृढ़ विश्वास करना चाहिये। भक्तशिरोमणि भरतजीने भी कहा था—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

(राम० उत्तर० दो० १ के पूर्व)

ऐसा दृढ़ भरोसा रखनेवालेकी प्रभु सम्हाल करते हैं। अतएव प्रभुसे सच्चे दिलसे ऐसी कातर प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ! मैं अति नीच हूँ, किसी प्रकार भी पात्र नहीं हूँ। गोपियोंकी भाँति जिसमें प्रेमका बल है, उसके हाथ तो आप स्वयं ही बिक जाते हैं। हे प्रभो! मेरे पास प्रेमका बल होता तो फिर रोने और प्रार्थना करनेकी क्या जरूरत थी। मैं जब अपने पापों और अवगुणोंकी तथा बलकी ओर देखता हूँ तो मनमें कायरता और निराशा छा जाती है; परंतु हे नाथ! आपकी दया तो अपार है, आप दया-सिन्धु हैं, पतितपावन हैं, मुझे वह बल दीजिये जिससे मैं आपके रहस्यको जान जाऊँ।'

सारे कामोंको प्रभुका काम समझना चाहिये। हम लीला-मयके साथ काम कर रहे हैं। इससे प्रभुकी इच्छाके अनुसार ही चलना चाहिये। यदि आसक्ति या स्वभावदोषके कारण उनकी आज्ञाका कहीं उल्लङ्घन हो जाय तो पुनः वैसा न होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

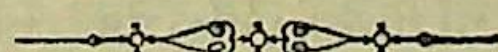
अपनी समझसे कोई अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये। हमलोग किसीकी भलाईके लिये कोई कार्य कर रहे हैं और कदाचित् दैव-इच्छासे उसकी कोई हानि हो जाय तो उसमें चिन्ता या पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये। हमको अपने कृत्यकी भूलके लिये ही पश्चात्ताप करना उचित है।

हमको सूचना मिली कि यहाँ बहुत जल्दी बाढ़ आनेवाली है, हट जाना चाहिये। इस बातको जानकर भी हम नहीं हटे और हमारा सब कुछ बह गया तो हमें पश्चात्ताप करना चाहिये।

क्योंकि भगवान्‌ने हमको सचेत कर दिया था और हमने उसको माननेमें अवहेलना की । परंतु यदि अचानक बाढ़ आकर सब डूब जाय तो चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहाँ हमारी भूल नहीं हुई है ।

एक जगह बाढ़ आयी, बीज बह गये । हमलोगोंने बोनेके लिये किसानोंको बीज दिये, फिर बाढ़ आयी और वे बीज भी बह गये । इसपर हमलोगोंको न तो शोक करना चाहिये और न यह विचार करना चाहिये कि बीज तो बह ही रहे हैं, व्यर्थ देकर क्यों नष्ट करें । हमलोगोंको तो स्वामीकी यही आज्ञा है कि बीज जहाँतक बने, उन्हें देते रहो । अतः हमको तो प्रभुके आज्ञानुसार ही करना चाहिये । उसमें कोई कसर नहीं रखनी चाहिये । प्रभु अपने इच्छानुसार करें । सेवकको तो प्रभुका काम करके हर्षित होना चाहिये और मुस्तैदीसे अपने कर्तव्य-पथपर डटे रहना चाहिये ।

रोगी कुपथ्य कर ही लिया करते हैं । इसमें अपना क्या वश है । कुपथ्य करनेपर सद्वैद्य रोगीको धमका तो देता है परंतु नाराज नहीं होता । वह समझता है कि मेरी पाँच बातोंमेंसे तीन तो इसने मान ली । दोके लिये फिर चेष्टा करेंगे । वैद्य बारंबार चेष्टा करता है, जिससे वह कुपथ्य न करे; परन्तु चेष्टा करनेपर भी उसका हित न हो तो वैद्यको उकतानेकी जरूरत नहीं है । न क्रोध ही करनेकी आवश्यकता है । फलको भगवान्‌की इच्छापर छोड़ देना चाहिये और बिना उकताये प्रभुकी लीलामें उनके इच्छानुसार लगे रहना चाहिये ।



व्यापारसुधारकी आवश्यकता

भारतवर्षके व्यापार और व्यापारियोंकी आज बहुत बुरी दशा है। व्यापारकी दुरवस्थामें विदेशी शासन भी एक बड़ा कारण था; परंतु प्रधान कारण व्यापारी-समुदायका नैतिक पतन है। व्यापारकी उन्नतिके असली रहस्यको भूलकर लोगोंने व्यापारमें झूठ, कपट, छलको स्थान देकर उसे बहुत ही घृणित बना डाला है। लोभकी अत्यन्त बढ़ी हुई प्रवृत्तिने किसी भी तरह धन कमानेकी चेष्टाको ही व्यापारके नामसे स्वीकार कर लिया है। बहुतसे भाई तो व्यापारमें झूठ, कपटका रहना आवश्यक और स्वाभाविक मानने लगे हैं और वे ऐसा भी कहते हैं कि व्यापारमें झूठ, कपट बिना काम नहीं चलता। परंतु वास्तवमें यह बड़ा भारी भ्रम है। झूठ, कपटसे व्यापारमें आर्थिक लाभ होना तो बहुत दूरकी बात है; परंतु उल्टी हानि होती है। धर्मकी हानि तो स्पष्ट ही है। आजकल व्यापारी जगत्‌में अंगरेज जातिका विश्वास औरोंकी अपेक्षा बहुत बढ़ा हुआ है। व्यापारीलोग अंगरेजोंके साथ व्यापार करनेमें उतना डर नहीं मानते जितना उन्हें अपने भाइयोंके साथ करनेमें लगता है। यह देखा गया है कि गल्ला, तिलहन वगैरह अंगरेजोंको दो आना नीचे भावमें भी लोग बेच देते हैं। आमदनी मालके लेन-देनका सौदा करनेमें भी पहले

अंगरेजोंको देखते हैं, इसका कारण यही है कि उनमें सचाई अधिक है। इसीसे उनपर लोगोंका विश्वास अधिक है। इस कथनका यह अभिप्राय नहीं है कि अंगरेज सभी सच्चे और भारतवासीमात्र सच्चे नहीं हैं। यहाँ मतलब यह है कि व्यापारी कार्योंमें हमारी अपेक्षा उनमें सत्यका व्यवहार कहीं अधिक है। वह भी किसी धर्मके खयालसे नहीं; किंतु व्यापारमें उन्नति होने और झूठे झंझटोंसे बचनेके खयालसे है।

सच्चाईके व्यवहारके कारण जिन अंगरेज और भारतीय फर्मोंपर लोगोंका विश्वास है, उनका माल कुछ ऊँचे दाम देकर भी लोग लेनेमें नहीं हिचकते। बराबरके भावमें तो खुशामद करके उनके साथ काम करना चाहते हैं।

व्यापारमें प्रधानतः क्रय-विक्रय होता है। क्रय-विक्रयके कई साधन हैं, कोई चीज तौलपर ली-दी जाती है, कोई नापपर, तो कोई गिनतीपर। नमूना देखना-दिखलाना भी एक साधन होता है। जो दूसरेके लिये या दूसरोंका माल खरीदते-बेचते हैं, वे आढ़तिया कहलाते हैं और जो दूसरोंसे दूसरोंको ठीक भावमें किसीका पक्ष न कर उचित दलालीपर माल दिला देते हैं, वे दलाल कहलाते हैं। इन्हीं सब तरीकोंसे व्यापार होता है। वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम देना या अधिक लेना, चीज बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) चीज मिलाकर दे देना या धोखा देकर अच्छी ले लेना, नमूना दिखाकर उसको घटिया चीज देना और धोखेसे बढ़िया लेना, नफा, आढ़त (कमीशन), दलाली ठहराकर उससे अधिक लेना या धोखेसे कम देना, दलाली या आढ़तके लिये झूठी बातें समझा देना अथवा झूठ, कपट, चोरी, जबरदस्ती या अन्य किसी

प्रकारसे दूसरेका हक मार लेना—ये सब व्यापारके दोष हैं। आजकल व्यापारमें ये दोष बहुत ज्यादा आ गये हैं। किसी भी दोषका कोई भी खयाल न कर किसी तरह भी धन पैदा कर लेनेवाला ही आजकल समझदार और चतुर समझा जाता है। समाजमें उसीकी प्रतिष्ठा होती है। धनकी कमाईके सामने उसकी सारी चोरियाँ घरवाले और समाज सह लेता है। इसीसे चोरी और झूठ-कपटकी प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ रही है। व्यापारमें झूठ, कपट नहीं करना चाहिये या इसके बिना किये भी धन पैदा हो सकता है—ऐसी धारणा ही प्रायः लोप हो चली है। इसीसे जिस तरफ देखा जाता है उसी तरफ पोल नजर आती है।

अधिकांश भारतीय मिलोंके साथ काम करनेमें व्यापारियोंको यह डर बना ही रहता है कि तेज बाजारमें हमें या तो नमूनेके अनुसार क्वालिटीका माल नहीं मिलेगा या ठीक समयपर नहीं मिलेगा। कपड़ेकी मिलोंमें जिस तरहकी कार्यवाहियाँ होती सुनी गयी हैं वे यदि वास्तवमें सत्य हैं तो हमारे व्यापारमें बड़ा धक्का पहुँचानेवाली हैं। रूई खरीदनेमें मैनेजिङ्ग एजेंट लोग बड़ी गड़बड़ किया करते हैं!

रूईके बाजारमें घटबढ़ बहुत रहती है। रूईका सौदा करनेपर भाव बढ़ जाता है तो एजेंट रूई अपने खाते रख लेते हैं और यदि भाव घट जाता है तो अपने लिये अलग खरीदी हुई रूई भी मौका लगनेपर मिल-खाते नोंध देते हैं। वजन बढ़ानेके लिये कपड़ोंमें माड़ी लगानेमें तो अहमदाबाद मशहूर है। रूईका भाव बढ़ जानेपर सूतमें भी कमी कर दी जाती है। अनेक तरहके बहाने बताकर कंट्राक्टका माल भी समयपर नहीं दिया जाता। प्रायः लंबाई-चौड़ाईमें भी

गोलमाल कर दी जाती है । सूतमें वजन भी कम दे दिया जाता है, इन्हीं कारणोंसे बहुत-सी मिलोंकी साख नहीं जमती । पक्षान्तरमें विलायती वस्त्र-व्यवसाय भारतके लिये महान् घातक होनेपर भी कंट्राक्टोंकी शर्तोंके पालनमें अधिक उदारता और सच्चाई रहनेके कारण बहुत-से व्यापारी उस कामको छोड़ना नहीं चाहते । यहाँके मालके दाम ज्यादा रहनेका एक कारण अत्यधिक लोभकी मात्रा ही है ।

अनाज आदि खानेकी चीजोंमें दूसरे घटिया अनाज मिलाये जाते हैं—मिट्टी मिलायी जाती है । जीरा, धनिया आदि किरानेकी और सरसों, तिल आदि तिलहन चीजोंमें भी दूसरी चीज या मिट्टी मिलायी जाती है । किसान तो मामूली मिट्टी मिलाते हैं; परंतु व्यापारी लोग भी उसी रंगकी मिट्टी खरीदकर मिलाया करते हैं । वजन ज्यादा करनेके लिये बरसातमें माल गीली जगहमें रखते हैं जिससे कहीं-कहीं माल सड़ जाता है, खानेवाले चाहे बीमार हो जायँ, पर व्यापारियोंके घरोंमें पैसे अधिक आने चाहिये । गल्ला आदि जहाँ रखा जाता है वहाँ पहलेसे ही घटिया माल तो नीचे या कोनोंमें रखते हैं और बढ़िया माल सामने नमूना दिखानेकी जगह रक्खा जाता है, वजनमें भी बुरा हाल है । लेन-देनके बाट भी दो प्रकारके होते हैं ।

पाटके व्यापारमें भी चोरियोंकी कमी नहीं । वजन बढ़ानेके लिये पानी मिलाया जाता है । मिलोंमें माल पास करानेवाले बाबुओंको कुछ दे-दिलाकर बढ़ियाके कंट्राक्टमें घटिया माल दे दिया जाता है । वजनमें चोरी होती ही है । इसी तरह रूईमें पानी तथा धूल मिलायी जाती है । पाटकी तरह इनकी गाँठोंके अंदर भी खराब माल छिपाकर दे दिया जाता है ।

सभी चीजोंमें किसानोंसे माल खरीदते समय दामोंमें, वजनमें, घटियाके बदले बढ़िया लेनेमें धोखा देकर लूटनेकी चेष्टा रहती है और बेचते समय ठीक इससे उल्टा व्यवहार करनेकी कोशिश होती है।

खाद्य पदार्थोंमें भी शुद्ध घी, तैल या आटातक मिलना कठिन हो गया है। ऐसा कोई काम नहीं जो आजकल व्यापारी लोभवश न करते हों, घीमें चरबी, तैल, विलायती घी (वेजिटेबल) और मिट्टीका तैल मिलाया जाता है। तैलमें भी बड़ी मिलावट होती है। सरसोंके साथ तीसी, रेड़ी तो मिलाते ही हैं; परंतु बड़ी-बड़ी मिलोंमें कुसुमके बीज भी मिलाये जाते हैं; जिसके तैलसे बदहजमी, हैजा, संग्रहणी आदि बीमारियाँ फैलती हैं। मनुष्य दुःख पाते हैं, मर जाते हैं; परंतु लोभियोंको इस बातकी कोई परवा नहीं। इसी तैलकी खली गायोंको खिलायी जाती है, जिससे उनके अनेक प्रकारकी बीमारियाँ हो जाती हैं। गोभक्त और गोसेवक कहानेवाले लोगोंकी भी यह गंदी करतूत है। ऐसी मिलोंमें जब जाँचके लिये सरकारी अफसर आते हैं तो उन्हें धोखा देकर या उनकी कुछ भेंट-पूजा करके पिण्ड छुड़ा लिया जाता है। साइनबोर्डोंपर 'जलानेका तैल' लिखकर भी दण्डसे बचनेकी चेष्टा की जाती है।

नारियल, तिल, सरसों आदिके तैलोंमें कई तरहके विलायती किरासिन तैल मिलाये जाते हैं जो पेटमें जाकर भाँति-भाँतिकी बीमारियाँ पैदा करते हैं।

आजकल देशमें जो अधिक बीमारी फैल रही है, घर-घरमें रोगी दीख पड़ते हैं—इसका एक प्रधान कारण व्यापारियोंका लोभवश खाद्य पदार्थोंमें अखाद्य चीजोंका मिला देना भी है।

कपड़ेके व्यापारमें भी बड़े-छोटे सभी स्थानोंमें प्रायः चोरी होती है। बम्बई, कलकत्ते आदि बड़े शहरोंके बड़े दूकानदारोंकी बड़ी चोरियाँ होती हैं। देहातके दूकानदार भी किसी तरह कमी नहीं करते। जहाँ अमुक नफेपर माल बेचनेका नियम है, वहाँ ग्राहकोंको ठगनेके लिये एक झूठा बीजक मँगा लेते हैं। हाथीके दाँत खानेके और, दिखानेके और।

सूतके देहाती व्यापारी भी सूतके बंडलोंमेंसे मुट्ठे निकालकर उसे ८ नंबरसे १६ नंबरतकका बना लेते हैं। इस बेईमानीके लिये कलकत्तेमें कई कारखाने बने हुए हैं जिनमें खरीदार जुलाहोंको धोखा देनेके लिये गोलमाल की जाती है। दूसरे बंडल बनाकर बेचनेमें जुलाहे ठगे जाते हैं, खर्च बढ़ जाता है और सूत उलझ जाता है।

कई जगह चीनीके ऐसे कारखाने हैं जिनमें विदेशी चीनीमें गुड़ मिलाकर उसका रंग बदल दिया जाता है और फिर वह बनारसी या देशीके नामसे बेची जाती है।

आढ़त, दलाली, कमीशनमें भी तरह-तरहकी चोरियाँ की जाती हैं। वास्तवमें आढ़तियेको चाहिये कि महाजनके साथ जो आढ़त ठहरा ले उससे एक पैसा भी छिपाकर अधिक लेना हराम समझे। महाजनको विश्वास दिलाया जाता है कि आढ़त ।।।) या ।।) सैकड़ा ली जायगी, परंतु छल-कपटसे जितना अधिक चढ़ाया जाय उतना ही चढ़ाते हैं। २), ४), ५) सैकड़ेतक वसूल करके भी संतोष नहीं होता। बोरा, बारदाना, मजदूरी आदिके बहानेसे महाजनसे छिपाकर या मालपर अधिक दाम रखकर दलाली या बट्टा वगैरह उसे न देकर, अथवा गुप्तरूपसे अपना माल बाजारसे खरीदा हुआ बताकर तरह-तरहसे महाजनको ठगना चाहते हैं।

कमीशनके काममें भी बड़ी चोरियाँ होती हैं। बाजार मंदा हो गया तो तेज भावमें बिके हुए मालकी बिक्री मंदेकी दे देते हैं। तेज हो गया तो किसी दूसरेसे मिलकर बिना बिके ही बहुत-सा माल खुद खरीदकर पहलेका बिका बताकर झूठी बिक्री भेज देते हैं। बँधे भावसे कम-ज्यादा भावसे भी माल बेचते हैं।

दलालीके काममें अपने थोड़े-से लोभके लिये 'गाहकका गला' कटा दिया जाता है। दलालका कर्तव्य है कि वह जिससे जिसको माल दिलवावे उन दोनोंका समान हित सोचे। अपने लोभके लिये दोनोंको उल्टी-सीधी पट्टी पढ़ाकर लेनेवालेको तेजी और बेचनेवालेको झूठ ही मंदीकी रूख बताकर काम करवा देना बड़ा अन्याय है। अपनी जो सच्ची राय हो वही देनी चाहिये। दोनों पक्षोंको अपनी स्पष्ट धारणा और बाजारकी स्थिति सच्ची समझानी चाहिये।

कहाँतक गिनाया जाय! व्यापारके नामपर चोरी, डकैती और ठगी सब कुछ होती है। न ईश्वरपर विश्वास है न प्रारब्धपर और न न्याय तथा सत्यपर ही। वास्तवमें व्यापारमें कुशलता भी नहीं है। कुशल व्यापारी सच्चा होता है, वह दूसरोंको धोखा देनेवाला नहीं होता। सच्चाईसे व्यापार कर वह सबका विश्वासपात्र बन जाता है, जितना विश्वास बढ़ता है उतना ही उसका झंझट कम होता है और व्यापारमें दिनोंदिन उन्नति होती है। मोल-मुलाई करनेवाले दूकानदारोंको ग्राहकोंसे बड़ी माथापच्ची करनी पड़ती है। विश्वास जम जानेपर सच्चे एक दाम बतानेवाले दूकानदारको माल बेचनेमें कुछ भी कठिनाई नहीं होती, ग्राहक चाहकर बिना दाम पूछे उसका माल खरीदते हैं, उन्हें वहाँ ठगे जानेका भय नहीं रहता। परंतु

आजकल तो दूकान खोलनेके समय प्रतिदिन लोग प्रायः भगवान्‌से प्रार्थना किया करते हैं—'शंकर ! भेज कोई हियेका अंधा और गठरीका पूरा' यानी भगवान् ऐसा ग्राहक भेजें जिसे हम ठग सकें, जो अपनी मूर्खतासे अपने गलेपर हमसे चुपचाप छुरी फिरवा ले। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई ग्राहक अपनी बुद्धिमानी और सावधानीसे तो भले ही बच जाय; परंतु दूकानदार तो उसपर हाथ साफ करनेको सब तरह सजा-सजाया तैयार है।

थोड़े-से जीवनके लिये ईश्वरपर अविश्वास करके पाप बटोरना बड़ी मूर्खता है। आमदनी तो उतनी ही होती है जितनी प्रारब्धसे होनी होती है, पाप जरूर पल्ले बँध जाता है। पापका पैसा ठहरता नहीं, इधर आता है उधर चला जाता है, बट्टाखाता जितना रहना होता है उतना ही रहता है। लोग अपने मनमें ही धन आता हुआ देखकर मोहित हो जाते हैं। पापसे धन पैदा होनेकी धारणा बड़ी ही भ्रम-मूलक है। इससे धन तो पैदा होता नहीं परंतु आत्माका पतन अवश्य होता है। लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। जो अन्यायसे धन कमाकर उसमेंसे थोड़ा-सा दान देकर धर्मात्मा बनना और कहलाना चाहते हैं वे बड़े भ्रममें हैं! भगवान्‌के यहाँ इतना अन्धेर नहीं है, वहाँ सबकी सच्ची परख होती है।

अतएव परमात्मापर विश्वास करके व्यापारमें झूठ-कपटको सर्वथा त्याग देना चाहिये। किसी भी चीजमें दूसरी कोई चीज कभी मिलानी नहीं चाहिये। वजनमें ज्यादा करनेके लिये रूई, पाट, गल्ले आदिमें पानी मिलाना या गीली जगहमें रखना नहीं चाहिये। खाद्य पदार्थोंमें मिलावट करके लोगोंके स्वास्थ्य और धर्मको कभी नहीं बिगाड़ना

चाहिये । वजन, नाप और गिनतीमें न तो कम देना चाहिये और न ज्यादा लेना चाहिये । नमूनेके अनुसार ही मालका लेन-देन करना अत्यन्त आवश्यक है ।

आढ़त ठहराकर किसी भी तरहसे महाजनकी एक पाई ज्यादा लेना बड़ा पाप है । इससे खूब बचना चाहिये । इसी प्रकार कमीशनके काममें भी धोखा देकर काम नहीं करना चाहिये । दलालको भी चाहिये कि वह सच्ची रुख बताकर लेने-बेचनेवालेको भ्रमसे बचाकर अपने हक और मेहनतका ही पैसा ले ।

हम जिसके साथ व्यवहार करें उसके साथ हमें वैसा ही बर्ताव करना चाहिये जैसा हम अपने साथ चाहते हैं । हम जैसा अपने हित और स्वार्थका खयाल रखते हैं उतना ही उसके हित और स्वार्थका भी खयाल रखना चाहिये । सबसे उत्तम तो वह है कि जो अपना स्वार्थ छोड़कर पराया हित सोचता है—दूसरेके स्वार्थके लिये अपने स्वार्थको त्याग देता है । व्यापार करनेवाला होनेपर भी ऐसा पुरुष वास्तवमें साधु (श्रेष्ठ) ही है ।

आजकल सट्टेकी प्रवृत्ति देशमें बहुत बढ़ गयी है । सट्टेसे धन, जीवन और धर्मको कितना धक्का पहुँच रहा है, इस बातपर देशके मनस्वियोंको विचारकर शीघ्र ही इसे रोकनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये । पहले यह सट्टा अधिकतर बम्बईमें ही था, और जगह कहीं-कहीं बरसातके समय बादलोंके सौदे हुआ करते थे, परंतु अब तो इसका विस्तार चारों ओर प्रायः सभी व्यापार-क्षेत्रोंमें हो गया है । कुछ वर्षों पूर्व व्यापारी लोग सट्टे-फाटकेसे घृणा करते और सट्टेबाजोंके पास बैठने और उनसे बातें करनेमें हिचकते थे । पर अब ऐसे व्यापारी

बहुत ही कम मिलते हैं जो सट्टा न करते हों। सट्टा उसे कहते हैं कि जिसमें प्रायः मालका लेन-देन न हो, सिर्फ समयपर घाटा-नफा दिया-लिया जाय। रूई, पाट, हेसियन, गल्ला, तिलहन, हुण्डी-शेयर और चाँदी आदि प्रायः सभी व्यापारी वस्तुओंका सट्टा होता है। सट्टेबाज न कमानेमें सुखी रहता है न खानेमें, उसका चित्त सदा ही अशान्त रहता है। सट्टेवालोंके खर्च अनाप-शनाप बढ़ जाते हैं। मेहनतकी कमाईसे चित्त उखड़ जाता है। ये लोग पल-पलमें लाखोंके सपने देखा करते हैं। झूठ-कपटको तो सट्टेका साथी ही समझना चाहिये। सट्टेवालोंकी सदियोंकी इज्जत-आबरू घंटोंमें बरबाद हो जाती है। सट्टेके कारण बड़े शहरोंमें प्रतिवर्ष एक-न-एक आत्महत्या या आत्महत्याके प्रयत्न सुननेमें आते हैं। आत्महत्याके विचार तो शायद कई बार कितनोंके ही मनमें उठते होंगे। सट्टेबाजोंको आत्माका सुख मिलना तो बहुत दूरकी बात है, वे बेचारे गृहस्थके सुखसे भी वञ्चित रहते हैं। कई लोगोंका चित्त तो सट्टेमें इतना तल्लीन रहता है कि उन्हें भूख, प्यास और नींदतकका पता नहीं रहता। बीमार पड़ जाते हैं, बेचैनीसे कहीं लुढ़क पड़ते हैं और नींदमें उन्हें प्रायः सपने सट्टेके ही आते हैं। धर्म, देश, माता, पिता आदिकी सेवा तो हो ही कहाँसे, अपने स्त्री-बच्चोंकी भी पूरी सार-सम्हाल नहीं होती; घरमें बच्चा बीमारीसे सिसक रहा है, सहधर्मिणी रोगसे व्याकुल है, सट्टेबाज विलायतके तारका पता लगानेके लिये बाड़ोंमें भटक रहे हैं। एक सज्जनने यह आँखों देखी दशा वर्णन की थी। खेद है कि इस सट्टेको भी लोग व्यापारके नामसे पुकारते हैं जिसमें न घरका पता है, न संसारका और न शरीरका। मेरी समझसे यदि इतनी तल्लीनता थोड़े समयके लिये भी परमात्मामें हो जाय तो उससे परमार्थके मार्गमें अकथनीय उन्नति हो

सकती है। इस सट्टेकी प्रवृत्तिसे मजूरीके काम नष्ट हो रहे हैं। कलाका नाश हो रहा है। इस अवस्थामें यथासाध्य इसका प्रचार रोकना चाहिये।

इस सट्टेके सिवा एक जुआ घुड़दौड़का होता है, जिसमें बड़े-बड़े धनी-मानी लोग जा-जाकर बड़े चावसे दाँव लगाया करते हैं। मनु महाराजने जीवोंके जुएको सबसे बड़ा पापकारी जुआ बतलाया है। अतएव सट्टा, जुआ सब तरहसे त्याग करने योग्य है। यदि कोई भाई लोभवश या दोष समझकर भी आत्माकी कमजोरीसे सर्वथा त्याग न कर सकें तो कम-से-कम घुड़दौड़में बाजी लगाना तो बिल्कुल ही बंद कर दें और सट्टेमें बिना हुई चीज माथे कर-कर बेचनेका काम कभी न करें। बिना हुए माथे कर-कर बेचनेवालेका माल वास्तवमें किसीको लेना नहीं चाहिये, इससे बड़ी भारी हानि होती है। जो सट्टेकी हानि समझकर भी उसका त्याग नहीं करता वह खुद अपनी हिंसाका साधन तो करता ही है पर दूसरोंको भी यथेष्ट नुकसान पहुँचाता है। जो लोग 'खेला' (कार्नर) वगैरह करके मालके दाम बेहद चढ़ा देते हैं वे बड़ा पाप करते हैं, अतएव खेला करनेवालेमें कभी शामिल नहीं होना चाहिये, उसमें गरीबोंकी आह और उनका बड़ा शाप सहन करना पड़ता है।

कुछ ऐसे व्यापार होते हैं जिनमें बड़ी हिंसा होती है—जैसे लाख, रेशम और चमड़ा आदि।

लाख कीड़ोंसे उत्पन्न होती है। वृक्षोंसे लाख गोंद-जैसे टुकड़े उतारे जाते हैं, उनमें दो प्रकारके जीव रहते हैं। एक तो बहुत बारीक रहते हैं जो बरसातमें गरमीसे जहाँ लाख पड़ी होती है वहाँ

निकल-निकलकर दीवालोंपर चढ़ जाते हैं, दीवाल उन कीड़ोंसे लाल हो जाती है। दूसरे जीव लंबे कीड़े-जैसे होते हैं, ये लाखके बीज समझे जाते हैं, इन असंख्य जीवोंकी बुरी तरह हिंसा होती है। प्रथम तो लाखके धोनेमें ही असंख्य जीव मर जाते हैं फिर थैलियोंमें भरकर जलती हुई भट्ठीमें उसे तपाया जाता है। जिससे चपड़ा बनता है, जानवरोंके खूनका लखवटिया बनता है। जिस समय उसको तपाते हैं उस समय उसमें चटाचट शब्द होता है! चारों ओर दुर्गन्ध फैली रहती है, पानी खराब हो जाता है जिससे बीमारियाँ फैलती हैं। इस व्यवहारको करनेवाले अधिकांश वैश्य भाई ही हैं।*

इसी प्रकार रेशमके बननेमें भी बड़ी हिंसा होती है। रेशम-सहित कीड़े उबलते जलमें डाल दिये जाते हैं, वे सब बेचारे उसमें झुलस जाते हैं, पीछे उनपर लिपटा हुआ रेशम निकाल लिया जाता है।

चमड़ेके लिये भारतवर्षमें कितनी गो-हत्या होती है यह बतलाना नहीं होगा। अतएव लाख, रेशम और चमड़ेका व्यापार और व्यवहार प्रत्येक धर्मप्रेमी सज्जनको त्याग देना चाहिये।

कुछ लोग केवल व्याजका पेशा करते हैं। यद्यपि व्याजका पेशा निषिद्ध नहीं है; परंतु व्यापारके साथ ही रुपयेका व्याज उपजाना

---

* बड़े खेदकी बात है कि मारवाड़ी समाजमें इसी लाखकी चूड़ियाँ सोहागका चिह्न समझकर स्त्रियाँ पहनती हैं, ये चूड़ियाँ मुसल्मान लखारे बनाते हैं। मुँहमाँगे दाम लेते हैं। जिस लाखमें इतनी हिंसा होती है, जो इतनी अपवित्र है उसकी चूड़ियोंका तुरंत त्याग कर देना चाहिये। इसीलिये इसके बदलेमें काँचकी चूड़ियोंके प्रचारकी कोशिश हो रही है, कलकत्तेमें गोविन्द-भवन-कार्यालय, नं० ३०, बाँसतल्ला गलीको पत्र लिखनेसे काँचकी सुन्दर सस्ती मजबूत ठीक लाखकी-सी पात लगी हुई चूड़ियाँ मिल सकती हैं। प्रत्येक धर्मप्रेमीको उनके प्रचारमें सहायता करनी चाहिये। —सम्पादक

सकती है। इस सट्टेकी प्रवृत्तिसे मजूरीके काम नष्ट हो रहे हैं। कलाका नाश हो रहा है। इस अवस्थामें यथासाध्य इसका प्रचार रोकना चाहिये।

इस सट्टेके सिवा एक जुआ घुड़दौड़का होता है, जिसमें बड़े-बड़े धनी-मानी लोग जा-जाकर बड़े चावसे दाँव लगाया करते हैं। मनु महाराजने जीवोंके जुएको सबसे बड़ा पापकारी जुआ बतलाया है। अतएव सट्टा, जुआ सब तरहसे त्याग करने योग्य है। यदि कोई भाई लोभवश या दोष समझकर भी आत्माकी कमजोरीसे सर्वथा त्याग न कर सकें तो कम-से-कम घुड़दौड़में बाजी लगाना तो बिल्कुल ही बंद कर दें और सट्टेमें बिना हुई चीज माथे कर-कर बेचनेका काम कभी न करें। बिना हुए माथे कर-कर बेचनेवालेका माल वास्तवमें किसीको लेना नहीं चाहिये, इससे बड़ी भारी हानि होती है। जो सट्टेकी हानि समझकर भी उसका त्याग नहीं करता वह खुद अपनी हिंसाका साधन तो करता ही है पर दूसरोंको भी यथेष्ट नुकसान पहुँचाता है। जो लोग 'खेला' (कार्नर) वगैरह करके मालके दाम बेहद चढ़ा देते हैं वे बड़ा पाप करते हैं, अतएव खेला करनेवालेमें कभी शामिल नहीं होना चाहिये, उसमें गरीबोंकी आह और उनका बड़ा शाप सहन करना पड़ता है।

कुछ ऐसे व्यापार होते हैं जिनमें बड़ी हिंसा होती है—जैसे लाख, रेशम और चमड़ा आदि।

लाख कीड़ोंसे उत्पन्न होता है। वृक्षोंसे लाल गोंद-जैसे टुकड़े उतारे जाते हैं, उनमें दो प्रकारके जीव रहते हैं। एक तो बहुत बारीक रहते हैं जो बरसातमें गरमीसे जहाँ लाख पड़ी होती है वहाँ

निकल-निकलकर दीवालोंपर चढ़ जाते हैं, दीवाल उन कीड़ोंसे लाल हो जाती है। दूसरे जीव लंबे कीड़े-जैसे होते हैं, ये लाखके बीज समझे जाते हैं, इन असंख्य जीवोंकी बुरी तरह हिंसा होती है। प्रथम तो लाखके धोनेमें ही असंख्य जीव मर जाते हैं फिर थैलियोंमें भरकर जलती हुई भट्ठीमें उसे तपाया जाता है। जिससे चपड़ा बनता है, जानवरोंके खूनका लखवटिया बनता है। जिस समय उसको तपाते हैं उस समय उसमें चटाचट शब्द होता है! चारों ओर दुर्गन्ध फैली रहती है, पानी खराब हो जाता है जिससे बीमारियाँ फैलती हैं। इस व्यवहारको करनेवाले अधिकांश वैश्य भाई ही हैं।*

इसी प्रकार रेशमके बननेमें भी बड़ी हिंसा होती है। रेशम-सहित कीड़े उबलते जलमें डाल दिये जाते हैं, वे सब बेचारे उसमें झुलस जाते हैं, पीछे उनपर लिपटा हुआ रेशम निकाल लिया जाता है।

चमड़ेके लिये भारतवर्षमें कितनी गो-हत्या होती है यह बतलाना नहीं होगा। अतएव लाख, रेशम और चमड़ेका व्यापार और व्यवहार प्रत्येक धर्मप्रेमी सज्जनको त्याग देना चाहिये।

कुछ लोग केवल व्याजका पेशा करते हैं। यद्यपि व्याजका पेशा निषिद्ध नहीं है; परंतु व्यापारके साथ ही रुपयेका व्याज उपजाना

---

* बड़े खेदकी बात है कि मारवाड़ी समाजमें इसी लाखकी चूड़ियाँ सोहागका चिह्न समझकर स्त्रियाँ पहनती हैं, ये चूड़ियाँ मुसल्मान लखारे बनाते हैं। मुँहमाँगे दाम लेते हैं। जिस लाखमें इतनी हिंसा होती है, जो इतनी अपवित्र है उसकी चूड़ियोंका तुरंत त्याग कर देना चाहिये। इसीलिये इसके बदलेमें काँचकी चूड़ियोंके प्रचारकी कोशिश हो रही है, कलकत्तेमें गोविन्द-भवन-कार्यालय, नं० ३०, बाँसतल्ला गलीको पत्र लिखनेसे काँचकी सुन्दर सस्ती मजबूत ठीक लाखको-सी पात लगी हुई चूड़ियाँ मिल सकती हैं। प्रत्येक धर्मप्रेमीको उनके प्रचारमें सहायता करनी चाहिये। —सम्पादक

उत्तम है । ब्याजके साथ व्यापार करनेवाला कभी अकर्मण्य नहीं होता, आलसी और नितान्त कृपण भी नहीं होता । उसमें व्यापारकुशलता आती है । लड़के-बच्चे काम सीखते हैं । कर्मण्यता बढ़ती है । अतएव केवल ब्याजका ही पेशा नहीं करना चाहिये; परंतु यदि कोई ऐसा न कर सके तो लोभवश गरीबोंको लूटना तो अवश्य छोड़ दे । ब्याजके पेशेवाले गरीबोंपर बड़ा अत्याचार किया करते हैं । कम रुपये देकर ज्यादेका दस्तावेज लिखवाते हैं । जरा-जरा-सी बातपर उनको तंग करते हैं । ब्याजपर रुपया लेनेवाले लोगोंकी सारी कमाई ब्याज भरते-भरते पूरी हो जाती है । कमाई ही नहीं, परंतु स्त्रियोंका जेवर, पशु-धन, जमीन, घर-द्वार सब उस ब्याजमें चले जाते हैं । ब्याजके पेशेवाले निर्दयतासे उनके जमीन-मकानको नीलाम करवाकर गरीब स्त्री-बच्चोंको राहका कंगाल और निराधार बना देते हैं । लोभसे ये सारे पाप होते हैं । इन पापोंकी अधिक वृद्धि प्रायः केवल ब्याजका पेशा करनेवालोंके अत्यधिक लोभसे होती है । अतएव ब्याज कमानेवालोंको कम-से-कम लोभसे अन्याय तो नहीं करना चाहिये ।

यथासाध्य विदेशी वस्त्र और अन्यान्य विदेशी वस्तुओंके व्यापारका त्याग करना चाहिये ।

सबसे पहली और अन्तिम बात यह है कि झूठ, कपट, छलका त्याग कर, दूसरेको किसी प्रकारका नुकसान न पहुँचाकर न्याय, समता और सत्यताके साथ व्यापार करना चाहिये । यह तो व्यापार-शुद्धिकी बात संक्षेपसे कही गयी है इतना तो अवश्य ही करना चाहिये । परंतु यदि वर्णधर्म मानकर निष्कामभावसे व्यापारके द्वारा परमात्माकी पूजा की जाय तो इसीसे परमपदकी प्राप्ति भी हो सकती है ।

व्यापारसे मुक्ति

असत्य, कपट और लोभ आदिका त्याग करके यदि भगवत्-प्रीत्यर्थ न्याययुक्त व्यापार किया जाय तो वही मुक्तिका मुख्य साधन बन सकता है। मुक्तिमें प्रधान हेतु भाव है, क्रिया नहीं है। शास्त्रविधिके अनुसार सकाम भावसे यज्ञ, दान, तप आदि उत्तम कर्म करनेवाला मुक्ति नहीं पाता, सकाम बुद्धिके कारण वह या तो उस सिद्धिको प्राप्त होता है जिसके लिये वह उक्त सत्कार्य करता है या निश्चित कालके लिये स्वर्गको प्राप्त करता है परंतु निष्काम भावसे किया हुआ अल्प कर्म भी मुक्तिका हेतु बन सकता है। इसीलिये सकाम कर्मको तुच्छ और अल्प कहा है, कुछ भी न करनेवालेकी अपेक्षा सकाम

यज्ञादि कर्म करनेवाले बहुत ही उत्तम हैं और इन लोगोंको प्रोत्साहन ही मिलना चाहिये; परंतु सकाम भाव रहनेतक वह कर्म स्त्री, धन, मान-बड़ाई या स्वर्गादिके अतिरिक्त परम पदकी प्राप्ति करानेमें समर्थ नहीं होता। इसीसे गीतामें भगवान्‌ने सकाम कर्मको निष्कामकी अपेक्षा नीचा बताया है (देखो गीता अ० २। ४१, ४२, ४३, ४४, ४९; अ० ७। २०, २१, २२; अ० ९। २०, २१)। पक्षान्तरमें निष्काम कर्मकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(गीता २। ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।' अतएव मुक्तिकामियोंको निष्काम कर्मका आचरण करना चाहिये। मुक्तिके लिये आवश्यकता ज्ञानकी है, किसी अन्य बाह्य उपकरणकी नहीं। इसीसे मुक्तिका अधिकार साधनसम्पन्न होनेपर सभीको है। व्यापारी भाइयोंको व्यापार छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। वे यदि चाहें तो व्यापारको ही मुक्तिका साधन बना सकते हैं। भगवान्‌ने वर्ण-धर्मका वर्णन करते हुए कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इस श्लोकके अनुसार वैश्य अपने वर्णोचित कर्म व्यापारके द्वारा ही भगवान्‌को पूजकर परम सिद्धि पा सकते हैं। इस भावनासे व्यापार करनेवाले सरलता और सुगमताके साथ संसारका सब काम सुचारु-रूपसे करते हुए भी मनुष्य-जीवनके अन्तिम ध्येयको प्राप्त कर सकते हैं। लोभ या धनकी इच्छासे न कर, कर्तव्यबुद्धिसे व्यापार करना चाहिये। कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए कर्ममें पाप नहीं रह सकते। पाप होनेका कारण लोभ और आसक्ति है। कर्तव्यबुद्धिमें इनको स्थान नहीं है। कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए व्यापारद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि और ईश्वरकी प्रसन्नता होती है। शुद्ध अन्तःकरणमें तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा होती है और उससे भगवत्कृपा होनेपर परमपदकी सुलभतासे प्राप्ति होती है। परमपद प्राप्त करनेकी इच्छा न रखकर केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ व्यापार करनेवाला और भी उत्तम तथा प्रशंसनीय है।

गीताके उपर्युक्त श्लोकके अनुसार जब यह विवेक हो जाता है कि सारा संसार ईश्वरसे उत्पन्न है और वह ईश्वर ही समस्त संसारमें स्थित (व्यापक) है, तब फिर उसका विस्मरण कभी नहीं हो सकता। परमात्माके इस चेतन—विज्ञानस्वरूपकी नित्य जागृति रहनेके कारण माया या अन्धकारके कार्यरूप काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रु कभी उसके समीप ही नहीं आ सकते। प्रकाशमें अन्धकारको स्थान कहाँ है ? व्यापारमें असत्य, छल-कपटादि करनेकी प्रवृत्ति काम, लोभादि दोषोंके कारण ही होती है। जब काम-लोभादि-

का अभाव हो जाता है तब व्यापार स्वत: ही पवित्र बन जाता है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि उस व्यापारसे ईश्वर-पूजा कैसे की जाय ? पूजाके लिये शुद्ध वस्तु चाहिये। पापरहित व्यापार शुद्ध तो हो गया, पर पूजा कैसे हो ? पूजा यही है कि लोभके स्थानमें ईश्वरप्रीतिकी भावना कर ली जाय। पतिव्रता रमणीकी भाँति समस्त कार्य ईश्वर-प्रीत्यर्थ, ईश्वरके आज्ञानुसार हो। ऐसे व्यापार-कार्यमें किसी दोषको स्थान नहीं रह जाता और यदि कहीं भ्रमसे अनजानमें कोई दोष हो भी जाता है तो वह दोष नहीं समझा जाता। कारण उसमें सकाम भाव नहीं है। यदि कोई मनुष्य स्वार्थ, मान-बड़ाईका सर्वथा त्याग कर लोक-सेवाके कार्यमें लग जाता है और कभी दैवयोगसे उससे कोई भूल बन जाती है, तब भी उसे कोई दोष नहीं देते और न उसे दोष लगता है। यह स्वार्थत्यागका—निष्कामभावका महत्त्व है। यदि कोई कहे कि स्वार्थ बिना व्यापारमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी, जब कोई स्वार्थ ही नहीं तब व्यापार कोई क्यों करेगा ? इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि स्वार्थ देखनेकी इच्छा हो तो इसमें बड़ा भारी स्वार्थ भी समाया हुआ है। अन्त:करणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होना और उससे परमात्माकी प्राप्ति हो जाना क्या कम स्वार्थ है ? यही तो परम स्वार्थ है। पर इस परम स्वार्थकी बुद्धि भी जितने अंशमें अधिक त्याग की जाय, उतनी ही जल्दी सिद्धि होती है। स्वार्थबुद्धि हुए बिना लोग प्रवृत्त नहीं हो सकते; इसीलिये यहाँपर यह स्वार्थ बतलाया गया है, नहीं तो स्वार्थके लिये किसी कर्ममें प्रवृत्त होना बहुत उत्तम बात नहीं है।

यदि यह शंका हो कि लोभ-बुद्धि रक्खे बिना तो व्यापारमें नुकसान ही होगा, कभी लाभ होना सम्भव नहीं; तब तो फिर यह काम केवल धनी लोग ही कर सकते हैं, सर्वसाधारणके लिये यह उपाय उपयुक्त नहीं है। पर ऐसी बात नहीं है। एक ईमानदार सच्चा गुमाश्ता मालिकके आज्ञानुसार मालिकके लिये बड़ी कुशलतासे आलस्य और प्रमाद छोड़कर दूकानका काम करता है, मालिकसे अपनी उन्नति चाहनेके सिवा दूकानके किसी काममें उसका अन्य कोई स्वार्थ नहीं है। न उसे अन्य स्वार्थ-बुद्धि ही है। इस कार्यमें कहीं उन्नतिमें बाधा नहीं आती। इसी प्रकार भक्त अपने भगवान्‌की प्रीतिरूप परम स्वार्थका आश्रय लेकर सब कुछ भगवान्‌का समझकर उसके आज्ञानुसार सारा कार्य करे तो उसकी उन्नतिमें कोई बाधा नहीं आ सकती। रही धनकी बात, सो धनवान् निःस्वार्थबुद्धिसे कार्य कर सकता है, गरीब नहीं कर सकता, यह मानना भ्रममूलक है। दृष्टान्त तो प्रायः इसके विपरीत मिला करते हैं। धन तो निःस्वार्थ भावमें बाधक होता है। जो स्वार्थबुद्धिसे सर्वथा छूटा हुआ हो उसकी बात तो दूसरी है, नहीं तो धनसे अहङ्कार, ममता, लोभ और प्रमाद उत्पन्न हो ही जाते हैं। न्याययुक्त निःस्वार्थ व्यापारके लिये अधिक पूँजीकी भी आवश्यकता नहीं है। वास्तवमें इसमें थोड़ी या ज्यादा पूँजीका प्रश्न नहीं है, सारी बात निर्भर है कर्ताकी बुद्धिपर! एक पूँजीपति निःस्वार्थबुद्धि न होनेसे बड़ी पूँजीके व्यापारसे गरीबोंकी सेवा नहीं कर सकता, पर तैल, नमक, भूजा बेचनेवाला एक गरीब दूकानदार निःस्वार्थबुद्धि होनेके कारण संसारकी सेवा करनेमें समर्थ होता है। बड़ा व्यापारी पापबुद्धिसे नरकोंमें जा सकता

है; परंतु पान-सुपारी बेचनेवाला निःस्वार्थी भक्त, गरीब जनता-रूप परमात्माकी सेवा कर परमपदको प्राप्त कर सकता है।

दूकानदारको यह बुद्धि रखनी चाहिये कि उसकी दूकानपर जो ग्राहक आता है वह साक्षात् परमात्माका ही स्वरूप है। जैसे लोभी दूकानदार झूठ-कपट करके, दिखौवा आदर-सत्कार या प्रेम करके हर तरहसे ग्राहकको ठगना चाहता है वैसे ही इस दूकानदारको चाहिये कि वह सच्ची सरल बातोंसे सच्चे प्रेमके साथ ग्राहकको सब बातें यथार्थ समझाकर उसका जिस बातमें हित होता हो वही करे, लोभीकी दूकानपर जैसे ग्राहक बार-बार नहीं आया करते; क्योंकि आये ग्राहकको ठग लेनेमें ही वह अपना कर्तव्य समझता है और ऐसा ही दूकानदार आजकल चतुर और कमाऊ समझा जाता है। इसी प्रकार यह समझकर कि ग्राहकरूपी परमात्मा बार-बार नहीं आते, इनकी जो कुछ भी सेवा मुझसे हो जाय सो थोड़ी है, उसके साथ पूरी तरहसे उसके हितको देखते हुए पूर्ण सत्यताका व्यवहार करना चाहिये।

संसारका सब धन परमात्माका है, हम सब उसकी प्रजा हैं, परमात्माने योग्यतानुसार सबको खजाना सँभलाकर हमें उसकी रक्षा और यथायोग्य व्यवहारकी आज्ञा दी है।

अतएव कोई भी काम छोटा-बड़ा नहीं है। जिसके पास अधिक रुपये हैं और ज्यादा काम जिम्मे है वह बड़ा है और कम-वाला छोटा है सो बात नहीं है। छोटे-बड़े सबको एक दिन सब कुछ दूसरेको सौंपकर मालिकके घर जाना पड़ता है। जो मालिक-

का काम ईमानदारीसे चलाकर जाता है वह सुखसे जाता है और तरक्की पाता है, मालिकके मन चढ़ जानेपर मालिकके बराबरका हिस्सेदार भी बन सकता है और जो बेईमानीसे मालिककी चीजको हड़पकर कर्तव्य भूलकर छल-कपट करके जाता है वह दण्डका और अवनतिका पात्र होता है।

एक पिताके कई पुत्र हैं, सबका दूकानमें समान हिस्सा है, पर सब अलग-अलग काम देखते हैं। एक सेठाई करता है, एक दूकानदारी करता है, एक रोकड़का काम देखता है, एक घरका काम देखता है, एक रुपये उगाहनेका काम करता है, सभी उस एक ही फर्मकी उन्नतिमें लगे हैं। पिताने काम बाँट दिये हैं उसी तरह काम कर रहे हैं। इनमें हिस्सेके हिसाबमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है, परंतु अलग-अलग अपना काम न कर यदि सभी सेठाई या सभी दूकानदारी करना चाहें तो सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसी प्रकार परम पिता परमात्माके सब संतान भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, जो उसका सेवक बनकर निःस्वार्थभावसे उसके आज्ञानुसार कार्य करता है वही उसको अधिक प्यारा है।

नाटकमें नाटकका स्वामी यदि स्वयं एक मामूली चपरासीका पार्ट करता है तो वह छोटा थोड़े ही बन जाता है। जिसके जिम्मे जो काम हो उसे वही करना चाहिये। जिसका कार्य सुन्दर और स्वार्थरहित होगा उसीपर प्रभु प्रसन्न होंगे।

अतएव प्राणीमात्रको परमात्माका स्वरूप और पूजनीय समझकर झूठ, कपट, छलको त्यागकर स्वार्थबुद्धिसे रहित हो अपने-अपने

कार्यद्वारा सर्वव्यापी परमात्माकी सेवा-पूजा करनी चाहिये। मनमें सदा यह भावना रखनी चाहिये कि किस तरह मैं इस रूपमें मेरे सामने प्रत्यक्ष रहनेवाले परमात्माकी सेवा अधिक कर सकूँ। इस भावनासे व्यापार आप ही सुधर सकता है और इससे एक व्यापारी दूकान-पर बैठा हुआ कुछ भी व्यापार करता हुआ सरलताके साथ परमात्मा-की सेवा कर उन्हें प्रसन्न कर सकता है। व्यापारी, दलाल, वकील, डाक्टर, जमींदार, किसान सभी कोई अपनी-अपनी आजीविकाके पेशेद्वारा इस बुद्धिसे परमात्माकी सेवा कर सकते हैं।

सारी बात नीयतपर निर्भर है। मालिककी पूँजी बनी रहे और आनेवाले ग्राहकोंकी हर तरहसे सेवा होती रहे, इसी भावसे सबको सबके साथ बर्ताव करना चाहिये। अपने-अपने कर्मोंद्वारा ग्राहकोंको सरलताके साथ निःस्वार्थबुद्धिसे सुख पहुँचाना ही स्वकर्मके द्वारा परमात्माकी पूजा करना है और इस पूजारूप भक्ति-से परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है इसमें कोई संदेह नहीं। इस भावको जाग्रत् रखनेके लिये भगवान्‌के नाम-जपकी आवश्यकता है। जैसे बिगुलकी आवाजसे सिपाही सावधान रहते हैं ऐसे ही नाम-जपकी बिगुल बजाते रहकर मन-इन्द्रियोंको सदा सावधान रखना चाहिये और बुद्धिके द्वारा श्रीमद्भगवद्गीताके उपर्युक्त १८ वें अध्यायके ४६ वें श्लोकका बारंबार मनन और विचारकर तदनुसार अपनेको बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा हो जानेपर अनायास ही 'व्यापारके द्वारा मुक्ति' हो सकती है।



कर्मका रहस्य

एक सज्जनका प्रश्न है "जब यह बात निश्चित है कि हम अपने ही कर्मोंका फल भोगते हैं, हमारे कर्मोंके अनुसार ही हमारी अच्छी या खराब बुद्धि होती है, तब हम यह किसलिये कहते हैं कि मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, जो कुछ करता है वह ईश्वर ही करता है। ईश्वर तो हमारे कर्मोंके फलको न कम कर सकता है न ज्यादा, तब फिर हम ईश्वरका भजन ही क्यों करें ?"

इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य अपने कर्मोंका ही फल भोगता है और उसकी बुद्धि भी प्रायः कर्मानुसार होती है। यह भी ठीक है कि कर्मोंके अनुसार बने हुए स्वभावके अनुकूल ईश्वरीय सत्तासे ही मनुष्य किसी भी क्रियाके करनेमें समर्थ होता है, ईश्वरीय सत्ता, शक्ति, चेतना, स्फूर्ति और प्रेरणाके अभावमें क्रिया असम्भव है। इस न्यायसे सब कुछ ईश्वर ही करता है। यह भी युक्तियुक्त सिद्धान्त है कि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ होनेपर भी कर्मोंके फलको न्यूनाधिक नहीं करता। इतना सब होते हुए भी ईश्वरके भजनकी बड़ी आवश्यकता है। इस विषयका विवेचन करनेसे पहले 'कर्म क्या है ?' 'उसका भोग किस तरह होता है ?' 'कर्मफलभोगमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?' आदि विषयोंपर कुछ विचार करना आवश्यक है।

शास्त्रकारोंने कर्म तीन प्रकारके बतलाये हैं—(१) संचित, (२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। अब इनपर अलग-अलग विचार कीजिये—

संचित

संचित कहते हैं अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके संगृहीत कर्मोंको। मन, वाणी, शरीरसे मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह जबतक क्रियारूपमें रहता है, तबतक वह क्रियमाण है और पूरा होते ही तत्काल संचित बन जाता है। जैसे एक किसान चिरकालसे खेती करता है, खेतीमें जो अनाज उत्पन्न होता है उसे वह एक कोठेमें जमा करता रहता है। इस प्रकार बहुत-से वर्षोंका त्रिविध प्रकारका अनाज उसके कोठेमें भरा है, खेती पकते ही नया अनाज उस कोठेमें फिर आ जाता है। इसमें खेती करना कर्म है और अनाजसे भरा हुआ कोठा उसका संचित है। ऐसे ही कर्म करना क्रियमाण और उसके पूरा होते ही हृदयरूप बृहत् भण्डारमें जमा हो जाना संचित है। मनुष्यकी इस अपार संचित कर्मराशिमेंसे, पुण्य-पापके बड़े ढेरमेंसे कुछ-कुछ अंश लेकर जो शरीर बनता है, उसमें भोगनेपर ही नाश होनेवाले कर्मोंके अंशका नाम प्रारब्ध होता है। इसी प्रकार जबतक संचित अवशेष रहता है, तबतक प्रारब्ध बनता रहता है। जबतक इस अनेक जन्मार्जित कर्मसंचयका सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती। संचितसे स्फुरणा, स्फुरणासे क्रियमाण, क्रियमाणसे पुनः संचित और संचितके अंशसे प्रारब्ध। इस प्रकार कर्मप्रवाहमें जीव निरन्तर बहता ही रहता है। संचितके अनुसार ही बुद्धिकी वृत्तियाँ होती हैं यानी संचितहीके कारण उसीके अनुकूल हृदयमें कर्मोंके लिये प्रेरणा होती है। सात्त्विक, राजस या तामस समस्त स्फुरणाओं या कर्मप्रेरणाओंका प्रधान कारण 'संचित' ही है। यह अवश्य जान रखनेकी बात है कि संचित केवल

प्रेरणा करता है, तदनुसार कर्म करनेके लिये मनुष्यको बाध्य नहीं कर सकता। कर्म करनेमें वर्तमान समयके कर्म ही, जिन्हें पुरुषार्थ कहते हैं, प्रधान कारण हैं। यदि पुरुषार्थ संचितके अनुकूल होता है तो वह संचितद्वारा उत्पन्न हुई कर्मप्रेरणामें सहायक होकर वैसा ही कर्म करा देता है, प्रतिकूल होता है तो उस प्रेरणाको रोक देता है। जैसे किसीके मनमें बुरे संचितसे चोरी करनेकी स्फुरणा हुई, दूसरेके धनपर मन चला; परंतु अच्छे सत्सङ्ग, विचार और शुभ वातावरणके प्रभावसे वह स्फुरणा वहीं दबकर नष्ट हो गयी। इसी प्रकार शुभ संचितसे दानकी इच्छा हुई, परंतु वह भी वर्तमानके कुसङ्गियोंकी बुरी सलाहसे दबकर नष्ट हो गयी। मतलब यह कि कर्म होनेमें वर्तमान पुरुषार्थ ही प्रधान कारण है। इस समयके शुभ सङ्ग और शुभ विचार-जनित कर्मोंके नवीन शुभ संचित बनकर पुराने संचितको दबा देते हैं जिससे पुराने संचितके अनुसार स्फुरणा बहुत कम होने लगती है।

किसानके कोठेमें वर्षोंका अनाज भरा है, अबकी बार किसानने नयी खेतीका अनाज उसमें और भर दिया, अब यदि उसे अनाज निकालना होगा तो सबसे पहले वही निकलेगा जो नया होगा, क्योंकि वही सबसे आगे है। इसी प्रकार संचितके विशाल ढेरमेंसे सबसे पहले उसीके अनुसार मनमें स्फुरणा होगी जो संचित नये-से-नये कर्मका होगा। मनमें मनुष्यके बहुत विचार भरे हैं; परंतु उसे अधिक स्मृति उन्हीं विचारोंकी होती है, जिनमें वह अपना समय वर्तमानमें विशेष लगा रहा है। एक आदमी साधुसेवी है, परंतु कुसङ्गवश वह नाटक देखने लगा, इससे उसे नाटकोंके दृश्य ही याद आने लगे। जिस तरहकी स्फुरणा मनुष्यके मनमें होती है, यदि पुरुषार्थ उसके प्रतिकूल नहीं

होता, तो प्रायः उसीके अनुसार वह कर्म करता है, कर्मका वैसा ही नया संचित होता है, उससे फिर वैसी ही स्फुरणा होती है, पुनः वैसे ही कर्म बनते हैं। नाटक देखनेसे उसीकी स्मृति हुई, फिर देखनेकी स्फुरणा हुई, सङ्ग अनुकूल था, अतः पुनः देखने गया, पुनः उसीकी स्मृति और स्फुरणा हुई, पुनः नाटक देखने गया। यों होते-होते तो वह मनुष्य साधुसेवारूपी सत्कर्मको छोड़ बैठा और धीरे-धीरे उसकी बात भी वह प्रायः भूल गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्सङ्ग, सदुपदेश, सद्विचार आदिसे उत्पन्न वर्तमान कर्मोंसे पूर्वसंचितकी स्फुरणाएँ दब जाती हैं, इसीसे यह कहा जाता है कि मनुष्य संचितके संग्रह, परिवर्तन और उसकी क्षय-वृद्धिमें प्रायः स्वतन्त्र है।

अन्तःकरणमें कुछ स्फुरणाएँ प्रारब्धसे भी होती हैं। यद्यपि यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि कौन-सी स्फुरणा संचितकी है और कौन-सी प्रारब्धकी है; परंतु साधारणतः यों समझना चाहिये कि जो स्फुरणा या वासनाएँ नवीन पाप-पुण्यके करनेमें हेतुरूप होती हैं, उनका कारण संचित है और जो केवल सुख-दुःख भुगतानेवाली होती हैं, वे प्रारब्धसे होती हैं। प्रारब्धसे होनेवाली वासनासे सुख-दुःखोंका भोग मानसिकरूपसे सूक्ष्म शरीरको भी हो सकता है और स्थूल शरीरके द्वारा क्रिया होकर भी हो सकता है; परंतु इस प्रारब्धसे उत्पन्न वासनाके परिवर्तनकी स्वतन्त्रता मनुष्यको नहीं है।

प्रारब्ध

यह ऊपर कहा जा चुका है कि पाप-पुण्यरूप संचितके कुछ अंशसे एक जन्मके लिये भोग भुगतानेके उद्देश्यसे प्रारब्ध बनता है।

यह भोग दो प्रकारसे भोगा जाता है; मानसिक वासनासे और स्थूल शरीरकी क्रियाओंसे। स्वप्नादिमें या अन्य समय जो तरह-तरहकी वृत्ति-तरङ्गें चित्तमें उठती हैं; उनसे जो सुख-दु:खका भोग होता है, वह मानसिक है। एक व्यापारीने अनाज खरीदा, मनमें आया कि अबकी बार इस अनाजमें इतना नफा हो गया तो जमीन खरीदकर मकान बनवाऊँगा, नफेके कई कारणोंकी कल्पना भी हो गयी, मन आनन्द-से भर गया, दूसरे ही क्षण मनमें आया कि यदि कहीं भाव मंदा हो गया, घाटा लगा तो महाजनका रकम भरनेके लिये घर-द्वार बेचनेकी नौबत आ जायगी, मनमें चिन्ता हुई, चेहरा उतर गया। चित्तमें इस तरहकी सुख-दु:ख उत्पन्न करनेवाली विविध तरङ्गें क्षण-क्षणमें उठा करती हैं। ऊपरका सारा साज-सामान ठीक है, दु:खका कोई कारण नजर नहीं आता, परंतु मानसिक चिन्तासे मनुष्य बहुधा दुखी देखे जाते हैं, लोगोंको उनके चेहरे उतरे हुए देखकर आश्चर्य होता है। इसी प्रकार सब प्रकारके बाह्य अभावोंमें दु:खके अनेक कारण उपस्थित होनेपर भी मानसिक प्रसन्नतासे समय-समयपर मनुष्य सुखी होते हैं। पुत्रकी मृत्युपर रोते हुए मनुष्यके मुखपर भी चित्त-वृत्तिके बदल जानेसे क्षणभरके लिये हँसीकी रेखा देखी जाती है। यह भी प्रारब्धका मानसिक भोग है।

प्रारब्ध-भोगका दूसरा प्रकार सुख-दु:खरूप इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंका प्राप्त होना है। सुख-दु:खरूप प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है, जिनको अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छा प्रारब्ध कहते हैं।

अनिच्छा-प्रारब्ध—राह चलते हुए मनुष्यपर किसी मकानकी दीवालका टूटकर गिर पड़ना, बिजली पड़ जाना, वृक्ष टूट पड़ना, घरमें बैठे हुए-पर छत टूट पड़ना, हाथसे अकस्मात् बंदूक छूटकर गोली लग जाना आदि दुःखरूप और राह चलते हुएको रत्न मिल जाना, खेत जोततेको जमीनसे धन मिलना आदि सुखरूप भोग, जिनके प्राप्त करनेकी न मनमें इच्छा की थी और न किसी दूसरेकी ही ऐसी इच्छा थी—इस प्रकारसे अनायास दैवयोगसे आप-से-आप सुख-दुःखादिरूप भोगोंका प्राप्त होना अनिच्छा-प्रारब्ध है ।

परेच्छा-प्रारब्ध—सोये हुए मनुष्यपर चोर-डाकुओंका आक्रमण होना, जान-बूझकर किसीके द्वारा दुःख दिया जाना आदि दुःखरूप और कुमार्गमें जाते हुएको सत्पुरुषका रोककर बचा देना, कुपथ्य करते हुए रोगीको हाथ पकड़कर वैद्य या मित्रद्वारा रोका जाना, बिना ही इच्छाके दूसरेके द्वारा धन मिल जाना आदि सुखरूप भोग, जो दूसरोंकी इच्छासे प्राप्त होते हैं, उसका नाम परेच्छा-प्रारब्ध है । इसमें एक बात बहुत समझनेकी है । एक मनुष्यको किसीने चोट पहुँचायी या किसी मनुष्यने किसीके घरमें चोरी की, इसमें उस मनुष्यको चोट लगना या उसके घरमें चोरी होना तो उसके प्रारब्धका भोग है, परंतु जिसने आघात पहुँचाया और चोरी की, इसने अवश्य ही नवीन कर्म किया है, जिसका फल उसे आगे भोगना पड़ेगा; क्योंकि किसी भी कर्मके भोगका हेतु पहलेसे निश्चित नहीं होता । यदि हेतु निश्चित हो जाय और यह विधान कर दिया जाय कि अमुक पुरुष अमुकके घरमें चोरी करेगा, अमुकको चोट पहुँचायेगा तो फिर ऐसे लोग निर्दोष ठहरते हैं; क्योंकि वे तो ईश्वरीय विधानके वश होकर चोरी-डकैती आदि करते

हैं। यदि यही बात है तो फिर ऐसे लोगोंके लिये शास्त्रोंमें दण्डविधान और इन कर्मोंके फल भोगकी व्यवस्था क्यों है?

इसलिये यह मानना चाहिये कि फलभोगके सभी हेतु पहलेसे निश्चित नहीं रहते। जिस क्रियामें कोई अन्याय या स्वार्थ रहता है, जो आसक्तिसे की जाती है, वह क्रिया अवश्य नवीन कर्म है। हाँ, यदि ईश्वर किसी व्यक्तिविशेषको ही किसीके मारनेमें हेतु बनाना चाहें, तो वे फाँसीका दण्ड पाये हुए व्यक्तिको फाँसीपर चढ़ानेवाले न्यायकर्ममें नियुक्त जल्लादकी भाँति किसीको हेतु बना सकते हैं। हो सकता है, उस फाँसी चढ़ानेवालेको चढ़नेवाला पूर्वके किसी जन्ममें मार चुका हो या यह भी हो सकता है कि उससे उसका कोई सम्बन्ध ही न हो और वह केवल न्याययुक्त कर्म ही करता हो।

स्वेच्छा-प्रारब्ध—ऋतुकालमें भार्यागमनादिद्वारा सुख प्राप्त होना, उससे पुत्र होना, न होना या होकर मर जाना, न्याययुक्त व्यापारमें कष्ट स्वीकार करना, उससे लाभ होना, न होना या होकर नष्ट हो जाना आदि स्वेच्छा-प्रारब्ध है। इन कर्मोंके करनेके लिये जो प्रेरणात्मक वासना होती है, उसका कारण प्रारब्ध है। तदनन्तर क्रिया होती है। क्रियाका सिद्ध होना न होना, सुकृत-दुष्कृतका फल है।

स्वेच्छा-प्रारब्धके भोगोंके कारणको समझ लेना बड़ा ही कठिन विषय है। बड़े सूक्ष्म विचार और भाँति-भाँतिके तर्कोंका आश्रय लेनेपर भी निश्चितरूपसे यह कहना नितान्त कठिन है कि अमुक फलभोग हमारे पूर्वजन्मकृत अमुक कर्मोंका फल है जो उनकी प्रेरणासे मिला है, या इसी जन्मका कोई कर्म हाथों-हाथ संचितसे प्रारब्ध बनकर इसमें कारण हुआ है।

एक मनुष्यने पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि या धनलाभके लिये किसी यज्ञका अनुष्ठान किया। तदनन्तर उसे पुत्र या धनकी प्राप्ति हुई। इस पुत्र या धनकी प्राप्तिमें यज्ञ कारण है या पूर्वजन्मकृत कर्म कारण है इसका यथार्थ निर्णय करना कठिन है। सम्भव है कि उसे पुत्र, धन पूर्वजन्मकृत कर्मके फलरूपमें मिला हो और वर्तमानके यज्ञका फल आगे मिले अथवा क्रियावैगुण्यसे उसका फल नष्ट हो गया हो। एक आदमी रोगनिवृत्तिके लिये औषध सेवन करता है। उसकी बीमारी मिट जाती है, इसमें यह समझना कठिन है कि यह उस औषधका फल है या भोग समाप्त होनेपर स्वतः ही 'काकतालीय' न्यायवत् ऐसा हो गया है।* तथापि यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि जो कुछ भी हो, हैं सब स्वेच्छाकृत कर्मोंके प्रारब्धका फल। कर्मोंका फल अभी हो या आगे हो, यह कोई नियत बात नहीं है; सर्वथा ईश्वराधीन है, इसमें जीवकी पूर्ण परतन्त्रता है। इस जीवनमें पाप करनेवाले लोग धन-पुत्र-मानादिसे सुखी देखे जाते हैं (यद्यपि उनमें कितनोंको मानसिक दुःख बहुत भारी हो सकता है, जिसका हमें पता नहीं) और पुण्य करनेवाले मनुष्य सांसारिक पदार्थोंके अभावसे दुखी देखे जाते हैं, (उनमें भी

* बीमारी पूर्वकृत पापके फलस्वरूप भी होती है और इस समयके कुपथ्य-सेवनादिसे भी। कुपथ्यादिसे होनेवाली बीमारी प्रायः औषधसे नष्ट हो जाती है, पर कर्मजन्य रोग भोग समाप्त होनेतक दूर नहीं होता; परंतु इस बातका निर्णय होना कठिन है कि कौन-सी बीमारी कर्मजन्य है और कौन-सी कुपथ्यजन्य, इसलिये औषध-सेवन सभी बीमारियोंमें करना चाहिये।

कितने ही मानसिक सुखी होते हैं) जिससे पाप-पुण्यके फलमें लोगोंको संदेह होता है, वहाँ यह समझ रखना चाहिये कि उनके वर्तमान बुरे-भले कर्मोंका फल आगे मिलनेवाला है । अभी पूर्वजन्म-कृत कर्मोंका अच्छा-बुरा फल प्राप्त हो रहा है ।

कहा जाता है कि जो कर्म अधिक बलवान् होता है उसका फल तुरंत होता है और जो साधारण है, उसका विलम्बसे होता है, परंतु यह नियम भी सब जगह लागू पड़ता नहीं देखा जाता; अतएव यहाँ यही कहना पड़ता है कि त्रिकालदर्शी जगन्नियन्ता परमात्माके सिवा तर्क-युक्तियोंके बलपर मनुष्य स्वेच्छा-प्रारब्धका निर्णय नहीं कर सकता । कर्म और फलका संयमन करनेवाले योगी ईश्वरकृपासे अपनी योगशक्तिके द्वारा कुछ जान सकते हैं ।

क्रियमाण

अपनी इच्छासे जो बुरे-भले नवीन कर्म किये जाते हैं, उन्हें क्रियमाण कहते हैं । क्रियमाण कर्मोंमें प्रधान हेतु संचित है, कहीं-कहीं अपना या पराया प्रारब्ध भी हेतु बन जाता है । क्रियमाण कर्ममें मनुष्य ईश्वरके नियमोंसे बँधा होनेपर भी क्रिया सम्पन्न करनेमें प्रायः स्वतन्त्र है । नियमोंका पालन करना, न करना उसके अधिकार-में है । इसीसे उसे फलभोगके लिये भी बाध्य होना पड़ता है ।

यदि कोई यह कहे कि हमारे द्वारा जो अच्छे-बुरे कर्म हो रहे हैं, सो सब ईश्वरेच्छा या प्रारब्धसे होते हैं तो उसका ऐसा कहना भ्रमात्मक है, पुण्य-पाप करानेमें ईश्वर या प्रारब्धको हेतु माननेसे प्रधानतः चार दोष आते हैं, जो निर्विकार, निरपेक्ष, समदर्शी, दयालु, न्यायकारी और उदासीन ईश्वरके लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं ।

(१) जब ईश्वर या प्रारब्ध ही बुरे-भले कर्म कराते हैं तब विधि-निषेध बतलानेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है ? *'सत्यं वद,' 'धर्मं चर'* [तै० १ । ११ । १] *'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव,* [तै० १।११।२] और *'सुरां न पिबेत्, परदारान्नाभिगच्छेत्'* आदि विधि-निषेधमय वाक्योंका उल्लङ्घन कर मनमाना यथेच्छाचार करनेवाले पापपरायण व्यक्ति यह अनायास कह सकते हैं कि हम तो प्रारब्धके नियन्ता ईश्वरकी प्रेरणासे ही ऐसा कर रहे हैं। अतएव ईश्वरपर शास्त्र-हननका दोष आता है ।

(२) जब ईश्वर ही सब प्रकारके कर्म करवाता है, तब उन कर्मोंका फल सुख-दुःख हमें क्यों होना चाहिये ? जो ईश्वर कर्म करवाता है उसे ही फलभोगका दायित्व भी स्वीकार करना चाहिये। ऐसा न करके वह ईश्वर अपना दोष दूसरोंपर डालनेके लिये दोषी ठहरता है ।

(३) ईश्वरके न्यायकारी और दयालु होनेमें दोष आता है; क्योंकि कोई भी न्यायकर्ता पापके दण्डविधानमें पुनः पाप करनेकी व्यवस्था नहीं दे सकता। यदि पाप करनेकी व्यवस्था कर दी तो फिर पापियोंके लिये दण्डकी व्यवस्था करना अन्याय सिद्ध होता है। एवं यदि ईश्वर ही पाप करवाता है—पापमें हेतु बनता है और फिर दण्ड देता है तब तो अन्यायी होनेके साथ ही निर्दयी भी बनता है।

(४) ईश्वर ही जब पापीके लिये पुनः पाप करनेका विधान करता है, तब जीवके कभी पापोंसे मुक्त होनेका तो कोई उपाय ही नहीं रह जाता। पापका फल पाप, उसका फल पुनः पाप— इस तरह जीव पापमें ही प्रवृत्त रहनेके लिये बाध्य होता है, जिससे

एक तो अनवस्थाका दोष और दूसरे ईश्वर जीवोंको पापबन्धनमें रखना चाहता है, यह दोष आता है।

अतः यह मानना उचित नहीं कि ईश्वर पाप-पुण्य करवाते हैं, पाप-कर्मके लिये तो ईश्वरकी कभी प्रेरणा ही नहीं होती, पुण्यके लिये—सत्कर्मोंके लिये ईश्वरका आदेश है, परंतु उसका पालन करना, न करना या विपरीत करना हमारे अधिकारमें है। सरकारी अफसर कानूनके अनुसार चलता हुआ प्रजारक्षणका अधिकारी है; परंतु अधिकारारूढ़ होकर उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना उसके अधिकारमें है, यद्यपि वह कानूनसे बँधा है तथा कानून तोड़नेपर दण्डका पात्र ही होता है, वही हालत कर्म करनेमें मनुष्यके अधिकारकी है।*

ईश्वर सामान्यरूपसे सन्मार्गका नित्य प्रेरक होनेके कारण जीवके कल्याणमें सहायक होता है। पापकर्मोंके होनेमें प्रधान हेतु निरन्तर विषयचिन्तन है। इसीसे रजोगुणसमुद्भूत कामीकी उत्पत्ति होती है, उस कामसे ही क्रोध आदि दोष उत्पन्न होकर जीवकी अधोगतिमें कारण होते हैं। भगवान्ने कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

* इस विषयका विशेष विवेचन तत्त्व-चिन्तामणि भाग १ के 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?' शीर्षक लेखमें किया गया है। वहाँ देखना चाहिये।

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि पापकर्मोंके होनेमें विषयचिन्तन-जनित राग—आसक्ति प्रधान कारण है, ईश्वर या प्रारब्ध नहीं। चिन्तन या स्फुरण क्रियमाणके—नवीन कर्मके नवीन संचितके अनुसार पहले होता है। अतः पापोंसे बचनेके लिये नवीन शुभकर्म करनेकी आवश्यकता है। नवीन शुभकर्मोंसे शुभसंचित होकर शुभ-का चिन्तन होगा, जिससे शुभकर्मोंके होने और अशुभके रुकनेमें सहायता मिलेगी। इसीलिये अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्-ने पुरुषार्थद्वारा पापकर्मके कारण रागरूप रजोगुणसे उत्पन्न कामका नाश करनेकी आज्ञा दी है। अर्जुनने भगवान्से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान् बोले कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

'हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ।'

आगे चलकर भगवान्ने धुएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भकी भाँति ज्ञानको ढकनेवाले इस दुष्पूरणीय अग्निसदृश कामके निवासस्थान मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको बतलाकर इन्द्रियोंको वश करके ज्ञान-विज्ञाननाशक पापी कामको मारनेकी आज्ञा दी । यदि कामको जय करनेमें जीव समर्थ न होता तो उसके लिये भगवान्की ओरसे इस प्रकारकी आज्ञाका दिया जाना नहीं बन सकता । अतएव भगवान्के आज्ञानुसार शुभकर्म, शुभसङ्गति करनेसे क्रियमाण शुद्ध हो जाते हैं । यह क्रियमाण ही संचित और प्रारब्धके हेतुभूत हैं । इसलिये मनुष्यको क्रियमाण शुभ करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि इन्हींके करनेमें यह स्वतन्त्र है ।

कर्मोंका भोग बिना नाश होता है या नहीं

अब यह समझनेकी आवश्यकता है कि उपर्युक्त तीनों प्रकारके कर्म फलभोगसे ही नाश होते हैं या उनके नाशका और भी कोई उपाय है । इनमेंसे प्रारब्धकर्मोंका नाश तो भोगसे ही होता है, जैसे आप्तपुरुषके वाक्य व्यर्थ नहीं जाते, इसी प्रकार प्रारब्धकर्मोंका नाश बिना भोगे नहीं हो सकता । भोग पूर्वोक्त अनिच्छा, परेच्छा या स्वेच्छासे हो सकते हैं और प्रायश्चित्तसे भी । सेवा या दण्डभोग

दोनों ही छुटकारा मिलनेके उपाय हैं। संचित और क्रियमाण कर्मोंका नाश निष्कामभावसे किये हुए यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि सत्कर्मसे तथा प्राणायाम, श्रवण, मनन, निदिध्यासन (सत्सङ्ग, भजन, ध्यान) आदि परमेश्वरकी उपासनासे हो सकता है। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे संचितकी राशि तो सूखे घासमें आग लगकर भस्म हो जानेकी भाँति भस्म हो जाती है।* और कोई स्वार्थ न रहनेके कारण किसी भी सांसारिक पदार्थकी कामना एवं कर्म करनेमें आसक्ति तथा अहंबुद्धि न रह जानेसे सकाम नवीन कर्म बन नहीं सकते।

उत्तम कर्मोंसे छुटकारा मिलना तो बहुत ही सहज है, वे तो भगवान्के अर्पण कर देनेमात्रसे ही छूट जाते हैं। जैसे एक मनुष्यने दूसरेको कुछ रुपये कर्ज दे रक्खे हैं। उसे उससे रुपये लेने हैं, इस लेनेकी भावनासे तो वह हृदयके त्यागसे छूट सकता है। 'रुपये छोड़ दिये' इस त्यागसे ही वह छूट जाता है, परंतु जिसे रुपये देने हैं, वह इस तरह कहनेसे नहीं छूटता। इसी प्रकार जिन पापोंका दण्ड हमें भोगना है उनसे छुटकारा 'हम नहीं भोगना चाहते' यह कहनेसे नहीं होता। उनके लिये या तो भोग भोगना पड़ता है या निष्काम कर्म और निष्काम उपासना आदि करने पड़ते हैं।

किये हुए पापोंका और सकाम पुण्य-कर्मोंका परस्पर हवाला नहीं पड़ता, एक दूसरेके बदलेमें कटते नहीं। दोनोंका फल अलग-

---

* यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ (गीता ४। ३७)

अलग भोगना पड़ता है। धनदासके मायादासमें रुपये पावने हैं। मायादासने रुपये नहीं दिये। इसलिये एक दिन गुस्सेमें आकर धनदासने मायादासपर दो डंडे जमा दिये। मायादासने अदालतमें फरियाद की। इसपर धनदासने कहा कि 'मेरे एक हजार रुपये मायादाससे लेने हैं, मैंने इसको दो डंडे जरूर मारे हैं, इस अपराधके बदलेके दाम काटकर बाकी रुपये मुझे दिलवा दिये जायँ।' यह सुनकर मैजिस्ट्रेट हँस पड़ा। उसने कहा, तुम्हारा दीवानी मुकदमा अलग होगा। तुम्हारे रुपये न आवें तो तुम इसपर दीवानी कोर्टमें नालिश करके जेल भिजवा सकते हो, परंतु यहाँ तो डंडे मारनेके लिये तुम्हें दण्ड भोगना पड़ेगा।' बस, इसी प्रकार पाप-पुण्यका फल अलग-अलग मिलता है। सकाम पुण्यसे पापका और पापसे सकाम पुण्यका हवाला नहीं पड़ता।

कर्मका फल कौन देता है ?

कुछ लोग मानते हैं कि शुभाशुभ कर्मोंका फल कर्मानुसार आप ही मिल जाता है, इसमें न तो कोई नियामक ईश्वर है और न ईश्वरकी आवश्यकता ही है; परंतु ऐसा मानना भूल है। इस मान्यतासे बहुत बाधाएँ आती हैं तथा यह युक्तिसङ्गत भी नहीं है। शुभाशुभ कर्मोंका विभाग कर तदनुसार फलकी व्यवस्था करनेवाले नियामकके अभावमें कर्मका भोग होना ही सम्भव नहीं है; क्योंकि कर्म तो जड होनेके कारण नियामक हो नहीं सकते, वे तो केवल हेतुमात्र हैं और पापकर्म करनेवाला पुरुष स्वयं पापोंका फल दुःख भोगना चाहता नहीं, यह बात निर्विवाद और लोकप्रसिद्ध है। किसी

मनुष्यने चोरी की या डाका डाला । वह चोरी या डकैती नामक कर्म तो जडताके कारण उसके लिये कैदकी व्यवस्था कर नहीं सकते और वह कर्ता स्वयं चाहता नहीं; इसीलिये कोई शासक या राजा उसके दण्डकी व्यवस्था करता है । इसी प्रकार कर्मोंके नियमन, विभाग तथा फलकी व्यवस्थाके लिये किसी नियामक या व्यवस्थापक ईश्वरकी आवश्यकता है । इससे कोई यह न समझे कि राजा और ईश्वरकी समानता है । राजा सर्वान्तर्यामी और सर्वथा निरपेक्ष स्वभाववाल तथा स्वार्थहीन निर्भ्रान्त न होनेके कारण प्रमाद, पक्षपात, अनभिज्ञत या स्वार्थवश अनुचित व्यवस्था भी कर सकता है; परंतु परमात्म समदर्शी, सर्वान्तर्यामी, सुहृद्, निरपेक्ष, दयालु और न्यायकार होनेके कारण उससे कोई भूल नहीं हो सकती । राजा स्वार्थवश न्याय करता है, ईश्वर दयाके कारण जीवके उपकारके लिये न्या करता है । यदि यह कहा जाय कि जब ईश्वरको कोई स्वार्थ नह है तब वह इस झगड़ेमें क्यों पड़ता है ? इसका उत्तर यह है वि ईश्वरके लिये यह कोई झगड़ा नहीं है । जैसे सुहृद् पुरुष पक्षपात रहित होकर दूसरोंके झगड़े निपटा देता है; पर मान, बड़ाई, प्रति कुछ नहीं चाहता, इससे उसका महत्त्व संसारमें प्रसिद्ध है । इ प्रकार ईश्वर सारे संसारका उनके हितके लिये निःस्वार्थरूपसे अप सुहृदताके कारण ही न्याय करता है ।

ईश्वर नियामक न होनेसे तो कर्मोंका भोग हो ही नहीं सकता इसमें एक युक्ति और विचारणीय है । एक मनुष्यने ऐसे पाप वि जिससे उसे कुत्तेकी योनि मिलनी चाहिये । उसके कर्म तो उ

होनेसे उसे उस योनिमें पहुँचा नहीं सकते (क्योंकि विवेकयुक्त पुरुषकी सहायताके बिना रथ, मोटर आदि जड सवारियाँ अपने-आप यात्रीको उसके गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँचा सकतीं) और वह स्वयं पाप भोगनेके लिये जाना नहीं चाहता। यदि जाना चाहे तो भी नहीं जा सकता, क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति नहीं है। जब हमलोग सावधान अवस्थामें भी सर्वथा अपरिचित स्थानमें नहीं जा सकते, तब बिना विवेकके योनिपरिवर्तन करना तो असम्भव है।

यदि यह कहा जाय कि उस समय अज्ञानका परदा दूर हो जाता है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि मरणकालमें तो दुःख और मोहकी अधिकतासे जीवकी दशा अधिक भ्रान्त-सी होती है। योगी या ज्ञानीकी-सी स्थिति होती नहीं। यदि अज्ञानका परदा हटकर उसका यों ही जीवन्मुक्त होना मान लें, तो यह भी युक्तिसङ्गत नहीं; क्योंकि भोग, प्रायश्चित्त या उपासना आदिके बिना पापोंका नाश होकर एकाएक किसीका जीवन्मुक्त हो जाना अयुक्त है। साधारण संसारी ज्ञानसे योनिप्रवेशादि क्रिया न तो सम्भव है और न प्रत्यक्ष दुःखरूप होनेके कारण साधारण पुरुषको इष्ट है तथा न उसकी सामर्थ्य ही है। अतएव यह सिद्ध होता है कि कर्मानुसार फलभोग करानेके लिये सृष्टिके स्वामी नियन्त्रणकर्ताकी आवश्यकता है और वह नियन्त्रणकर्ता ईश्वर अवश्य है।

ईश्वरभजनकी आवश्यकता क्यों है ?

मान लिया जाय कि शुभाशुभ कर्मानुसार फल अवश्य ही ईश्वर देता है और वह कम-ज्यादा भी नहीं कर सकता, फिर उसके

भजनकी क्या आवश्यकता है ? इसी प्रश्नपर अब विचार करना है। प्रथम तो यह बात है कि ईश्वरभजन एक सर्वोत्तम उपासनारूप कर्म है, परम साधन है, सबका शिरमौर है। इसके करनेसे इसीके अनुसार बुद्धिमें स्फुरणाएँ होती हैं और इस तरहकी स्फुरणासे बारंबार ईश्वर-भजन-स्मरण होने लगता है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञानका परम दिव्य प्रकाश चमक उठता है। ज्ञानाग्निसे संचित कर्मराशि दग्ध होकर पुनर्जन्मके कारणको नष्ट कर डालती है। इसीलिये भजन करना परम आवश्यक है।

दूसरे यह समझकर भी भजन अवश्य करना चाहिये कि यही हमारे जीवनका परम कर्तव्य है। माता-पिताकी सेवा मनुष्य अपना कर्तव्य समझकर करते हैं। फिर जो माता-पिताका भी परमपिता है, जो परम सुहृद् है, जिसने हमें सब तरहकी सुविधाएँ दी हैं, जो निरन्तर हमपर अकारण ही कृपा रखता है, जिस कल्याणमय ईश्वरसे हम नित्य कल्याणका आदेश पाते हैं, जो हमारे जीवनकी ज्योति है, अन्धेकी लकड़ी है, डूबते हुएका सहारा और पथभ्रष्ट नाविकका एकमात्र ध्रुवतारा है, उसका स्मरण करना तो हमारा प्रथम और अन्तिम कर्तव्य ही है।

ईश्वरका स्मरण न करना बड़ी कृतघ्नता है, हम जब माता, पिता, गुरुके उपकारका भी बदला नहीं चुका सकते, तब परम सुहृद् ईश्वरके उपकारोंका बदला तो कैसे चुकाया जा सकता है ? ऐसी हालतमें उसे भूल जाना भारी कृतघ्नता—नीचातिनीच कार्य है।

ईश्वर सब कुछ कर सकता है 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ है, परंतु वह करता नहीं, अपने नियमोंकी आप रक्षा करता है, और हमें पापोंकी क्षमा और पुण्योंका फल पानेके लिये उसके भजनका उपयोग ही क्यों करना चाहिये ? पाप तो उनके भजनके प्रतापसे अपने आप नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्यके उदयमात्रसे अन्धकार नष्ट हो जाता है ।

जबहिं नाम मनमें धर्‌यो, भयो पापको नास ।
जैसे चिनगी आगकी, परी पुरानी घास ॥

परंतु भगवान्‌का भजन करनेवालेको यह भावना नहीं रखनी चाहिये कि इस भजनसे पाप नाश हो जायगा । भगवान्‌के रहस्यको समझनेवाला भक्त अपराध क्षमा करानेके लिये भी उसके भजनका उपयोग नहीं करता । जिस ईश्वरभजनसे मायारूप संसार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, क्या इस रहस्यको जाननेवाला पुरुष कभी तुच्छ सांसारिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भजनका उपयोग कर सकता है ? यदि करता है तो वह बड़ी भूल करता है । राजाको मित्र पाकर उससे दस रुपयेकी नालिशसे छुटकारा पानेकी प्रार्थना करनेके समान अत्यन्त हीन कार्य है । इसलिये भजनको किसी भी सांसारिक कार्यमें नहीं बर्तना चाहिये, परंतु कर्तव्य समझकर ईश्वर-भजन सदा-सर्वदा करते ही रहना चाहिये; क्योंकि भजनके आदि, मध्य और अन्तमें केवल कल्याण-ही-कल्याण भरा है ।



निष्काम कर्मसे परमात्माकी प्राप्ति

कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—ये सभी साधन अपने-अपने स्थानमें श्रेष्ठ, सुगम और शीघ्र कल्याण करनेवाले माने गये हैं। यहाँ कर्मयोगके विषयमें कुछ लिखा जाता है।

कर्मयोगका साधन सुगम है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥

(५।३)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

इतना ही नहीं, ज्ञानयोगकी प्राप्ति तो कर्मयोगके बिना कठिन है, किंतु कर्मयोग शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। गीतामें बतलाया गया है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

(५।६)

'परंतु हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ।'

गीतामें भगवान्‌ने भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन तीनों ही मार्गोंको स्वतन्त्र बताया है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
(१३ । २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं ।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
(५ । ५)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों-द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है । इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोगको और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है वही यथार्थ देखता है ।'

भक्तियोग और ज्ञानयोगके साधनसे भी कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(१२ । १२)

'मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥
(गीता ५।२)

'कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माके ध्यानसे भी निष्काम कर्म श्रेष्ठ है। जिस ध्यानमें फलका त्याग नहीं है और जिस कर्मफलत्याग-रूप निष्काम कर्ममें ध्यान नहीं है—उन दोनोंका ही मुकाबला होता है। निष्काम कर्ममें फलका त्याग होता है। इसी कारण उससे परमात्माकी प्राप्तिरूप परम शान्ति मिलती है। जिस ध्यानमें फलका त्याग नहीं है, उस ध्यानसे तो जिस कामनाके उद्देश्यसे वह ध्यान किया जाता है उस कामनाकी ही सिद्धि हो सकती है, उससे परम शान्ति नहीं मिल सकती। कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए भगवान्ने कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
(गीता ६।१)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।'

अतएव वर्ण और आश्रमके अनुसार शास्त्रविहित कर्मोंमें* फल और आसक्तिका जो त्याग है उसीको निष्काम कर्म कहते हैं।

ब्राह्मणके लिये मनुजीने षट्कर्मोंका विधान किया है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

(मनु० १।८८)

'पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणके लिये रचे गये हैं।'

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥

(मनु० १०।७६)

'इन षट्कर्मोंमें पढ़ाना, यज्ञ कराना और विशुद्ध द्विजातियोंसे दान ग्रहण करना—ये तीनों ब्राह्मणकी जीविकाके कर्म हैं।' तथा यज्ञ करना, दान देना और वेदादिका स्वाध्याय करना—ये तीनों कर्म धर्मपालनके लिये हैं।

क्षत्रियके लिये प्रजाकी रक्षा करना, दो विरोधी पक्षोंका उचित न्याय करना और कर वसूल करना—ये तीन जीविकाके कर्म हैं और

---

* वर्णाश्रमधर्मका विस्तृत विवेचन गीताप्रेससे प्रकाशित 'मनुष्यका परम कर्तव्य' नामक पुस्तकके 'मानवता और वर्णाश्रमधर्म' शीर्षक लेखमें देख सकते हैं।

दान देना, यज्ञ करना तथा वेदादिका स्वाध्याय करना—ये तीनों कर्म धर्मपालनके लिये हैं।

इसी प्रकार वैश्यके लिये कृषि, गोरक्षा और व्यवसाय—ये तीन कर्म जीविकाके लिये हैं—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्॥

(गीता १८ । ४४ का पूर्वार्ध)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य और सम व्यवहार-ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं।'

एवं दान देना, यज्ञ करना और वेदादिका स्वाध्याय करना—ये तीन कर्म धर्मपालनके लिये हैं।

शूद्रके लिये केवल एक ही कर्म बतलाया गया है—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

(गीता १८ । ४४ का उत्तरार्ध)

'सब वर्णोंकी सेवा करना—शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।'

उपर्युक्त अपने-अपने वर्णके कर्तव्यकर्मोंमें तथा इसी प्रकार जो कुछ भी शास्त्रोंमें आश्रमधर्म, सामान्यधर्म और आपत्कालके धर्म मनुष्य-मात्रके लिये बताये गये हैं उन कर्तव्यकर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग करके उनका अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा करनेसे 'निष्काम कर्म' सम्पन्न होता है। इस निष्काम कर्मका सार भगवान्‌ने गीताके अ० २ श्लोक ४७ में बताया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

'अर्जुन ! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

यहाँ 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' से कर्म करनेमें मनुष्यके लिये अधिकार और स्वतन्त्रता बतलाकर कर्म करनेपर जोर दिया गया है कि कर्म करना ही कर्तव्य है। 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' से भी कर्मत्यागका निषेध करके कर्म करनेपर ही जोर दिया गया है। 'मा फलेषु कदाचन' से यह बतलाया गया है कि कर्मफलमें अधिकार नहीं है बल्कि उसमें परतन्त्रता है और 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' से कर्मके फलका हेतु न होनेके लिये कहकर वासना, आसक्ति, ममता और अभिमानके त्यागका आदेश दिया गया है। इसीका स्पष्टीकरण निम्नाङ्कित श्लोकमें है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २।७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

यहाँ कामना, स्पृहा, ममता और अहंकारके त्यागका वर्णन है। स्पृहाके अन्तर्गत ही आसक्ति और वासनाको तथा अहंकारके अन्तर्गत अभिमानको समझना चाहिये।

भगवान्‌ने गीतामें आसक्तिके त्यागके साथ ही सिद्धि और असिद्धिमें समताका भी उल्लेख किया है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(२।४८)

'हे धनंजय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर। समत्व ही योग कहलाता है।'

सिद्धि और असिद्धिमें समता होनेसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदिका अभाव स्वतः ही हो जाता है। राग-द्वेष ही सारे अवगुणोंकी जड़ है। इसलिये राग-द्वेषके त्यागमें ही सबके त्यागका अन्तर्भाव है, जैसे कि अहंता-ममताके त्यागके अन्तर्गत सारे दुर्गुणोंका त्याग है। इसी प्रकार समताकी प्राप्ति होनेपर भी सब दोषोंका अभाव हो जाता है। गीतामें कहीं तो कर्मोंमें और विषयोंमें आसक्तिका त्याग बताया गया है (गीता ६।४), वहाँ विषयोंकी आसक्तिके त्यागके अन्तर्गत ही कर्मफलका त्याग है। कहीं केवल आसक्तिका त्याग कहा गया है (गीता २।४८), वहाँ फलकामनाका त्याग उसके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये; क्योंकि 'सङ्गात् संजायते कामः' (गीता २।६२)—'आसक्तिसे ही विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है।' अतः कारणके त्यागसे कार्यका त्याग स्वाभाविक ही उसके अन्तर्गत है। जैसे जड़ काट देनेपर वृक्षको काटना उसके अन्तर्गत है उसी प्रकार आसक्तिके त्यागमें कामना, स्पृहा, वासना आदिका त्याग स्वाभाविक है; क्योंकि इन सबका मूल आसक्ति ही है। अतः कर्मोंमें आसक्तिका त्याग करके कर्तव्यकर्मोंका आचरण करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गीता ३ । १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

इसी प्रकार कर्मफलके त्यागसे भी आसक्ति, स्पृहा, वासना, ममताका त्याग समझ लेना चाहिये । प्रायः लोगोंकी कर्ममें प्रवृत्ति फलके लिये ही होती है । इसलिये कर्तव्यकर्मोंमें फलत्यागकी महिमा गीतामें विशेषरूपसे बतलायी गयी है (गीता ६ । १) ।

वास्तवमें तो कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग होनेपर वे कर्म कर्म ही नहीं हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥
(गीता ४ । २०)

'जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ।'

क्योंकि वे देखनेमात्रमें ही कर्म हैं, वास्तवमें कर्म नहीं हैं । यही कर्ममें अकर्मका देखना है । गीता अ० ४ श्लोक १८ में जो

कर्ममें अकर्म देखनेकी महिमा बतायी गयी है वह इसीकी महिमा है। यही कर्मोंका रहस्य है और कर्मोंमें कुशलता भी यही है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

(गीता २। ५०)

'समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है। इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है।'

भाव यह कि समताका नाम योग है और यह समता ही कर्मोंमें बुद्धिमत्ता है। इस समतासे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

यदि कहें कि शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती, सो ठीक है; किंतु जिस ज्ञानकी महिमा गीतादि शास्त्रोंमें बतलायी गयी है, वह उच्च-से-उच्च परमात्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान कर्मयोगीको निष्काम कर्मके साधनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर अपने आप ही हो जाता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(गीता ४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'



सब प्राणियोंके हितमें तत्पर योगी

यहाँ 'स्वयं' शब्दसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसे किसी दूसरे साधन या मनुष्यके आश्रयकी आवश्यकता नहीं है, उस ज्ञानकी प्राप्तिमें साधककी स्वतन्त्रता है।

तथा निष्काम कर्मसे सारे पापोंका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि भी अपने-आप हो जाती है।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

(गीता ४। २३ का उत्तरार्ध)

'निष्काम कर्मरूप यज्ञसम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं।'

इसीलिये—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥

(गीता ५। ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

इस प्रकार अन्तःकरण शुद्ध होनेपर निष्काम कर्मके प्रभावसे उसे परमात्मामें निष्ठावाली वह परम शान्ति मिल जाती है जो परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद मिलती है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्॥

(गीता ५। १२ का पूर्वार्ध)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है ।'

इस प्रकार कर्मयोगसे शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति (गीता ५ । ६), परमात्माकी प्राप्ति (गीता ३ । १९), ज्ञानकी प्राप्ति (गीता ४ । ३८), पुण्य-पापका विलय (गीता ४ । २३), अन्तःकरणकी शुद्धि (गीता ५ । ११), शान्तिकी प्राप्ति (गीता २ । ७१; ५ । १२), कर्मयोगकी सुगमता (गीता ५ । ३) और श्रेष्ठता (गीता ५ । २, ६ । १, १२ । १२) ऊपर बतलायी गयी । इसके सिवा भगवान्‌ने यज्ञ-तपादि शास्त्रविहित उत्तम कर्मोंके आचरणको विवेकवान् मनुष्योंको पवित्र करनेवाला बताया है ।

> **यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।**
> **यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥**
> (गीता १८ । ५)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं ।'

तथा यज्ञ, दान, तप और अन्यान्य शास्त्रविहित कर्मोंको भी फल और आसक्तिका त्याग करके अवश्य ही करना चाहिये, यह भगवान्‌ने अपना सिद्धान्त बताया है—

> **एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।**
> **कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥**
> (गीता १८ । ६)

'इसलिये हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये—यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।'

जब मनुष्य कर्म करता है तब यही सोचता है कि इससे मुझे क्या मिलेगा । इस प्रकार स्वार्थको लेकर ही मनुष्य कर्मोंमें प्रवृत्त होता है । यह सकाम भाव है । किंतु इस स्वार्थका त्याग करके मनुष्यको यह भाव रखना चाहिये कि मेरी इस क्रियासे प्राणीमात्रका क्या हित होगा; क्योंकि जो दूसरोंका हित है वही परम धर्म है और जो दूसरोंका अहित है वही पाप है । श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

(राम० उत्तर० ४० । १)

अतः जिसके हृदयमें दूसरेका हित निवास करता है उसके लिये संसारमें कोई भी चीज दुर्लभ नहीं है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

(राम० अरण्य० ३० । ५)

उत्तम श्रेणीके महापुरुषोंके लक्षण बताते हुए भगवान्‌ने गीतामें भी यही कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

(५ । २५)

'जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका

जीता हुआ मन निश्चल भावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरु
शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ।'

इसलिये अपने मन, वाणी और शरीरकी चेष्टाके द्वारा हमें वह कार्य करना चाहिये जिसमें दूसरेका हित हो । जिसमें दूसरेका हि न हो वह नहीं करना चाहिये । एवं जिसमें दूसरेका अहित हो व तो कभी करना ही नहीं चाहिये । बल्कि जिससे दूसरोंका परम हित (परम सेवा) हो, उसीमें अपना जीवन लगा देना चाहिये । किसीको लौकिक विषयक सुख पहुँचाना सेवा है और आध्यात्मिक लाभ पहुँचाना परम सेवा है । किंतु सेवा करनेवाला निष्काम भावसे किसी भी प्रकारकी सेवा करता है तो उसके लिये वह परम सेवा ही है। सबके परम हितमें रत होकर सबकी निष्काम भावसे परम सेवा करना ही कल्याणकामी मनुष्यका परम कर्तव्य और परम उद्देश्य होना चाहिये ।

इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें, भोगोंमें, शरीरमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें ममता, आसक्ति, अभिमान और स्वार्थका त्याग करके निष्काम भावसे आत्माके कल्याणके लिये यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, यम-नियम-पालन, माता-पिताकी सेवा, सबके साथ उत्तम व्यवहार, दुखी, अनाथ एवं सम्पूर्ण प्राणीमात्रका हित आदि शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका आचरण मन, तन, धन, जनसे तत्परताके साथ करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करे ।

कर्मयोगका रहस्य

कर्मयोगका रहस्य बड़ा ही गहन है। इसका वास्तविक तत्त्व या तो श्रीपरमेश्वर जानते हैं या वे महापुरुष भी जानते हैं, जिन्होंने कर्मयोगद्वारा परमेश्वर (परमात्मा) को प्राप्त कर लिया है। मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये तो इस रहस्यका व्यक्त करना अत्यन्त ही कठिन है; क्योंकि कर्मयोगके रहस्यको वास्तवमें मैं अच्छी प्रकार नहीं जानता। इसके अतिरिक्त यत्किञ्चित्—जितना कुछ जानता हूँ उतना कह नहीं सकता और जितना कहता हूँ उतना स्वयं काममें नहीं ला सकता, तथापि अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कर्मयोगके रहस्यका कुछ अंश प्रश्नोत्तरके रूपमें व्यक्त करनेका प्रयत्न करता हूँ। श्री-भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्म-योगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

प्रश्न—निष्काम कर्मयोगके आरम्भका नाश नहीं होता, इसका क्या अभिप्राय है? क्या एक बार प्रारम्भ होनेपर यह चालू ही रहता है, या जितना बन गया, उसका नाश नहीं होता?

उत्तर—पूर्वसंचित पाप, अहंता-ममता और आसक्ति आदि अवगुणोंके कारण तथा विषय-भोगोंका एवं प्रमादी विषयी पुरुषोंका सङ्ग

होनेसे मार्गमें रुकावट तो हो जाती है; किंतु निष्कामकर्मयोगरूप धर्मका जितना पालन हो जाता है उसका नाश नहीं होता; क्योंकि फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वभावसे किये हुए साधनके नाश होनेका कोई भी कारण नहीं है। फलकी इच्छासे किया हुआ कर्म ही फलको देकर समाप्त होता है।

प्र०—प्रत्यवाय यानी उलटे फलरूप दोषका भागी नहीं होता इसका क्या अभिप्राय है ?

उ०—मनुष्य जैसे अपना उपकार करनेवालेकी सेवा न करनेसे दोषका भागी होता है तथा जैसे देव, पितर, राजा, मनुष्यादिकी सेवामें किसी कारणवश त्रुटि हो जानेपर उनके रुष्ट होनेसे उसका अनिष्ट भी हो सकता है; किंतु निष्काम कर्मयोगके पालनमें त्रुटि रहनेपर भी उसका उलटा फल यानी कर्ताका अनिष्ट नहीं होता तथा नहीं पालन करनेसे वह दोषका भागी भी नहीं होता।

प्र०—कोई-कोई प्रत्यवाय शब्दका विघ्न अर्थ करते हैं, क्या यह भी बन सकता है ?

उ०—'विघ्न' अर्थ युक्तिसंगत नहीं है। निष्काम कर्मयोगरूप धर्मके पालनमें विघ्न-बाधा तो आ सकती है, किंतु उसका परिणाम बुरा नहीं होता; अच्छा ही होता है। (गीता ६। ४०–४२)

प्र०—यहाँ 'अपि' शब्द किस बातका द्योतक है ?

उ०—जब कि इस निष्काम कर्मयोगका थोड़ा साधन भी महान् भयसे उद्धार करनेवाला है, तब इसका पूर्ण साधन महान् भयसे मुक्त कर देता है, इसमें तो कहना ही क्या है।

प्र०—इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी पालन महान् भयसे कैसे उद्धार करता है ?

उ०—निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी पालन संस्कार-के बलसे क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर अन्तमें साधकको मुक्त कर देता है।

प्र०—जब कि यह निष्काम कर्मयोगका थोड़ा साधन वृद्धिको प्राप्त होकर ही महान् भयसे उद्धार करता है तब फिर थोड़ेका क्या महत्त्व रहा ?

उ०—निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है। अतः वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्कामी बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है, यही इसका महत्त्व है।

प्र०—जो लोग धार्मिक संस्थाओंमें स्वार्थ त्यागकर बिना वेतन लिये या स्वल्प वेतन लेकर तन-मनसे काम करनेवाले हैं, उनका कर्म स्वार्थरहित होनेके कारण उसे तो निष्काम कर्मयोग ही मानना चाहिये, किंतु निष्काम कर्मयोगके पालन करनेसे जितना लाभ बतलाया जाता है उतना लाभ देखनेमें नहीं आता, इसका क्या कारण है ?

उ०—निष्काम कर्मयोगसे जितना लाभ होना चाहिये उतना लाभ अपने साधनसे होता नजर नहीं आता, इस प्रकार वे सेवा करनेवाले भाई भी कहते हैं; अतः सम्भव है कि निष्काम कर्म-

योगके रहस्यको न जाननेके कारण उनमें वास्तविक त्यागकी कमी है; इसीलिये वे पूरा लाभ नहीं उठा सकते, नहीं तो उन लोगोंको निष्काम कर्मयोगके साधनका जितना लाभ गीतादि शास्त्रोंमें बतलाया गया है, उसके अनुसार लाभ अवश्यमेव मिलता । केवल कञ्चन, कामिनीके बाहरी त्यागसे ही मनुष्य सर्वत्यागी नहीं होता । वास्तवमें कञ्चन-कामिनीका बाहरी त्याग निष्काम कर्मयोगके साधनमें उतना आवश्यक भी नहीं है, उसमें तो भावकी ही प्रधानता है । अतः इसमें स्त्री, पुत्र और धनादिसे मिलनेवाले विषयभोगरूप सुखत्यागके साथ-साथ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं राग, द्वेष, अहंता, ममता आदिके त्यागकी भी बड़ी आवश्यकता है। जबतक इन सबका त्याग नहीं होता, तबतक साधकको पूरा लाभ नहीं मिल सकता ।

प्र०--निष्काम कर्मयोगके अनुसार क्या इन लोगोंका थोड़ा भी साधन नहीं होता ?

उ०—जो जितना त्याग करता है उतने अंशमें उसका साधन अवश्य होता है तथा लाभ भी उसके अनुसार उसे अवश्य ही मिलना चाहिये ।

प्र०—जब कि कर्मयोगका थोड़ा भी साधन महान् भयसे तार देता है तो फिर अधिक न भी हो तो क्या आपत्ति है; क्योंकि उद्धार तो उसका हो ही जायगा ।

उ०—उद्धार तो होगा किंतु समयका नियम नहीं । न मालूम इस जन्ममें हो या जन्मान्तरमें; क्योंकि वह थोड़ा-सा साधन क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर ही उद्धार करेगा । अतएव

साधनकी कमीको मिटानेके लिये शीघ्र कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको तो तत्पर होकर ही प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये ।

प्र०—कर्मयोगके थोड़े साधनसे यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उ०—प्रथम तो कर्मयोगका स्वरूप समझना चाहिये । शास्त्रविहित उत्तम क्रियाका नाम कर्म है, उसमें आसक्ति और स्वार्थके सर्वथा त्यागपूर्वक समत्व-भावका यानी निष्कामभावका नाम योग है । यह निष्कामभाव ही इसका स्वरूप, प्राण और रहस्य है । इसलिये जिस कर्ममें निष्कामभाव है, उसीकी 'कर्मयोग' संज्ञा है । जिन शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओंमें निष्कामभाव नहीं है उनकी 'कर्म' संज्ञा है किंतु 'कर्मयोग' नहीं । इसलिये सकामभावसे आजीवन किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि ऊँचे-से-ऊँचे अनेकों कर्म भी क्षणभङ्गुर फल देनेवाले होनेके कारण महत्त्वके नहीं हैं, परंतु निष्कामभावसे अल्पमात्रामें किये हुए शास्त्रविहित कृषि, वाणिज्य, नौकरी और शिल्पक्रिया आदि साधारण कर्म भी परम कल्याणदायक होनेके कारण महान् हैं । अतएव जिसका नाम निष्काम कर्मयोग है उसका थोड़ा भी पालन यानी अल्पमात्रामें किया हुआ भी वह साधन क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होकर महान् भयसे मुक्त कर देता है; किंतु सकामभावसे किये हुए शास्त्रविहित बहुत-से कर्म भी जन्म-मरणरूप महान् भयसे मुक्त नहीं कर सकते ।

प्र०—निष्काम कर्मयोगका स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाइये ?

उ०—शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंमें फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वबुद्धिसे केवल भगवत्-अर्थ या भगवत्-अर्पण कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है । इसीको

गीतामें समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म, मत्कर्म इत्यादि नामोंसे कहा गया है ।

प्र०—कर्मोंमें फलके त्यागका क्या स्वरूप है ?

उ०—स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि सांसारिक सुखदायक सम्पूर्ण पदार्थोंकी इच्छा या कामनाका सर्वथा त्याग ही कर्मोंके फलका त्याग है ।

प्र०—आसक्तिका त्याग किसे कहते हैं ?

उ०—मन और इन्द्रियोंके अनुकूल सांसारिक सुखदायक प्राणियों, पदार्थों और कर्मोंमें चित्तको आकर्षण करनेवाली जो स्नेह-रूपा वृत्ति है; 'राग' 'रस' 'सङ्ग' आदि जिसके नाम हैं उसके सर्वथा त्यागका नाम आसक्तिका त्याग है ।

प्र०—भगवत्-आज्ञासे यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उ०—श्रुति, स्मृति, गीतादि सत्-शास्त्र तथा महापुरुषोंकी आज्ञा भगवत्-आज्ञा है ।

प्र०—समत्वबुद्धि किसे कहते हैं ?

उ०—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, यश-अपयश, जीवन-मरण आदि इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा-सर्वदा सम रहना समत्वबुद्धि है ।

प्र०—भगवत्-अर्थ और भगवत्-अर्पण कर्ममें क्या भेद है ?

उ०—फलमें कोई भेद नहीं । फल तो सबका ही परम श्रेय है यानी परमेश्वरकी प्राप्ति है । साधनकी प्रणालीमें कुछ भेद है ।

(क) भगवत्-अर्थ कर्म

स्वयं भगवान्‌की पूजा-सेवारूप कर्मोंको या भगवत्-आज्ञानुसार

शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको भगवत्-प्रेम, प्रसन्नता या प्राप्तिके लिये कर्तव्य समझकर केवल भगवान्‌के आज्ञापालनके लिये करना यानी कर्म करनेके पूर्व ही इन सब उद्देश्योंको या इनमेंसे किसी भी उद्देश्यको रखकर कर्मोंको करना भगवत्-अर्थ कर्म है ।

(गीता १२ । १०)

(ख) भगवत्-अर्पण कर्म

शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको तथा मन, वाणी, शरीरसहित अपने-आपको प्रभुकी वस्तु समझकर प्रभुके समर्पण कर देना यानी कर्मोंके करनेमें अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के परतन्त्र समझकर कठपुतलीकी भाँति स्वामीके हाथमें सौंप देना । कठपुतलियोंका तो जड होनेके कारण स्वयं नटके अधीन होकर रहना नहीं है, नट ही उनको अपने अधीन रखता है, किंतु इसका तो स्वयं स्वामीके अधीन होकर रहना है इसलिये इसमें यह और विशेषता है । इसके सिवा पद-पदपर स्वामीके स्वरूप और दयाका दर्शन करते हुए क्षण-क्षणमें मुग्ध होते रहना और सर्वस्व स्वामीका ही समझते हुए अभिमानसे रहित रहकर निमित्तमात्र बनकर प्रभुके आज्ञानुसार कर्मोंका करना सर्वोत्तम भगवत्-अर्पण कर्म है ।

(गीता ९ । २७-२८)

प्र०—क्या निष्काम कर्मयोगका यह साधन कष्टसाध्य है ?

उ०—वास्तवमें कष्टसाध्य नहीं है । हाँ, जो कष्टसाध्य मानते है उनके लिये कष्टसाध्य है और जो सुखसाध्य मानते हैं उनके लिये सुखसाध्य है ।

प्र०—यदि ऐसा है तो साधकको सुखसाध्य ही मानना चाहिये; किंतु जो कञ्चन, कामिनी, कुटुम्ब और शरीरके आरामको छोड़कर साधन करते हैं उनको भी यह कष्टसाध्य क्यों प्रतीत होता है ?

उ०—मनकी चञ्चलता यथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा एवं राग, द्वेष, ममता, अहंकार और अज्ञान आदि दोषोंके कारण तथा श्रद्धा और प्रेमकी कमी एवं इसके रहस्य और प्रभावको न जाननेके कारण यह कष्टसाध्य प्रतीत हो सकता है ।

प्र०—इस साधनमें रुकावट डालनेवाले दोषोंमें भी विशेष दोष कौन-कौन-से हैं ?

उ०—श्रद्धा और प्रेमकी कमी, मान और बड़ाईकी इच्छा, मनकी चञ्चलता, प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, आसक्ति और अहंकार प्रभृति विशेष दोष हैं ।

प्र०—इन सबके नाशके लिये साधकको क्या करना चाहिये ?

उ०—विवेक और वैराग्यद्वारा सारे विषय-भोगोंसे मनको हटाकर भगवान्‌की शरण रहते हुए श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्काम कर्मयोगके साधनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये । इस प्रकार चेष्टा करनेसे सम्पूर्ण दुःख और दोषोंका नाश होकर परम आनन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है ।

प्र०—'प्राणपर्यन्त चेष्टा करना' किसे कहते हैं ?

उ०—कञ्चन, कामिनी, भोग और आरामकी तो बात ही क्या है, निष्काम कर्मयोगरूप धर्मके थोड़े-से भी पालनके मुकाबलेमें

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और अपने प्राणोंको भी तुच्छ समझने एवं परम तत्पर होकर उसके पालनके लिये सदा-सर्वदा प्रयत्न करनेको प्राणपर्यन्त चेष्टा करना कहते हैं।

प्र०—इस प्रकारकी चेष्टा तत्परतासे न होनेमें क्या कारण है ?

उ०—इसके प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे न समझना।

प्र०—प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे जाननेके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—इसके प्रभाव और रहस्यको बतलानेवाले गीतादि शास्त्रोंका मनन एवं इसके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंका सङ्ग करके उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार कटिबद्ध होकर चेष्टा करनेसे इसके प्रभाव और रहस्यको मनुष्य तत्त्वसे जान सकता है। जो इस निष्काम कर्मयोगके रहस्य और प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है वह फिर इसको छोड़ नहीं सकता। तथा साधन करते-करते अहंता, ममता और आसक्ति आदि सारे दोषोंसे मुक्त हो जाता है और उसका सारे संसारमें भी सदा-सर्वदा समभाव हो जाता है। इस प्रकार जिसकी समतामें निश्चल-स्थिर स्थिति है उसकी परमात्मामें ही स्थिति है; क्योंकि परमात्मा सम है (गीता ५ । १९); इसलिये वह सारे दुःख, पाप और क्लेशोंसे छूटकर परम आनन्द और परम शान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति जिसकी अन्तकालमें भी हो जाती है, वह भी जन्म-मृत्युके महान् भयसे छूटकर विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

(गीता २ । ७२)

कर्मयोगकी सुगमता

शङ्का—बहुत-से भाई कहते हैं कि 'गीतामें श्रीभगवान्ने कर्मयोगकी प्रशंसा की है और ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको सुगम बतलाया है। इतना ही नहीं, बल्कि यहाँतक कहा है कि कर्मयोगके बिना ज्ञानयोगका सफल होना कठिन है (गीता ५। ६)। किंतु यह सुगमता समझमें नहीं आती। न वर्तमान कालमें ऐसे बहुत-से कर्मयोगी और न उनके द्वारा किया हुआ कर्मयोगका आचरण ही देखनेमें आता है; क्योंकि कर्मोंमें फल और आसक्तिके त्यागका नाम कर्मयोग है, किंतु फल और आसक्तिका त्याग करके कर्म किस प्रकारसे होते हैं; इस बातको समझानेवाला या करके दिखलानेवाला ऐसा कोई नहीं दीखता जिसको आदर्श मानकर हमलोग कर्मयोगके पथपर चल सकें। अतएव हम यह जानना चाहते हैं कि वास्तवमें क्या बात है। गीतामें जो कर्मयोग बतलाया है और जिसे सुगम कहा है, उसका सम्पादन तो बहुत ही कठिन प्रतीत होता है। यह कर्मयोग कथनमात्र है या सम्पादनयोग्य है? यदि सम्पादनके योग्य वास्तविक साधन हो तो उसके जाननेवाले और करनेवाले होने चाहिये; और यदि कोई भी जाननेवाला और करनेवाला नहीं, तो फिर यह सुगम साधन कैसे है?

समाधान—ज्ञानयोगका प्रकरण अति गहन, दुर्विज्ञेय और अति सूक्ष्म है; इससे सबके लिये उसका करना तो दूर रहा, समझना भी

कठिन है। इसलिये उसकी अपेक्षा कर्मयोगका साधन सुगम बतलाया गया है; क्योंकि जबतक अन्तःकरण मलिन है तबतक देहाभिमान है और देहाभिमानीसे ज्ञानयोगका साधन बनना अत्यन्त दुष्कर है। आसक्ति और स्वार्थत्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन करनेसे जब अन्तःकरण पवित्र होता है, तब उसमें ज्ञानयोगके सम्पादनकी योग्यता आती है; परंतु कर्मयोगमें ऐसी बात नहीं है। कर्मयोगके साधनका आरम्भ तो देहाभिमानके रहते हुए ही अन्तःकरणकी मलिन अवस्थामें भी हो सकता है और उसके द्वारा पवित्र हुई बुद्धिमें भगवत्कृपासे स्वाभाविक ही स्थिरता होकर और भगवद्भावका उदय होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। यही इसकी ज्ञानयोगकी अपेक्षा सुगमता और विशेषता है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें अध्याय ५, श्लोक २ में कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया है।

श्रीभगवान्‌ने आसक्ति और फल दोनोंके त्यागको कर्मयोग बतलाया है (गीता २ । ४८; १८ । ९), कहीं सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिके त्यागको कर्मयोग कहा है (६ । ४) और कहीं केवल सर्वकर्मफलके त्याग (१८ । ११) या कर्मफल न चाहनेको (६ । १) ही कर्मयोग कहा है। वास्तवमें इनमें सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं है। फल और आसक्ति दोनोंके त्यागका नाम ही कर्मयोग है। इसलिये दोनोंके त्यागको कर्मयोग कहना तो ठीक है ही; जहाँ कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिका त्याग कहा है वहाँ भी ऐसी ही बात है। कञ्चन, कामिनी, देह, मान-बड़ाई आदि पदार्थोंमें आसक्तिका त्याग होनेसे उन पदार्थोंके प्राप्त करनेकी इच्छाका यानी फलका त्याग स्वतः ही हो जाता है; क्योंकि फलकी

इच्छाके उत्पन्न होनेमें आसक्ति ही प्रधान कारण है। कारणके त्यागसे कार्यका त्याग स्वतः ही हो जाता है। इसलिये पदार्थोंमें आसक्तिके त्यागसे फलका त्याग स्वतः हो जानेके कारण पदार्थोंमें आसक्ति न होनेको कर्मयोग कहना युक्तिसंगत ही है। अब रही केवल सर्वकर्मफलके त्यागकी या कर्मफल न चाहनेकी बात, सो कर्मफलके त्यागसे आसक्तिका त्याग हो जाता है और आसक्तिके त्यागसे कर्मफलका त्याग हो जाता है। अर्थात् एकके त्यागसे दूसरेका त्याग स्वाभाविक ही हो जाता है। इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छाका त्याग ही फलकी इच्छाका त्याग है, इसीको स्वार्थत्याग कह सकते हैं। इस स्वार्थत्यागरूप धर्मके सेवनसे समस्त अनर्थोंकी मूल हेतु आसक्तिका शनैः-शनैः त्याग हो जाता है, इसलिये फलके त्यागसे स्वतः ही आसक्तिका त्याग हो जानेके कारण सर्वकर्मफलके त्याग या कर्मफल न चाहनेको कर्मयोग बतलाना भी युक्तिसंगत है।

यदि कोई कहे कि 'जब सर्वकर्मफलके त्याग या कर्मफलके न चाहनेको ही कर्मयोग कहते हैं, तब फिर श्रीभगवान्‌ने जगह-जगह कर्मफलके त्यागके साथ ही जो आसक्तिके त्यागकी बात कही है उसकी क्या आवश्यकता है?' इसका उत्तर यह है कि कर्मफलके त्यागसे आसक्तिका त्याग होकर ही कर्मयोगकी सिद्धि होती है और आसक्तिका त्याग हुए बिना सर्वथा स्वार्थत्यागपूर्वक कर्म हो नहीं सकते। अतएव स्वार्थके त्यागसे आसक्तिका त्याग उसके अन्तर्गत ही समझ लेना चाहिये। असलमें दोनोंका त्याग ही कर्मयोग है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये 'आसक्तिसहित कर्मफलका त्याग ही कर्मयोग है' भगवान्‌का यह कथन युक्तियुक्त ही है।

प्रायः सभी संसारके मनुष्य मोहरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त-से हो रहे हैं। उनमें कोई-सा ही समझदार पुरुष आत्माके कल्याणके लिये कोशिश करता है और कोशिश करनेवालोंमें भी कोई-सा ही पुरुष उस परमात्माको पाता है (गीता ७।३)। ऐसी परमात्माकी प्राप्तिरूप अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषोंसे हमारी भेंट होनी भी दुर्लभ ही है। भेंट होनेपर भी श्रद्धाकी कमीसे हम उन्हें पहचान नहीं सकते। इसलिये वर्तमान कालमें ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए योगी और ऐसे योगियोंद्वारा किये हुए आचरण यदि देखनेमें नहीं आते तो इसमें क्या आश्चर्य है?

भगवान्‌ने स्वयं भी (गीता ४।२ में) कहा है कि यह कर्मयोग बहुत कालसे नष्ट हो गया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि उस कालमें भी इस योगको समझनेवाले बहुत लोग नहीं थे और इस समय भी बहुत नहीं हैं; क्योंकि सारे भूत-प्राणी रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे संसारमें मोहित हो रहे हैं। इसलिये परमात्माके बतलाये हुए इस कल्याणमय कर्मयोगके रहस्यको नहीं जानते। जिन पुरुषोंका स्वार्थत्यागरूप कर्मद्वारा पाप नष्ट हो गया है, वही पुरुष इस कर्मयोगके रहस्यको जानते हैं।

वस्तुतः आजकल परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंका अभाव है—ऐसा नहीं कहा जा सकता; परंतु हमें श्रद्धाकी कमीके कारण उनका दर्शन और परिचय नहीं प्राप्त होता। ऐसी अवस्थामें जब कर्मयोगका आचरण करके बतलानेवाला हमें कोई नहीं दीखता तो कल्याणकी इच्छावाले पुरुषको भगवान्‌के बतलाये हुए उपदेशोंको ही आदर्श मानकर तदनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गीतामें बतलाया हुआ कर्मयोग कथनमात्र नहीं है, सम्पादन करने योग्य है। किंतु उसके सम्पादनका तत्त्व न जानने तथा शरीर और संसारके पदार्थोंमें आसक्ति होने एवं श्रद्धाकी कमी होनेके कारण ही कठिन प्रतीत होता है, वास्तवमें कठिन नहीं है। भगवान्‌के कहे हुए वचनोंमें विश्वास करके उनके आज्ञानुसार स्वार्थके त्यागपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करते रहनेसे आसक्तिका नाश और कर्मयोगके तत्त्वका ज्ञान होता चला जाता है। इस प्रकार करते हुए जब आसक्तिका नाश और कर्मयोगके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, तब कर्मयोगका सम्पादन कठिन नहीं प्रतीत होता।

कर्मोंमें सब प्रकारके फलकी इच्छाके त्यागका नाम ही स्वार्थ त्याग है। स्वार्थत्यागयुक्त कर्मोंसे राग-द्वेषादि दुर्गुणोंका एवं राग-द्वेषादिसे होनेवाले दुराचारोंका नाश हो जाता है। अतएव मनुष्यको उचित है कि भगवान्‌के शरण होकर स्वार्थत्यागयुक्त कर्मोंका सम्पादन करे। किंतु इस बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये कि कर्मोंमें स्वार्थत्याग किसका नाम है। हम मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी भी शास्त्रविहित कर्मका आरम्भ करते हैं और उसका फल स्त्री, धन, पुत्र और शरीरका आराम आदि नहीं चाहते, इतने मात्रसे ही स्वार्थका त्याग नहीं समझा जाता। इन सबका त्याग तो मनुष्य मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी कर सकता है। अतएव इन सबके त्यागके साथ-साथ मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका एवं स्वर्गादिके भोगकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके उस त्यागके अभिमानका भी त्याग होनेसे सर्वथा स्वार्थत्याग समझा जाता है।

हमलोग छोटे-छोटे स्वार्थोंके लिये परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे

स्वार्थको जो खो बैठते हैं, इसमें हमारी बेसमझी यानी मूर्खता ही कारण है। हमें इससे जो बड़ा भारी नुकसान होता है, इस बातपर मूर्खताके कारण हमारा विश्वास नहीं है। यत्किञ्चित् विश्वास है भी तो वह शङ्कायुक्त है; क्योंकि परमानन्द और परमशान्तिकी प्राप्तिकी बातें हम ग्रन्थोंमें पढ़ते हैं, इनकी प्राप्ति तो कभी हुई नहीं। शास्त्र और महात्मा पुरुष कहते हैं, 'मान और बड़ाईकी इच्छाको विषके समान समझकर त्याग दो। ये मान और बड़ाई भगवत्प्राप्तिके मार्गमें बड़े भारी कण्टक हैं। साधकके लिये भगवान्‌के मार्गमें बाधा देनेवाले हैं एवं इनकी विशेष लालसा होनेसे तो ये दम्भ और पाखण्डको उत्पन्न करके साधकका पतन करनेवाले भी हो जाते हैं।' बुद्धिद्वारा विचार करनेपर ऐसी प्रतीति भी होती है; परन्तु मान और बड़ाईकी प्राप्ति होनेपर प्रत्यक्षमें सुख प्रतीत होता है और उसमें आसक्ति उत्पन्न होकर मान-बड़ाईकी इच्छा हो ही जाती है। इन सभी बातोंमें हेतु हमारी बेसमझी यानी मूर्खता ही है। जैसे कोई रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके वशीभूत हो कुपथ्यका सेवन करके अपना दुःख बढ़ा लेता है, कोई-कोई तो मृत्युको प्राप्त हो जाता है। इस कुपथ्यके सेवनमें भी विचार करके देखा जाय तो जैसे रोगीकी मूर्खता ही हेतु है, इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, देह और मान-बड़ाई आदिमें जो हमारी आसक्ति है, उसमें भी मूर्खता ही हेतु है। जो रोगी वैद्य, औषध और पथ्यपर श्रद्धा करके कुपथ्यसे बचकर औषधका सेवन और पथ्यका पालन करता है, वह नीरोग हो जाता है। ऐसे ही जो मनुष्य शास्त्र और महापुरुषोंद्वारा बतलाये हुए दुर्गुण और दुराचाररूप कुपथ्यको त्यागकर श्रद्धापूर्वक निष्काम-

भावसे ईश्वरभक्तिरूप औषधका सेवन और सदाचार-सद्गुणरूप पथ्यका पालन करता है, वह जन्म-मरणरूप महान् भवरोगसे मुक्त हो जाता है। लौकिक औषधका सेवन करनेवाला तो अदृष्ट प्रतिकूल होनेसे शायद नीरोग नहीं भी होता, परन्तु इस औषध तथा पथ्यका सेवन करनेवाला तो निश्चय ही जन्म-मरणरूप दुःखोंसे मुक्त हो जाता है; क्योंकि इसमें अदृष्ट बाधक नहीं हो सकता।

हमलोग जितने कर्म करते हैं, सबमें प्रथम यही भाव मनमें उत्पन्न होता है कि इससे हमको क्या लाभ होगा। स्वाभाविक ही इस प्रकार हमारी बुद्धि स्वार्थकी ओर चली जाती है। अतएव क्रियाके आरम्भके समय जब स्वार्थबुद्धि उत्पन्न हो तभी उसका बाध कर देना चाहिये। हम जिसको लाभ समझते हैं, वह सांसारिक लाभ वास्तवमें लाभ ही नहीं है। लाभ वही है जो वास्तविक हो और जिसका कभी अभाव न हो। ऐसा वास्तविक लाभ सांसारिक लाभोंके त्यागसे प्राप्त होता है। अतएव क्रियाके आरम्भके समय व्यक्तिगत भौतिक स्वार्थकी जो इच्छा उत्पन्न हो उसको अनर्थका मूल समझकर तुरंत उसका त्याग कर देना चाहिये।

हमलोगोंमें भौतिक स्वार्थकी मात्रा इतनी बढ़ गयी है कि हम अपने असली स्वार्थको तो समझ ही नहीं पाते। इसके लिये हमें पद-पदपर परमेश्वरका स्मरण करके उनसे प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे हम सदा सावधान रह सकें और अपना असली स्वार्थ वस्तुतः किस बातमें है—इसको समझकर अनर्थकारी भौतिक स्वार्थोंसे बच सकें।

जिन पुरुषोंने भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्वको समझकर भगवान्‌की शरण ग्रहण कर ली है, उनके लिये तो यह कर्मयोगका

तत्त्व और भी सुगम है। यद्यपि पुत्र, स्त्री, गृह, धन और देहादिमें प्रीति होनेके कारण इनकी प्राप्तिरूप स्वार्थकी इच्छाका त्याग होना कठिन है तथा मान-बड़ाईका त्याग तो इनसे भी अत्यन्त ही कठिन है। शरीर और संसारमें आसक्ति होनेके कारण संसारके पदार्थोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है और आवश्यकताके कारण कामना होती है एवं कामनाकी पूर्तिके लिये मनुष्य कर्मोंका सम्पादन करता है। उनसे कामनापूर्ति न होनेपर वह याचनातक करनेको प्रवृत्त हो जाता है। अतएव इन सब अनर्थोंका मूल आसक्ति ही है, जिसे हम 'राग' कह सकते हैं। यह राग अनुकूलतामें होता है और सुखके देनेवाले पदार्थ ही मनुष्यको अनुकूल प्रतीत होते हैं। इससे प्रतिकूल दुःखदायी पदार्थोंमें द्वेष होता है और उस द्वेषसे वैर, ईर्ष्या, क्रोध, भय और संताप आदि अनेकों दुर्भाव उत्पन्न होकर हिंसादि कर्मके द्वारा मनुष्यका पतन हो जाता है। अतएव सारे अनर्थोंके हेतु ये राग-द्वेष ही हैं। इन राग-द्वेषका कारण मोह (अज्ञान) है। भगवान्‌की कृपासे जब इस बातका रहस्य पूर्णतया मनुष्यकी समझमें आ जाता है, तब उसके रागद्वेष क्षीण हो जाते हैं और क्षीण हुए राग-द्वेष श्रीपरमेश्वरके नाम, रूप, गुण और प्रभावके स्मरण और मननसे नष्ट हो जाते हैं। फिर मन और इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही उसके अधीन हो जाती हैं। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा आसक्ति और स्वार्थके त्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन बड़ी सुगमतासे होता है, जिससे वह परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।



कर्मयोगके पाँच भेद

श्रीमद्भगवद्गीता एक छोटा-सा ग्रन्थ है, किंतु निष्काम कर्म और निष्काम भक्तिका जैसा तत्त्व-रहस्य इसमें भरा हुआ है, वैसा एकत्र कहीं नहीं मिलता। श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि समस्त शास्त्रोंका सार इसमें गागरमें सागरकी भाँति भरा हुआ है। इसके अर्थ और भावको समझकर धारण कर लेनेपर यानी उसके अनुसार अपना जीवन बना लेनेपर और कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भली प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, गायन, मनन और धारण करना चाहिये, फिर अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है ।'

'पद्मनाभ' कहनेका भाव यह है कि यह गीता उन्हीं भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं। अब यहाँ गीतोक्त कर्मयोगके विषयमें विचार किया जाता है। गीतामें कर्मयोगका जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह संक्षेपमें इस प्रकार है—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिन कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान है, जिनका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये आवश्यक कर्तव्य माना गया है, उन शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक, अपना कर्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मोंमें और उनके फलोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें और उसके फलमें सदा ही सम रहना; परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वसुहृद् और सर्वप्रेरक समझकर एवं अपनेको सर्वथा उनके अधीन मानकर समस्त कर्मों और उनके फलोंको भगवान्‌के समर्पण करना; उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी पूजा समझकर जैसे वे करवावें, वैसे ही सम्पूर्ण कर्मोंको करना; किंतु ऐसा करते हुए भी उन कर्मोंमें और उनके फलोंमें किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना न रखना; भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सदा ही परम संतुष्ट रहना तथा उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ।

इस कर्मयोगको हम पाँच भेदोंमें विभक्त कर सकते हैं—
१. केवल कर्मयोग, २. भक्ति-गौण कर्मयोग, ३. भक्ति-सामान्य कर्मयोग,
४. भक्तिप्रधान कर्मयोग और ५. केवल भक्तियोग ।

१. केवल कर्मयोग

जिस साधनमें ईश्वरकी भक्ति यानी भजन-ध्यानादि रूप उपासनाका सम्मिश्रण नहीं रहता और केवल निष्काम तथा अनासक्त भावसे कर्मका अनुष्ठान किया जाता है, वह 'केवल कर्मयोग' है । केवल कर्मयोगका वर्णन गीतामें यों मिलता है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(२ । ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलमें कभी नहीं इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो यानी ममता, आसक्ति और वासनासे रहित हो जा तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥
(गीता ५ । ३)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।'

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

(गीता ६ । १)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है ।'

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

(गीता ६ । ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है ।'

उपर्युक्त सभी श्लोकोंमें कर्म और उसके फलमें आसक्ति और कामना आदिका त्याग करते हुए यानी निष्काम भावसे ही कर्म करनेका आदेश एवं संकेत है, अतः इनमें 'केवल कर्मयोग'का ही वर्णन है, भक्तिका सम्मिश्रण नहीं है ।

इसी प्रकार गीतामें केवल कर्मयोगविषयक और भी बहुत-से श्लोक हैं; जैसे—२। ४८, ५१, ६४; ३। ७; ५। ६, ११-१२; १२। ११-१२; १८। ९, ११ आदि-आदि।

२. भक्ति-गौण कर्मयोग

जिस साधनमें कर्मकी तो प्रधानता है, किंतु साथमें ईश्वरकी भक्तिका भी सम्बन्ध है, वह 'भक्ति-गौण कर्मयोग' है। भक्ति-गौण कर्मयोगका वर्णन गीतामें यों मिलता है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
(गीता २। ४५)

'हे अर्जुन! वेद तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों और उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं, इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य वस्तु परमात्मामें स्थित, योग-क्षेमको न चाहनेवाला और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो।'

यहाँ आगे-पीछे कर्मयोगका प्रसङ्ग है और इस श्लोकमें 'नित्यसत्त्वस्थ' यानी परमात्मामें स्थित होनेका आदेश है, अतः इस कर्मयोगमें भक्तिका भी सम्मिश्रण है।

इसी प्रकार—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गीता ३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

यद्यपि तीसरे अध्यायमें प्रधानतया केवल कर्मयोगका ही विषय है तथापि प्रकरणवश कोई-कोई श्लोक भक्ति-गौण और भक्ति-प्रधान कर्मयोगका भी आ गया है। जैसे तीसरे अध्यायके उक्त १९ वें श्लोकमें तो भक्ति-गौण कर्मयोगका और ३० वें श्लोकमें भक्ति-प्रधान कर्मयोगका वर्णन है। १९ वें श्लोकमें अनासक्त भावसे कर्म करनेका आदेश होनेसे उसमें निष्काम कर्मकी प्रधानता है; क्योंकि आसक्तिके अभावके अन्तर्गत ही कामनाका अभाव है और इस साधनके फल-स्वरूप साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, अतः भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य होनेसे कर्मयोगके साथ भगवान्की भक्ति भी मानी गयी है।

इसी तरह—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

(गीता ४ । १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ।' जिसको कर्मोंके फलकी स्पृहा—परवा नहीं है, वह निष्काम कर्मयोगी है और 'कर्मफल-स्पृहा न होनेके कारण भगवान्को कर्म लिप्त नहीं करते' यों भगवान्को जानना भगवान्की भक्ति है।

अतः इस श्लोकमें भी कर्मयोगके साथ भगवान्‌की भक्ति गौण मानी गयी है।

३. भक्ति-सामान्य कर्मयोग

जिस साधनमें कर्मकी प्रधानता होनेपर भी ईश्वरभक्तिकी भी प्रधानता रहती है वह भक्तिसामान्य कर्मयोग है। जैसे—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

(गीता १७। २४)

'इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।'

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

(गीता १७। २५)

'तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ-तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं।'

यहाँ २४ वें श्लोकमें भगवान्‌के नाम—ॐ का उच्चारण करके कर्मोंको करनेका प्रतिपादन है और २५वें श्लोकमें कहा हुआ 'तत्' शब्द ईश्वरका वाचक है, इसलिये इन दोनों श्लोकोंमें कर्मयोगके साथ भक्तिका भी मिश्रण है।

इसी प्रकार—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसमें कर्मकी प्रधानता होते हुए भी ईश्वरकी भक्तिका पर्याप्त सम्मिश्रण है। १८ वें अध्यायके ४२ वें श्लोकमें ब्राह्मणके, ४३ वेंमें क्षत्रियके और ४४ वेंमें वैश्य तथा शूद्रके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करनेके पश्चात् ४५ वेंमें भगवान्ने 'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें भलीभाँति लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है उस विधिको तू सुन'—ऐसा अर्जुनसे कहकर इस ४६ वें श्लोकमें उसीकी यह विधि बतायी है—परमात्मासे ही सम्पूर्ण जगत्के प्राणी उत्पन्न होते हैं और परमात्मा सबमें व्यापक हैं—ऐसा समझकर अपने-अपने कर्तव्यकर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करनेसे परम सिद्धि मिलती है। अतः सबकी सेवा भगवान्की ही सेवा है—यों प्राणिमात्रमें भगवद्भाव करके उनकी सेवारूप ईश्वरकी पूजा करना—यह भक्तिका भाव है और सेवारूप कर्म करना कर्म है। इसमें कर्मकी प्रधानता होते हुए भक्तिकी भी प्रधानता है। अतः यह 'भक्ति सामान्य कर्मयोग' है।

४. भक्तिप्रधान कर्मयोग

जिस साधनमें भक्तिकी ही प्रधानता हो और कर्म गौण हो, वह 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' है। जैसे—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
(गीता १२ । ६)

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं ।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
(गीता १८ । ५७)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ।'

इन दोनों ही श्लोकोंमें शास्त्रविहित कर्मोंका करना तो कर्म है और कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करना, उनके परायण रहना तथा अनन्य भक्तियोगसे उनको निरन्तर चिन्तन करते हुए भजना—इनमें भक्ति ही मुख्य है । अतः यह 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' है ।

भक्तिप्रधान कर्मयोगके भी दो भेद हैं—(१) भगवदर्पण, (२) भगवदर्थ । भगवदर्पण कर्म वह है जिसमें जो कुछ भी शास्त्रविहित कर्म किया जाता है, वह भगवान्‌के अर्पण करके किया जाता है यानी यह सब कुछ भगवान्‌का है, मैं भी भगवान्‌का हूँ और मेरेद्वारा जो कर्म होते हैं वे भी भगवान्‌के ही हैं—यों समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवदर्पण बुद्धिसे कर्म किया जाता है । भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यास-योगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।' यह 'भगवदर्पण कर्म' है।

भगवदर्थ कर्म वह है जो भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवदाज्ञानुसार किया जाता है। जैसे—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

५. केवल भक्तियोग

जिस साधनमें केवल भक्ति ही हो, कर्मोंका मिश्रण न हो, वह 'केवल भक्तियोग' है। जैसे—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त हुआ सदा ही नि मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन क हुए निष्कामभावसे भजते हैं उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करने पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ ।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । ९-१०

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अ करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभाव जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते है उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवा

भक्तोंको मैं वह यथार्थ ज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

(गीता १२ । ८)

'मुझमें ही मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा, इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(गीता १४ । २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंको लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है ।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

(गीता १८ । ६५)

'हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर । ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ।'

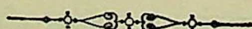
उपर्युक्त श्लोकोंमें यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंका उल्लेख नहीं है, केवल अनन्य और निष्कामभावसे निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करना, उन्हें प्रेमपूर्वक भजना, उनके गुण-प्रभावका कथन करना, मन-बुद्धिको

उन्हींमें लगा देना एवं उन्हींकी उपासना करना आदिका ही वर्ण
है, जो सभी भक्तिके ही वाचक हैं और उन सबका फल भगवान्‌
प्राप्ति है। गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर सारे संसार
लिये ही अपनी अनन्यभक्तिका निरूपण किया है।

इन श्लोकोंके सिवा, केवल भक्तिविषयक और भी बहुत-से श्लो
मिलते हैं। जैसे—८।२२; ९।३४; ११।५४; १५।१
१८।६२ आदि-आदि।

ऊपर कर्मयोगके जो पाँच प्रकार बतलाये गये हैं, उनमें
किसी एकका भी साधन करनेसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है
यही नहीं, इन पाँचों प्रकारोंके जितने भी श्लोक ऊपर बताये गये हैं
उनमेंसे किसी भी एक श्लोकके अनुसार अपना जीवन बना लेने
परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। फिर जो अपने अधिकारानुसा
सम्पूर्ण गीताके अनुकूल ही अपना जीवन बना लेता है, उसके
परमात्माकी प्राप्ति हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है। इस कर्मयोग
अतिरिक्त, ज्ञानयोगके द्वारा भी परमात्माकी प्राप्ति होनेके बहुत-से श्लो
गीतामें हैं; किंतु यहाँ उसका प्रकरण न होनेसे उनका उल्लेख नहीं
किया गया। यहाँ तो कर्मयोगद्वारा परमात्माकी प्राप्ति होनेका ही
दिग्दर्शन कराया गया है।

अतएव कर्मयोगके साधकोंको कर्मयोगके उपरिनिर्दिष्ट पाँच
प्रकारोंमेंसे अपनी रुचि और विश्वासके अनुसार किसी एकका भी
श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परतासे साधन करना चाहिये।



सांख्ययोग और कर्मयोग

गीता अध्याय ५ श्लोक ५ में भगवान् कहते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको एक देखता है वही यथार्थ देखता है ।'

परंतु इस विषयमें यह शङ्का होती है कि यहाँ भगवान् सांख्य और योगके फलको एक कहते हैं या दोनोंका सिद्धान्त ही एक बतलाते हैं । यदि फल एक कहते हैं तो सिद्धान्त भिन्न-भिन्न होनेसे फल एक कैसे हो सकता है और यदि दोनोंका सिद्धान्त ही एक कहा जाय तो उचित नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि योग और सांख्यके सिद्धान्तमें परस्पर बड़ा अन्तर है ।

योगके सिद्धान्तमें फलासक्तिको त्यागकर मनुष्य ईश्वरके लिये कर्म करता है तो भी उसमें कर्तापनका अभिमान रहता है ।

सांख्यके सिद्धान्तसे कर्मका कर्ता मनुष्य नहीं है, उसके द्वारा कर्म होते हैं तो भी उन कर्मोंमें उस पुरुषका अभिमान नहीं रहता, वह तो केवल साक्षीमात्र ही रहता है ।

कर्मयोगी अपनेको, ईश्वरको तथा कार्यसहित प्रकृतिको पृथक्-पृथक् तीन सत्य पदार्थ मानता है; परंतु सांख्ययोगी ईश्वरकी सत्ताको अपनेसे अलग नहीं मानता, केवल एक आत्मसत्ता ही है, ऐसे मानता है तथा विकारसहित प्रकृतिको अन्तवन्त यानी नाशवान् मानता है। अतएव दोनोंका सिद्धान्त भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, फिर सांख्य और योगको यहाँ किस विषयमें एक बतलाया गया है ?

उपर्युक्त शङ्काका उत्तर यह है—

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

(गीता ५। ४)

'सांख्य और योग—इन दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है।' परमात्माकी प्राप्तिरूप फल दोनोंका एक ही है। परमधाम, परमपद और परमगतिकी प्राप्ति भी इसीको कहते हैं।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि सांख्य और योग—इन दोनों साधनोंका फल एक होनेके कारण इन्हें एक कहा है। फल एक होनेसे सिद्धान्त भी एक ही होना चाहिये, यह ठीक है परंतु यह कोई नियम नहीं है। मार्ग (साधन) और लक्ष्य भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं।

जैसे एक ही ग्रामको जानेके लिये अनेक रास्ते होते हैं, किसी रास्तेसे जाइये, परिणाम सबका एक ही होता है। जैसे किसी एक देश (अमेरिका) को जानेवालोंमें एक तो अपनी दिशा (भारतवर्ष) से पश्चिम-ही-पश्चिम जाता है और दूसरा पूर्व-ही-पूर्व

जाता है; किंतु चलते-चलते अन्तमें दोनों ही वहाँ पहुँच जाते हैं। रास्ता भिन्न-भिन्न होनेके कारण परस्पर एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर मालूम होता है। परंतु उस देशमें पहुँचनेपर वह अन्तर नहीं रहता।

इस प्रकार एक ग्रामको जानेके लिये जैसे अनेक मार्ग होते हैं, वैसे ही एक कार्यकी सिद्धिके लिये साधन भी अनेक हो सकते हैं।

जैसे सूर्य और चन्द्रग्रहणको सिद्ध करनेवाले पुरुषोंमें एक पक्ष तो कहता है कि पृथिवी स्थिर है, सूर्य और चन्द्रमा चलते हैं और दूसरा कहता है कि पृथिवी भी चलती है। दोनोंका मत भिन्न-भिन्न होनेके कारण एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर है, किन्तु फल दोनोंका एक होता है।

इसलिये साधन और मतकी अत्यन्त भिन्नता होनेपर भी दोनोंका उद्देश्य और परिणाम एक ईश्वरकी प्राप्ति होनेसे वह एक ही है।

अब सांख्य* और कर्मयोग† की एकताके विषयमें लिखा जाता है। उपासना दोनों ही साधनोंमें रहती है। उपासनारहित ज्ञान और कर्मयोग वैसे ही शुष्क हैं, जैसे बिना जलके नदी।

गीताके अनुसार सांख्ययोगीकी निष्ठामें विज्ञानानन्दघन केवल एक परमात्मतत्त्व ही अनादि, नित्य और सत्य है। उस विज्ञानानन्दघनके संकल्पके आधारपर एक अंशमें संसारकी प्रतीति होती है

*-† गीतोक्त सांख्य और कर्मयोगको महर्षि कपिलप्रणीत सांख्यदर्शनसे तथा महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगदर्शनसे भिन्न समझना चाहिये।

जैसे निर्मल आकाशके किसी एक अंशमें बादलकी। इसी
सांख्ययोगी विशुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर शोक, भय, राग-द्वे
ममता, अहंकार और परिग्रहसे रहित हुआ पवित्र और एकान्तदे
का सेवन करता है। एवं मन, वाणी तथा शरीरको वशमें कि
हुए, सम्पूर्ण भूतोंमें समभाव होकर आत्मतत्त्वका विवेचन क
हुआ प्रशान्त-चित्तसे परमात्माके स्वरूपका एकीभावसे इस प्रक
ध्यान करता है कि एक आनन्दघन विज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमा
ही परिपूर्ण है। उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उ
ब्रह्मका ज्ञान भी उस ब्रह्मको ही है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है
उसका कभी अभाव नहीं होता। इसलिये उसे सत्य, सनात
और नित्य कहते हैं। वह सीमारहित, अपार और अनन्त है
मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो
कुछ है, सब ब्रह्मस्वरूप ही है। वास्तवमें एक पूर्णब्रह्म परमात्मा
सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा 'पूर्ण-आनन्द' 'अपार-आनन्द
'शान्त-आनन्द' 'घन-आनन्द' 'बोधस्वरूप-आनन्द' 'ज्ञानस्वरू
आनन्द' 'परम-आनन्द' 'नित्य-आनन्द' 'सत्-आनन्द' 'चेतन
आनन्द' 'आनन्द-ही-आनन्द' है। एक 'आनन्द' के सिवा औ
कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मनन करते-करते जब मनके समस
संकल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरू
आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका संकल्प है
नहीं रहता, तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्

में निश्चल हो जाती है । इस प्रकारसे ध्यानका नित्य नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्क होनेपर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस संसारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता है ।

सांख्ययोगी व्यवहार-कालमें चौबीस तत्त्वोंवाले* क्षेत्रको जड, विकारी, नाशवान् और अनित्य समझता है और सम्पूर्ण क्रिया—कर्मोंको प्रकृतिके कार्यरूप उस क्षेत्रसे ही किये हुए समझता है अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें वर्त रही हैं इस प्रकार समझता है । एवं नित्य, चेतन, अविनाशी आत्माको निर्विकार, अकर्ता तथा शरीरसे विलक्षण समझता है । यों समझकर वह सांख्ययोगी मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर कर्म करता हुआ भी कर्मोंद्वारा नहीं बँधता ।

वह सम्पूर्ण भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको केवल एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है और उस परमात्माके

---

* महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥
(गीता १३ । ५)

पाँच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्मभाव; अहंकार, बुद्धि और मूल-प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ।

संकल्पसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके विस्तारको देखता है। इ
प्रकार अभ्यास करते-करते अभ्यासके परिपक्व होनेसे वह ब्रह्म
एकीभावसे प्राप्त हो जाता है। यानी वह उस ब्रह्मको तद्रूपत
प्राप्त हो जाता है। जैसे गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५ । १७

'हे अर्जुन! जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्
हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निर
एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहि
होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

ब्रह्मको प्राप्त होनेके बाद पुरुषकी जो स्थिति होती है, उस
विषयमें कुछ भी लिखना वस्तुतः बड़ा ही कठिन है। तथ
साधु, महात्मा और शास्त्रोंके द्वारा यत्किञ्चित् जो कुछ समझ
आया है, वह पाठकोंकी जानकारीके लिये लिखा जाता है
त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें।

जैसे मनुष्य, बादलोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण प्रती
होनेवाले पृथक्-पृथक् आकाशके खण्डोंको बादलोंके नाश हो जा
पर उस एक अनन्त निर्मल महाकाशके अन्तर ही देखता
अर्थात् केवल एक अनन्त निर्मल आकाशके अतिरिक्त कुछ
नहीं देखता, वैसे ही ज्ञानी महात्मा मायासे उत्पन्न हुए शरीर
पृथक्-पृथक् विकारके कारण (अज्ञानसे) प्रतीत होनेवाले भू
(जीवों) के पृथक्-पृथक् भावोंको, उन जीवोंकी नाना सत्ता

अज्ञानके नाश हो जानेपर केवल उस एक अनन्त, नित्य-विज्ञानानन्दघन परमात्माके अन्तर ही देखता है अर्थात् वह केवल एक विशुद्ध, नित्य, विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं देखता। यद्यपि उस ज्ञानीके लिये संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है तो भी प्रारब्धके कारण उसके अन्तःकरणमें संसारकी प्रतीतिमात्र होती भी है।

जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी सृष्टिका उपादान-कारण और निमित्त-कारण अपने आपको ही देखता है, वैसे ही वह सम्पूर्ण चराचर भूतप्राणियोंका उपादान-कारण* और निमित्त-कारण† केवल विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको ही देखता है; क्योंकि जब एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं रहती, तब वह उस ब्रह्मसे भिन्न किसको कैसे देखे ? यही उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति है। इसीको परमपद, परमधाम और परमगतिकी प्राप्ति भी कहते हैं।

गीताके अनुसार कर्मयोगकी निष्ठामें प्रकृति यानी माया, जीवात्मा और परमेश्वर—ये तीन पदार्थ माने गये हैं। सातवें अध्यायमें भगवान्ने मायाके विस्तारको अपरा प्रकृति, जीवात्माको परा और परमेश्वरको अहंके नामसे वर्णन किया है। पंद्रहवें अध्यायमें इन्हीं तीनों पदार्थोंको क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके नाम

---

* उपादान-कारण उसे कहते हैं, जिससे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे घड़ेका उपादान-कारण मिट्टी और आभूषणोंका सुवर्ण है।

† निमित्त-कारण उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तुका निर्माण होता है। जैसे घड़ेका निमित्त-कारण कुम्हार और आभूषणोंका सुनार।

से कहा है । वे सर्वशक्तिमान् सबके कर्ता-हर्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वर उस नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं,* यानी विज्ञानानन्दघन ब्रह्म भी वही है । उन्होंने ही अपनी योग-मायाके एक अंशसे सम्पूर्ण संसारको अपनेमें धारण कर रक्खा है † । माया ईश्वरकी शक्ति है तथा जड, अनित्य और विकारी है एवं ईश्वरके अधीन है तथा जीवात्मा भी ईश्वरका अंश होनेके कारण नित्य विज्ञानानन्दघनस्वरूप है‡ । किंतु मायामें स्थित होनेके कारण परवश हुआ वह गुण और कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखादिको भोगता एवं जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है । परंतु परमात्माकी शरण होनेसे वह मायासे छुटकारा पाकर परमपदको प्राप्त हो सकता है । गीता अध्याय ७ श्लोक १४ में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

---

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(गीता १४ । २७)

† विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(गीता १० । ४२)

‡ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
(गीता १५ । ७)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है ।'

ईस्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
(राम० उत्तर० ११६ । १)

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, यानी मेरी शरण आ जाते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

इसलिये कर्मयोगी पवित्र और एकान्त स्थानमें स्थित होकर भी शरीर, इन्द्रिय और मनको स्वाधीन किये हुए परमात्माकी शरण हुआ प्रशान्त और एकाग्र मनसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक परमात्माका ध्यान करता है, ऐसे योगीकी भगवान्‌ने स्वयं प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

व्यवहारकालमें कर्मयोगी कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे भगवदाज्ञानुसार, भगवदर्थ कर्म करता है, इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते; क्योंकि राग-द्वेष ही बाँधनेवाले हैं। समत्वबुद्धि होनेसे राग-द्वेषका नाश हो जाता है। इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। ऐसे योगीकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'उसको नित्य-संन्यासी जानना चाहिये।'

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

(गीता ५। ३)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।'

भगवान्‌की आज्ञासे भगवदर्थ कर्म किये जानेके कारण उसमें कर्तापनका अभिमान भी निरभिमानके समान ही है । इसलिये वह निष्काम कर्मयोगी व्यवहारकालमें भगवान्‌की शरण होकर निरन्तर भगवान्‌को याद रखता हुआ भगवान्‌के आज्ञानुसार सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही करता है, जैसे गीता अध्याय १८ श्लोक ५६-५७ में भगवान्‌ने कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्‌व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ।'

इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब भगवान्‌की कृपासे उनके प्रभावको समझ जाता है तब वह सब प्रकारसे नित्य-निरन्तर भगवान् वासुदेवको ही भजता है । जैसे गीतामें कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(१५।१९)

'हे भारत ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

फिर उसको भजनके प्रभावसे सर्वत्र एक वासुदेव ही दीखता है। इसलिये वह वासुदेवसे कभी अलग नहीं हो सकता।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

इससे वह भगवान् वासुदेवको ही प्राप्त हो जाता है और उसके लिये यह सम्पूर्ण संसार भी वासुदेवके रूपमें परिणत हो जाता है। एक वासुदेवके सिवा कोई भी वस्तु नहीं रहती। वहाँ मायाका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

भक्ति, भक्त, भगवन्त सब एक ही रूपमें परिणत हो जाते हैं। इसलिये उस भक्तकी भगवान्‌से कोई अलग सत्ता नहीं रहती। तद्रूपतासे उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

इन शब्दोंसे जो सांख्ययोगके द्वारा साधन करनेवाले ज्ञानीको प्राप्त होनेयोग्य परमधाम बतलाया गया है, भगवान्‌की कृपासे वही परम धाम निष्काम कर्मयोगके साधन करनेवाले भक्तको प्राप्त होता है।

उसी महात्माकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

परंतु कोई-कोई भक्त अविद्याके नाश होनेपर भी भगवान्‌के रहस्यको जानता हुआ प्रेमके सामने मुक्तिको तुच्छ समझता है। और वह भगवान्‌को सेव्य और अपनेको सेवक या सखा समझकर भगवान्‌के प्रेमरसका पान करता है, उसके लिये भगवान्‌की माया लीलाके रूपमें परिणत हो जाती है। इसलिये वह पुरुष भगवान्‌में तद्रूपताको न प्राप्त होकर भगवान्‌की कृपासे दिव्य देहको धारण करके अर्चिमार्गके द्वारा स्थान-विशेष भगवान्‌के परम दिव्य नित्य-धामको प्राप्त होता है, वहाँ उस लीलामय भगवान्‌के साथ लीला करता हुआ नित्य प्रेममय अमृतका पान करता है; फिर दुःखके आलय इस अनित्य पुनर्जन्मको वह प्राप्त नहीं होता।

साधनकी परिपक्व अवस्था होनेसे दोनोंके ही राग-द्वेष, अहंता-ममता, भय एवं अज्ञान आदि विकार नाश हो जाते हैं

और वे तेज, क्षमा, धृति, शौच, संतोष, समता, शान्ति, सत्यता और दया आदि गुणोंसे सम्पन्न हो जाते हैं ।

सांख्ययोगीका कर्मोंमें कर्तृत्व-अभिमान न रहनेके कारण कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता और कर्मयोगी फलासक्तिको त्यागकर कर्मोंको ईश्वर-अर्पण कर देता है, इसलिये उसका कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता । सांख्ययोगी संसारका बाध करके विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी स्थापना करता है और निष्काम कर्मयोगी प्रकृतिसहित संसारको और अपने-आपको भी परमात्माके स्वरूपमें परिणत कर देता है । फलतः बात एक ही है । इसीलिये भगवान्‌ने सांख्य और योगको फलमें एकता होनेके कारण एक कहा है ।

उपसंहार

परमात्माकी प्राप्तिका यह विषय इतना गहन है कि इसे लिखकर समझाना असम्भव है, क्योंकि यह वाणीका विषय ही नहीं है । यह परम गोपनीय रहस्य है और सम्पूर्ण साधनोंका फल है । जो इसको प्राप्त होता है वही इसको जानता है, परन्तु इस प्रकार भी कहना नहीं बनता । जो भी कुछ कहा जाता है या समझा जाता है, उससे वह विलक्षण ही रह जाता है । जाननेवाले ही उसको जानते हैं और जाननेवालोंसे ही जाना जा सकता है । अतएव जाननेवालोंसे जानना चाहिये । श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥
(कठ० १ । ३ । १४)

'उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो। कविगण इसे क्षुरके तीक्ष्ण धारके समान अत्यन्त कठिन मार्ग बताते हैं।' परंतु कठिन मानकर हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि भगवान्‌में चित्त लगानेसे मनुष्य सारी कठिनाइयोंसे अनायास ही तर जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

किंतु बिना प्रेमके निरन्तर चिन्तन नहीं होता और बिना श्रद्धाके प्रेम होना कठिन है तथा वह श्रद्धा महान् पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यको समझनेसे होती है।

इसलिये महान् पुरुषोंका सङ्ग करके* परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रेम बढ़ाना चाहिये। जिनकी परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रीति नहीं है उन्हींके लिये सब कठिनाइयाँ हैं।

---

* संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी, महात्मा दीखें उन्हींके पास जाकर उनके आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लगना सङ्ग करना है।

निष्कामभावकी महत्ता

जिस प्रकार श्रीभगवान्‌का नित्य-निरन्तर चिन्तन संसार-सागरसे शीघ्र उद्धार करनेवाला सुगम उपाय बतलाया गया है (गीता १२ । ७; ८ । १४), इसी प्रकार निष्काम क्रिया भी शीघ्र उद्धार करनेवाली तथा सुगम उपाय है (गीता ५ । ६) । और निष्कामभावके साथ यदि भगवान्‌का स्मरण होता रहे तब तो फिर बात ही क्या है । वह तो सोनेमें सुगन्धकी तरह अत्यन्त महत्त्वकी चीज हो जाती है । इससे और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है । किंतु भगवान्‌की स्मृतिके बिना भी यदि कोई मनुष्य फलासक्तिको त्यागकर निःस्वार्थ भावसे चेष्टा करे तो उससे भी उसका कल्याण हो सकता है, बल्कि इसे फलत्यागरहित ध्यानसे भी श्रेष्ठ बतलाया गया है । श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

(१२ । १२)

'(मर्मको न जानकर किये हुए) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है ।'

अत: यह कोशिश करनी चाहिये कि भगवान्‌को याद रखते हुए ही सारी चेष्टा निष्कामभावपूर्वक हो । यदि काम करते समय भगवान्‌की स्मृति न हो सके तो केवल निष्कामभावसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है । इसलिये निष्कामभावको हृदयमें दृढ़तासे धारण करना चाहिये; क्योंकि निष्कामभावसे की हुई थोड़ी-सी भी चेष्टा संसार-सागरसे उद्धार कर देती है । गीतामें भगवान् कहते हैं-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

(२ । ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्ममृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है ।'

फिर जो नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे क्रिया करनेके ही परायण हो जाय, उसके लिये तो कहना ही क्या है !

इसलिये मनुष्यको तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना, आसक्ति, ममता और अहंता आदिका सर्वथा त्याग करके जिससे लोगोंका परम हित हो, उसी काममें अपना तन, मन, धन लगा देना चाहिये ।

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, बड़ाई आदि अपने पास रहते हुए भी उनकी वृद्धिकी इच्छा करनेको 'तृष्णा' कहते हैं। जैसे किसीके पास एक लाख रुपये हैं तो वह पाँच लाख होनेकी इच्छा करता है और पाँच लाख हो जानेपर उसे दस लाखकी इच्छा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छाकी वृद्धिका नाम 'तृष्णा' है। इसी तरह मान, बड़ाई, पुत्र आदि अन्य चीजोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। यह तृष्णा बहुत ही खराब है, मनुष्यका पतन करनेवाली है।

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्यकी कमीकी पूर्तिके लिये जो कामना होती है, उसका नाम 'इच्छा' है। जैसे किसीके पास अन्य सब चीजें तो हैं पर पुत्र नहीं है तो उसके लिये जो मनमें कामना होती है, उसे 'इच्छा' कहते हैं।

पदार्थोंकी कमीकी पूर्तिकी इच्छा तो नहीं होती पर जो बहुत आवश्यकतावाली वस्तुके लिये कामना होती है, जिसके बिना निर्वाह होना कठिन है, उसका नाम 'स्पृहा' है। जैसे कोई मनुष्य भूखसे पीड़ित है अथवा शीतसे कष्ट पा रहा है तो उसे जो अन्न अथवा वस्त्रकी विशेष आवश्यकता है और उसकी पूर्तिकी जो इच्छा है, उसको 'स्पृहा' कहते हैं।

जिसके मनमें ये तृष्णा, इच्छा, स्पृहा तो नहीं हैं पर यह बात मनमें रहती है कि और तो किसी चीजकी आवश्यकता नहीं है, पर जो वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे बनी रहें और मेरा शरीर बना रहे ऐसी इच्छाका नाम 'वासना' है।

उपर्युक्त कामनाओंमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवाली कामना सूक्ष्म और हल्की है तथा सूक्ष्म और हल्कीका नाश होनेपर स्थूल और

भारीका नाश उसके अन्तर्गत ही है । जिनमें उपर्युक्त तृष्णा इच्छा, स्पृहा, वासना आदि किसी प्रकारकी भी कामना नहीं, वह निष्कामी है ।

इन सम्पूर्ण कामनाओंकी जड़ आसक्ति है । शरीर, विषयभोग स्त्री, पुत्र, धन, मकान, ऐश्वर्य, आराम, मान, कीर्ति आदिमें जो प्रीति—लगाव है, उसका नाम 'आसक्ति' है । शरीर और संसारके पदार्थोंमें 'यह मेरा है' ऐसा भाव होना ही 'ममता' है । इस आसक्ति और ममताका जिसमें अभाव है, वही परम विरक्त वैराग्यवान् पुरुष है । ममता और आसक्तिका मूल कारण है—अहंता । स्थूल, सूक्ष्म या कारण—किसी भी देहमें, जो कि अनात्मवस्तु है, इस प्रकार आत्माभिमान करना कि देह मैं हूँ—यह 'अहंता' है । इसके नाशसे सारे दोषोंका नाश हो जाता है अर्थात् समस्त दोषोंकी मूलभूत अहंताका नाश होनेपर आसक्ति, ममता आदि सभीका विनाश हो जाता है । अहंकारमूलक ये जितने भी दोष हैं, उन सबका मूल कारण है—अज्ञान (अविद्या) । वह अज्ञान हमलोगोंकी प्रत्येक क्रिया और सम्पूर्ण पदार्थोंमें पद-पदपर इतना व्यापक हो गया है कि हम उससे भूले हुए संसार-चक्रमें ही भटक रहे हैं । उस अज्ञानका नाश परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है । परमात्माका वह यथार्थ ज्ञान होता है अन्तःकरणके शुद्ध होनेसे । हमलोगोंके अन्तःकरण राग-द्वेष आदि दुर्गुण और झूठ, कपट, चोरी आदि दुराचाररूप मलसे मलिन हो रहे हैं । इस मलको दूर करनेका उपाय है—ईश्वरकी उपासना या निष्काम कर्म ।

हमलोगोंमें स्वार्थकी अधिकता होनेके कारण प्रत्येक कार्य करते समय पद-पदपर स्वार्थका भाव जाग्रत् हो जाता है। पर कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको ईश्वर, देवता, ऋषि, महात्मा, मनुष्य और किसी भी जङ्गम या स्थावर प्राणीसे अथवा जड पदार्थोंसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिये। जब-जब चित्तमें स्वार्थकी भावना आवे, तभी उसको तुरंत हटाकर उसके बदले हृदयमें इस भावकी जागृति पैदा करनी चाहिये कि सबका हित किस प्रकार हो। जैसे कोई अर्थका दास लोभी मनुष्य दूकान खोलनेसे लेकर दूकान बंद करनेके समयतक प्रत्येक काम करते हुए यही इच्छा और चेष्टा करता रहता है कि रुपया कैसे मिले, धन-संग्रह कैसे हो, इसी प्रकार कल्याणकामी पुरुषको प्रत्येक क्रियामें यह भावना रखनी चाहिये कि संसारका हित कैसे हो। जो मनुष्य अपने कल्याणकी भी इच्छा न रखकर अपना कर्तव्य समझकर लोकहितके लिये अपना तन, मन, धन लगा देता है, वही असली स्वार्थ-त्यागी निष्कामी श्रेष्ठ पुरुष है।

किंतु दुःखकी बात है कि स्वार्थके कारण हमलोग अज्ञानसे इतने अंधे हो रहे हैं कि निष्कामभावसे दूसरोंका हित करना तो दूर रहा, बल्कि दूसरोंसे अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और करते हैं। जितनी स्वार्थपरता इस समय देखनेमें आ रही है, उतनी तो इससे कुछ काल पूर्व भी नहीं थी। फिर द्वापर, त्रेता और सत्ययुगकी तो बात ही क्या! इस समय तो स्वार्थ-सिद्धिके लिये मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, विश्वासघात आदि करनेसे भी

बाज नहीं आते तथा अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये ईश्वर और धर्मको भी छोड़ बैठते हैं। भला, ऐसी परिस्थितिमें मनुष्यका कल्याण कैसे हो सकता है।

जो दूसरेका हक (स्वत्व) है, उसमें स्वाभाविक ही ग्लानि होनी चाहिये। पर हमलोगोंकी तो ग्लानि न होकर हर प्रकारसे उसे हड़पनेकी ही चेष्टा रहती है। यह बहुत बुरी आदत है। दूसरेके हकको सदा त्याज्यबुद्धिसे देखना चाहिये। उसे ग्रहण करना तो दूर रहा, पर-स्त्रीके स्पर्शकी तरह उसके स्पर्शको भी पाप समझना चाहिये। जो मनुष्य पर-स्त्री और पर-धनका अपहरण करते हैं या उनकी इच्छा करते हैं तथा पर-अपवाद करते हैं, उनका कल्याण कहाँ, उनके लिये तो नरकमें भी ठौर नहीं है।

आजकल व्यापारमें भी इतनी धोखेबाजी बढ़ गयी है कि हम लोग दूसरेका धन हड़पनेके लिये हर समय तैयार रहते हैं। इसको हम चोरी कहें या डकैती। कई आदमी जब अपना माल बेचते हैं तो वजन आदिमें कम देना चाहते हैं। पाट, सुपारी, रूई, अन्न आदि बिक्रीकी चीजोंको जलसे भिगोकर उसे भारी बना देते हैं तथा बेचते समय हरेक वस्तुको वजन, नाप और संख्यामें हर प्रकारसे कम देनेकी ही चेष्टा करते हैं; पर माल खरीदते समय स्वयं वजन, नाप और संख्यामें अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा करते हैं। एवं बेचते समय नमूना दूसरा ही दिखलाते हैं और चीज दूसरी ही देते हैं। एक चीजमें दूसरी चीज मिला देते हैं—जैसे घीमें बेजिटेबल, नारियलके तैलमें किरासिन, दालमें मिट्टी इत्यादि। इस प्रकार हर तरीकेसे धोखा देकर स्वार्थ-सिद्धि करते हुए अपना परलोक बिगाड़ते हैं। कोई-कोई

तो व्यापारी, सरकार, रेलवे या मिलिटरीके किसी भी मालको उठानेका अवसर पाते हैं तो धोखा देनेकी ही चेष्टा करते हैं। उनसे माल खरीदते तो हैं थोड़ा और उनके कर्मचारियोंसे मिलकर जितना माल खरीद करते हैं उससे बहुत अधिक माल उठा लेते हैं। यह सरासर चोरी है। यह बहुत अन्यायका काम है। इस अनर्थसे सर्वथा बचना चाहिये।

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपनी समस्त क्रिया निष्कामभावसे ही करनी चाहिये। ईश्वर-देवता, ऋषि-मुनि, साधु-महात्माओंका पूजा-सत्कार तथा यज्ञ-दान, जप-तप, तीर्थ-व्रत, अनुष्ठान एवं पूजनीय पुरुष और दुखी, अनाथ, आतुर प्राणियोंकी सेवा आदि कोई भी धार्मिक कार्य हो, उसे कर्तव्य समझकर ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निष्कामभावसे करना चाहिये, किसी प्रकारकी कामनाकी सिद्धिके लिये या संकट-निवारणके लिये नहीं। यदि कहीं लोक-मर्यादामें बाधा आती हो तो राग-द्वेषसे रहित होकर लोक-संग्रहके लिये काम्य-कर्म कर लें तो वह सकाम नहीं है।

उपर्युक्त धार्मिक कार्योंको करनेके पूर्व ऐसी इच्छा करना कि अमुक कामनाकी सिद्धि होनेपर अमुक अनुष्ठानादि कार्य करेंगे तो उसकी अपेक्षा वह अच्छा है जो उन धार्मिक कार्योंके करनेके समय ही इच्छित कामनाका उद्देश्य रखकर करता है और उससे वह श्रेष्ठ है जो धार्मिक कार्योंको सम्पादन करनेके बाद उक्त ईश्वर, देवता, महात्मा आदिसे प्रार्थना करता है कि मेरा यह कार्य सिद्ध करें

तथा उसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है कि जो किसी कामनाकी सिद्धि उद्देश्य लेकर तो नहीं करता, पर कोई आपत्ति आनेपर उसके निवारण लिये उससे कामना कर लेता है। इसकी अपेक्षा भी वह श्रेष्ठ जो आत्माके कल्याणके लिये धार्मिक अनुष्ठानादि करता है और तो सबसे श्रेष्ठ है जो केवल निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करता तथा बिना माँगे भी वे कोई पदार्थ दें तो लेता नहीं। हाँ, य केवल किसीकी प्रसन्नताके लिये राग-द्वेषसे शून्य होकर लेना पड़े उसमें कोई दोष नहीं हैं।

इसी प्रकार जड पदार्थोंसे भी कभी कोई स्वार्थसिद्धिकी काम नहीं करनी चाहिये। जैसे बीमारीकी निवृत्तिके लिये शास्त्रविहि औषध, क्षुधाकी निवृत्तिके लिये अन्न, प्यासकी निवृत्तिके लिये ज और शीतकी निवृत्तिके लिये वस्त्र आदिका सेवन करनेमें अनुकूल प्रतिकूलता होनी स्वाभाविक है, पर उनमें भी राग-द्वेष और ह शोकसे शून्य होकर निष्कामभावसे ही उनका सेवन करना चाहिये यदि कहीं अनुकूलतामें प्रीति और हर्ष तथा प्रतिकूलतामें द्वेष औ शोक उत्पन्न हों तो समझना चाहिये कि उसके अंदर छिपी कामना है।

किसी प्रकार भी किसीकी कभी सेवा स्वीकार नहीं कर चाहिये; अपितु अपनेसे बने जहाँतक तन, मन, धन आदि पदार्थ से दूसरोंकी सेवा करना उचित है; किंतु किसीसे सेवा करानी कभी नहीं चाहिये। यदि रोगग्रस्तावस्था आदि आपत्तिकालके सम स्त्री, पुत्र, नौकर, मित्र, बन्धु-बान्धव आदिसे सेवा न करानेपर उनक

दुःख हो तो ऐसी हालतमें उनके संतोषके लिये कम-से-कम सेवा करा लेना भी कोई सकाम नहीं है ।

लोग दहेज लेनेके समय अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा करते हैं और यदि देनेवाले इच्छानुसार दहेज नहीं देते तो उनका सम्बन्ध त्याग कर देते हैं । एक प्रकारसे देखा जाय तो दहेज एक प्रतिग्रह ही है । उसे प्रतिग्रह समझकर अधिक-से-अधिक उसका त्याग करना चाहिये । दहेज आदि देनेकी इच्छा तो रखनी चाहिये; पर लेनेकी नहीं । जहाँ किसीसे न लेनेमें वह नाराज हो तो उसके संतोषके लिये कम-से-कम स्वीकार करनेमें कोई सकामता नहीं है ।

इसी प्रकार किसी भी संस्था या व्यक्तिसे कभी किसी भी प्रकार कुछ भी नहीं लेना चाहिये । यदि लेना ही पड़े तो लेनेसे पूर्व, लेते समय या लेनेके बाद उसके बदलेमें जितनी चीज उससे ली हो, उससे अधिक मूल्यकी चीज किसी भी प्रकार देनेकी चेष्टा रखनी चाहिये ।

पूर्वके जमानेमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीकी तो बात ही क्या, गृहस्थीको भी किसी चीजके लिये किसीसे याचना नहीं करनी पड़ती थी; बिना ही माँगे खर्च, विवाह आदिके अवसरोंपर मित्र, बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी लोग आवश्यकतानुसार चीजें पहुँचा दिया करते थे और इसमें वे अपना अहोभाग्य समझते थे । यदि उनके पास कोई चीज नहीं होती तो वे दूसरे जान-पहचानवालोंसे लेकर भेज देते थे । इससे किसीको भी अपने लिये याचना नहीं करनी पड़ती थी । इसमें स्वार्थका त्याग ही प्रधान कारण है ।

इसलिये हमलोग भी सबके साथ निःस्वार्थभावसे उदारतापूर्व त्यागका व्यवहार करें तो हमारे लिये आज भी सत्ययुग मौजूद अर्थात् पूर्वकालकी भाँति हमारा भी काम बिना याचनाके चल सक है । अतः हमको किसी चीजकी याचना नहीं करनी चाहिये और बिना याचना किये ही कोई दे जाय——ऐसी इच्छा या आ भी नहीं रखनी चाहिये । तथा ऐसी इच्छा न रहते हुए भी य कोई दे जाय तो उसको रख लेनेकी इच्छा भी कामना ही है । उ प्रकारकी कामना न रहते हुए भी कोई आग्रहपूर्वक दे जाय तो उ स्वीकार करते समय जो चित्तमें स्वार्थको लेकर प्रसन्नता होती है वह भी छिपी हुई कामना ही है । इसलिये भारी-से-भारी आप पड़नेपर भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरेकी से और स्वत्वको स्वीकार नहीं करना चाहिये, अपने निश्चयपर रहना चाहिये । धैर्यका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, चाहे प्रा भी क्यों न चले जायँ, फिर इज्जत और शारीरिक कष्टकी तो ब ही क्या है । किंतु हमलोगोंमें इतनी कमजोरी आ गयी कि थोड़ा भी कष्ट प्राप्त होनेपर अपने निश्चयसे विचलित हो जाते हैं । काम की तो बात ही क्या, साधारणसे कार्यके लिये ही याचनातक बैठते हैं । ऐसी हालतमें निष्काम कर्मकी सिद्धि कैसे सम्भव है ।

याद रखना चाहिये कि ब्रह्मचारी और संन्यासी भिक्षाके लि भोजनकी याचना करें तो वह याचना उनके लिये सकाम नहीं है ब्रह्मचारी तो गुरुके लिये ही भिक्षा माँगता है और गुरु उस ला हुई भिक्षामेंसे जो कुछ उसे दे देता है उसे ही वह प्रसाद समझ पा लेता है तथा संन्यासी अपने और गुरुके लिये अथवा गुरु न

तो केवल अपने लिये भी भिक्षा माँग सकता है; क्योंकि भिक्षा माँगना उनका धर्म बतलाया गया है और यदि कोई बिना माँगे भिक्षा दे देता है तो उसे स्वीकार करना उनके लिये अमृतके तुल्य है। इस प्रकार माँगकर लायी और बिना माँगे स्वतः प्राप्त हुई भिक्षा भी राग-द्वेषसे रहित होकर ही लेनी चाहिये।

जहाँ विशेष आदर-सत्कार, पूजाभावसे भिक्षा मिलती हो, वहाँ भिक्षा नहीं लेनी चाहिये; क्योंकि वहाँ भिक्षा लेनेसे अभिमानके बढ़नेकी गुंजाइश है तथा जहाँ अनादरसे भिक्षा दी जाती हो, वहाँ भी नहीं लेनी चाहिये; क्योंकि वहाँ दाता क्लेशपूर्वक देता है। अतः वह ग्राह्य नहीं है। इसलिये मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिसे तथा भोजनमें यह बुरा है, यह भला है—इस प्रकार अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेषसे शून्य होकर प्राप्त की हुई भिक्षा अमृतके समान है। इसमें भी जो पदार्थ शास्त्रके विपरीत हों, उनका त्याग कर देना चाहिये। जैसे कोई मदिरा, मांस, अंडे, लहसुन, प्याज आदि भिक्षामें दे तो उन्हें शास्त्रनिषिद्ध समझकर उनका त्याग करना ही उचित है। एवं कोई घी, दूध, मेवा, मिष्टान्न देता है तो शास्त्र और स्वास्थ्यके अनुकूल होते हुए भी वैराग्यके कारण मनके विपरीत लगनेवाली इन चीजोंका त्याग करना भी कोई दोष नहीं है। ब्रह्मचारी और संन्यासीको विशेष आवश्यकता पड़नेपर कौपीन, कमण्डलु और शीत-निवारणार्थ वस्त्रकी याचना करनेमें भी कोई दोष नहीं है।

वानप्रस्थीके लिये तप, अनुष्ठान आदि; ब्राह्मणके लिये यज्ञ कराना, विद्या पढ़ाना आदि; क्षत्रियके लिये प्रजाकी रक्षा और न्याय-

से प्राप्त युद्ध* आदि; वैश्यके लिये कृषि, वाणिज्य आदि तथा स्त्रि और शूद्रोंके लिये सेवा-शुश्रूषा आदि सभी जो शास्त्रविहित कर्म हैं उनके सम्पन्न होने या न होनेमें तथा उनके फलमें राग-द्वेष औ हर्ष-शोकसे रहित होकर उनका निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये। यदि कहीं उनकी सिद्धिसे प्रीति या हर्ष और असिद्धि द्वेष या शोक होते हैं तो समझना चाहिये कि उसके अंदर छि हुई कामना विद्यमान है।

इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण कामना, आसक्ति, ममता औ अहंकारको त्यागकर केवल लोकोपकारके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्व शास्त्रविहित समस्त कर्मोंका कर्तव्य-बुद्धिसे आचरण करना चाहिये इस प्रकार करनेसे उसमें दुर्गुण-दुराचारोंका अत्यन्त अभाव होक स्वाभाविक ही विवेक-वैराग्य, श्रद्धा-विश्वास, शम-दम आदि सद्गुणों की वृद्धि हो जाती है तथा उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उस इतनी निर्भयता आ जाती है कि भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भ वह किसी प्रकार कभी विचलित नहीं होता, अपितु धीरता, वीरता गम्भीरताका असीम सागर बन जाता है एवं परम शान्ति और पर आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

---

* श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझक उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापक नहीं प्राप्त होगा।'

समता अमृत और विषमता विष है

राजपूतानेके किसी गाँवमें एक अत्यन्त गरीब वैश्य रहता था। दैवयोगसे वहाँ एक बार भयानक अकाल पड़ा। अन्नके अभावमें लोग तड़प-तड़पकर मरने लगे। गरीब वैश्यपर भी विपत्ति टूट पड़ी। कुछ दिन तो उसने जैसे-तैसे काम चलाया। आखिर परिवारके भरण-पोषणका कोई उपाय न देख, घरवालोंकी कुछ दिनोंके लिये किसी तरह व्यवस्था कर वह निकल पड़ा। उसका एक बचपनका धर्म-मित्र था। वह आसाममें व्यापार करता था। खूब सम्पन्न था। उसका बड़ा व्यापार चलता था। गरीब वैश्यको उसकी याद आ गयी और 'बिपति काल कर सतगुन नेहा' मित्रका यह लक्षण सोचकर वह किसी तरह आसाम पहुँचा। जिस स्थानमें मित्रका कारबार था, वहाँ जाकर उसने मित्रसे भेंट की। उसे पूरा भरोसा था कि मित्रके यहाँ सहज ही आदर होगा और दुःखके दिन अच्छी तरह कट जायँगे। मित्रने उसका स्वागत किया; पर उसके चेहरेपर प्रफुल्लताकी जगह कुछ बोझकी-सी रेखाएँ पड़ रही थीं। गरीब वैश्य तो दुःखी था। उसने संक्षेपमें बड़े ही करुण शब्दोंमें अपना सारा किस्सा सुनाकर आश्रय माँगा। कहा—'भाई साहेब! घरमें आपकी भाभी और बच्चे भूखों मर रहे होंगे, उनके लिये आज ही कुछ खर्च भेजना आवश्यक है। साथ ही मेरे लिये भी ऐसे कामका प्रबन्ध होना चाहिये, जिसमें मेरे ये दुःखके दिन निकल जायँ और बच्चोंको प्रतिमास कुछ भेजा जा सके।'

धनी मित्रने लंबी साँस खींचकर कहा—'भाई साहेब ! बा
तो ठीक है। मुझे इस समय आपकी कुछ सेवा करनी भी चाहिये,
परंतु मेरे यहाँ न तो इतनी आमदनी है कि मैं आपकी कुछ सहायता
कर सकूँ और न आजकल कोई काम ही है, जो आपको दे सकूँ।
मूल पूँजीके ब्याजसे, मकानोंके किरायेसे और ब्यापारकी आमदनीसे
कुल मिलाकर चालीस-पचास हजार रुपये आते होंगे। आप जानते
हैं, आजकल महँगी है, फिर अपनी इज्जतके अनुसार खर्च भी करना
ही पड़ता है। परिवार है, मुनीम-गुमाश्ते हैं। मुश्किलसे काम
चलता है। फिर बताइये, आपका और आपके परिवारका भरण-
पोषण करनेकी मुझमें कहाँ शक्ति है ? मुझे खेद है, पर बाध्य
होकर कहना ही पड़ता है कि मुझसे इस समय कुछ भी नहीं बन
पड़ेगा। आप कोई दूसरा रास्ता सोचें।'

गरीब वैश्यने उदास होकर कहा—'भाई साहेब ! मैं तो यहाँ
किसीको जानता भी नहीं, केवल आपके ही भरोसे आया हूँ। फिर
मेरा खर्च ही कौन-सा भारी है। पचास रुपये इस समय राजपूताने
भेज दिये जायँ और फिर पचास-साठ रुपये मासिककी मजदूरीका
काम मुझे मिल जाय तो काम चल जायगा। कुछ मेरे खर्चमें लग
जायगा, बचेगा सो बाल-बच्चोंके लिये भेज दूँगा। जहाँ पचासों
हजारकी आमदनी है, वहाँ इतना-सा खर्च आपको भारी नहीं मालूम
होना चाहिये। फिर मैं तो काम करके मजदूरीके पैसे लेना चाहता
हूँ।' यों कहते-कहते उसकी आँखोंमें आँसू छलक आये। मित्रके
निराशाजनक वचनोंसे उसे बड़ा संताप हो रहा था। धनी मित्रने
उसके चेहरेकी ओर देखा, पर उसका हृदय नहीं पसीजा। उसने

फिर कपट-विनयके साथ वही कहा—'भाई साहेब ! आपका कहना तो यथार्थ है, पर मैं लाचार हूँ। आपको कोई दूसरा उपाय ही सोचना पड़ेगा। हाँ, दो-चार दिन जबतक आपके कामकी कोई व्यवस्था न हो, आप यहाँ ठहर जायँ। घरमें ही खायें-पीयें। अभी शौच-स्नान करें। भोजन तैयार हो गया होगा।' इतना कहकर धनी मित्र अपने काममें लग गया। गरीब वैश्य बेचारा मन-ही-मन जाने क्या-क्या विचार करता हुआ शौच-स्नानमें लगा।

धनी मित्रका तो रूखा और कंजूस स्वभाव था ही, उसकी पत्नी उससे भी बढ़कर थी। उसे कोई दूसरा सुहाता ही नहीं था। पति तो सभ्यतावश कहीं-कहीं कुछ सह भी लेता था, परंतु पत्नी तो पतिको भी फटकार देती थी। घरपर आये हुए बचपनके परिचित मित्रको सभ्यतावश भोजन करवाना ही होगा। उसने अंदर जाकर पत्नीसे कहा—'राजपूतानेसे मेरे एक पुराने धर्ममित्र आये हैं। उन्हें भोजन कराना है। जहाँतक हो सके, उनके लिये अच्छी चीजें बनाकर आदरपूर्वक खिलाना चाहिये। मित्र हैं, फिर अतिथि हैं।' परम्परासे अतिथिसत्कारकी बात सुनी हुई थी; पत्नी झुँझला न उठे, इसलिये उसने यह दलील भी सामने रख दी। किंतु उसपर इसका क्या प्रभाव पड़ता। उसने तड़ककर कहा—'भाड़में जायँ आपके ये मित्र और अतिथि; चूल्हा फूँकते-फूँकते मेरी तो आँखें फूटने लगीं। आज मित्र, कल अतिथि, परसों व्यापारी—रोज एक-न-एक आफत लगी ही रहती है। मैं तो तंग आ गयी इस गृहस्थीसे। मुझसे यह सब नहीं होगा, अपना दूसरा प्रबन्ध कीजिये।' पतिने सकुचाकर चुपकेसे कहा—'अरी ! जरा धीरे तो बोलो, वे बाहर

ही खड़े हैं, सुन लेंगे तो उन्हें बड़ा दुःख होगा ।' उसने झल्लाकर कहा—'तो और भी अच्छा होगा, जल्दी बला टलेगी ।' पतिने उसकी कुछ बड़ाई करके किसी तरह मनाकर कहा—'देखो ! मैंने पहले ही उनसे कह दिया है कि मेरे पास काम नहीं है, आप दूसरा उपाय सोचिये; दो-चार दिनोंमें वे चले जायँगे । इतने दिन किसी तरह अपनी इज्जतके अनुसार उनको भोजन तो कराना ही चाहिये ।' पत्नीने बात मान ली और भोजन बनाया; परंतु मनमें कष्ट तो बना ही रहा ! अस्तु,

भोजन तैयार होनेपर गरीब अतिथिको साथ लेकर धनी मित्र अंदर आया तो पत्नीने कहा—'पहले अपने मित्रको भोजन करा दीजिये; क्योंकि अतिथिको पहले भोजन कराना धर्म है, पीछे आप कर लीजियेगा ।' पतिने यह बात मान ली और अतिथिको अच्छी तरह भोजन कराया गया । भोजनमें चीनी डाली हुई बढ़िया खीर, पूरी, दही और कई तरहकी तरकारियाँ थीं; परन्तु भोजन करानेवालोंके चेहरेपर कोई उल्लास या मिठास नहीं था । वहाँ प्रत्यक्ष रूखापन तथा विषाद था । माळूम होता था वे किसी आफतमें आ पड़े हैं और उन्हें बिना मन यह सब करना पड़ रहा है । गरीब अतिथिने चुपचाप भोजन तो कर लिया, परन्तु उनकी मुखमुद्रा देखकर उसे सुख नहीं मिला । सुख तो प्रेममें ही समाया होता है । भोजन करनेके बाद वह लघुशङ्काके लिये बाहर गया, इधर घरकी मालकिनने अपने पतिके लिये भोजन परोसा । इसमें बहुत-सी ऐसी चीजें थीं, जो अतिथिसे छिपाकर रक्खी गयी थीं । वह बेचारा लघुशङ्का करके

अंदर हाथ धोने आया और सहज ही धनी मित्रकी भोजनकी थालीकी ओर उसकी दृष्टि चली गयी। उसने देखा, बादामका हलुआ है। एक कटोरेमें खीरकी मलाई और दूसरेमें दहीकी मलाई है। बहुत बढ़िया खूब फूले हुए पतले-पतले फुलके हैं, जिनपर ताजा मक्खन लगाया गया है। गोभी-परवलकी कई और तरकारियाँ तथा कई तरहके अचार रक्खे हैं। यह सब देखकर उसकी समझमें स्पष्ट यह बात आ गयी कि इसी विषमताके कारण मुझे इसके साथ भोजन नहीं कराया गया था। वैषम्यजनित संताप और भी बढ़ गया और वह चुपचाप हाथ धोकर बाहर चला गया।

रात्रिका समय हुआ तो धनी मित्रने पत्नीसे पूछा—'अतिथिके सोनेका प्रबन्ध कहाँ करना चाहिये ?' स्त्रीने झुँझलाकर कहा—'मेरे सिरपर, भला यह भी कोई पूछनेकी बात है ? जहाँ सुविधा हो वहीं कर दिया जाय। घरमें आकर तो वह सोनेसे रहा।' पतिने कहा—'अच्छी बात है। बाहर गद्दीमें वे सो जायँगे; पर वहाँ मच्छर बहुत ज्यादा हैं, बेचारेको नींद नहीं आयेगी। दो दिनके लिये मछहरी दे दो तो अच्छा हो।' उसने तड़ककर कहा—'मेरे पास तो एक मछहरी है; आप लगा लें या उसके मूँड मार दें।' पत्नीके स्वभावको वह जानता था। अधिक बात बढ़ाना हितकर न समझकर चुपचाप बाहर चला आया और अतिथि मित्रसे कहने लगा—'भाई साहेब ! गद्दी-तकिये लगे ही हैं; आप यहीं सो जाइये। यहाँ सुविधा रहेगी।' उस बेचारेने विनय-विनम्र शब्दोंमें स्वीकार किया। सेठ अंदर चले गये और वह वहीं सो गया। गरमीकी मौसिम थी; मच्छर तो थे ही, गद्दी-तकियोंमें खटमलोंकी भी कमी नहीं

थी। लेटते ही कतार-की-कतार निकलकर उन्होंने उसपर आक्र-
आरम्भ किया। खटमलोंको चुन-चुनकर फेंकने और मच्छरोंके उड़ा
ही रात बीत गयी। बेचारा घड़ीभर भी सुखकी नींद नहीं सो सक

दूसरे दिन सबेरे वह घरसे निकलकर बाजारकी ओर गय
चौराहेपर पहुँचते ही उसे अपने गाँवका एक परिचित मनु
दिखायी दिया। उसने भी इनको देख लिया। वह बहुत गरीब
पर था बड़ा सहृदय। देखते ही दौड़कर पास आया और बड़े प्र
तथा उल्लाससे पूछने लगा—'भाई साहेब ! आप यहाँ कब अ
गये ? मुझे कोई खबर ही नहीं दी। आपको बड़ा कष्ट हुआ होग
खबर होती तो स्टेशन चला आता। यहाँ पहुँचकर भी आपने को
संदेशा नहीं भेजा। बताइये आप ठहरे कहाँ हैं ? चलिये, घरपर
मैं सामान लेता आऊँगा। मेरा बड़ा भाग्य है जो आपसे मिलना ह
गया। विदेशोंमें भला घरके प्रेमी पुरुष कहाँ मिलते हैं ?'

उसकी सच्चे प्रेमसे सनी हुई वाणी सुनकर गरीब बेचारे
हृदय द्रवित हो गया। उसे बड़ा आश्वासन मिला, मानो डूबते
सहारा मिल गया। उसने अपने आनेका सारा कारण कह सुनाय
और कहा कि 'सामानमें तो मेरे पास एक धोती-गमछा, ए
सतरंजी और लोटामात्र है। वह उन सेठजीके यहाँ रक्खा है।'
उस गरीब भाईने कहा—'वे तो बहुत बड़े आदमी हैं। यदि आ
मुझे अपना मानते हैं तो आपको अपने घरपर आ जाना चाहिये।
घरमें आरामसे रहिये; जो कुछ रूखा-सूखा घरमें बनता है, आनन्दसे
खाइये। मैं फुटकर चीजोंकी खरीद-बिक्रीका काम करता हूँ।

रुपये रोज कमा लेता हूँ। अकेला हूँ। आप रहेंगे तो हमलोग दो हो जायँगे। दुगुना काम होगा तो आमदनी भी दो-ढाई गुनी होने लगेगी। मेहनत और सचाईका काम है। जितनी मेहनत, उतनी बरकत। पचास रुपये मासिक तो आप घर भेज ही देंगे। अधिकके लिये भी कोशिश की जायगी। आप घबरायें नहीं। भगवान् गरीबोंकी सुनेगा ही। पचास रुपये तो मेरे पास पहलेके रक्खे हैं, इन्हें तो आज ही घर भेज दें। यों कहकर वह उसे अपने घर ले गया। छोटा-सा टीनसे छाया मिट्टीका घर था साफ-सुथरा और उसमें बाहर छोटी-सी दूकान थी। जाते ही उसने पचास रुपये निकाले और उनका तुरंत मनीआर्डर कर दिया। उस समय बेचारे अकालपीड़ितको कितना सुख और आश्वासन मिला, यह कहा नहीं जा सकता। फिर वह गरीब दूकानदार सेठके यहाँ जाकर उसका सामान ले आया।

घर लौटनेपर उसने अपनी पत्नीसे कहा—'अपने देशके एक सज्जन आये हैं। अपने परिचित भी हैं। उनके लिये भोजन बनाओ।' साध्वी पत्नीने प्रसन्न होकर कहा—'बड़े भाग्य हैं हमारे, जो आज अपने देशके सज्जन आये हैं। हमलोग भी धन्य हैं, जो भगवान्ने हमें ऐसा सुअवसर दिया।' उसने बड़े प्रेमसे रसोई तैयार की। उस समय चावल सस्ते थे। मोटे चावल बने, मामूली पत्तियोंकी तरकारी, रूखी जौ-चनाकी रोटियाँ और मट्ठा। घरवालीने दोनोंको बड़े आदरके साथ बिना किसी भेदके समानभावसे भोजन कराया। बल्कि अतिथिको बार-बार बड़े प्रेमसे आग्रह करके वह परोस रही थी। आज उसे भोजन करनेमें बड़ी तृप्ति मिली। बड़ा

सुख मिला । प्रेमकी सूखी रोटीमें जो आनन्द है, प्रेमरहित मिष्टान्नमें वह कदापि नहीं है । खा-पीकर दोनों दूकानका काम दे लगे ।

रातको अपने सम्मान्य अतिथिके सोनेके लिये उस दूकानदारने एक मूँजकी बुनी पुरानी चारपाई, जो उसने तीन खरीदी थी, डाल दी । उसपर टाटके बोरे बिछा दिये । मच्छ बचानेके लिये उसकी स्त्रीने अपनी महीन मलमलकी पुरानी चार बाँसकी पट्टियाँ खड़ी करके उनपर तान दी । अकाल भाईको पहली रातकी नींद थी ही । चारपाईपर लेटते ही उसे नींद आ गयी । रातभर वह बड़े सुखसे सोया । सारी थकावट दू गयी । तीन-चार दिनोंके बाद एक दिन रास्तेमें धनी मित्रके अकालपीड़ित भाईकी भेंट हो गयी । धनी मित्रने सभ्यतासे पूछा 'क्यों, कहीं कामकी व्यवस्था हुई; कहाँ रहते हैं; खाने मिल रहा है न ?' उसने कहा—'बहुत अच्छी व्यवस्था हो है । मैं अपने देशके अमुक दूकानदार भाईके घर रहता हूँ, पत्नी दोनों बड़े ही सज्जन हैं । दूकानमें मेरा आधा हिस्सा कर है । पचास रुपये तो उसी दिन घर भिजवा दिये और भविष्यके यह आश्वासन दिया है कि भोजनकी तो कोई बात ही नहीं, एक साथ करेंगे ही । कम-से-कम पचास रुपये प्रतिमास बाल-ब लिये घर भेज दिये जायँगे । खाने-पीनेकी बड़ी अच्छी व्यवस्था उनके यहाँ अमृततुल्य भोजन करके मुझे बड़ी ही तृप्ति मिलती उनका इतना ऊँचा प्रेमभरा समताका व्यवहार है कि मैं तो जीवनभर नहीं भूल सकता ।' उसकी इन बातोंको सुनकर

सेठके गर्वपर कुछ ठेस-सी लगी । पर सच्ची बात थी । उसे अपने बर्तावका पूरा पता था । बोलता भी क्या । एक बात सूझी, उसे बड़ा गर्व था कि हमारे घर बड़ा बढ़िया भोजन बनता है । बढ़िया सजा-सजाया मकान है; गद्दी-तकिये, झाड़-फानूस लगे हैं । उस गरीबके यहाँ ऐसी चीजें कहाँसे होंगी ? अतएव उसने अपनी बात ऊँची रखने तथा उस गरीब दूकानदारकी निन्दा करनेकी इच्छासे कहा—'वहाँ आपको भोजन क्या मिला होगा । वही मोटे चावल, रूखी-सूखी रोटी, घास-पातकी तरकारी और सोनेको कहीं खाली जमीन या बहुत हुआ तो कोई पुरानी चारपाई मिली होगी । उस कँगलेके यहाँ और रक्खा ही क्या है । यहाँके बढ़िया भोजन और सजे-सजाये हुए घरको छोड़कर आप वहाँ गये, अब तो मनमें पछताते होंगे ।' उसने हँसकर कहा—'भाई साहेब ! आप अपने घरमें बड़े धनी हैं । आपके यहाँ गद्दी-तकिये हैं, झाड़-फानूस लगे हैं । सजा-सजाया मकान है । मेरे लिये तो ये सब विषके समान हुए । बढ़िया भोजन भी बनता है । परंतु मुझे इससे क्या । आपके यहाँ मुझे न तो खानेका सुख मिला, न सोनेका ही । मैं तो खटमल, मच्छरोंसे तंग आ गया । रातभर नींद नहीं आयी । मेरे लिये तो वह मूँजकी चारपाई, टाटका बिछौना और पुरानी ओढ़नीकी मछहरी ही परम सुखप्रद है, जिनसे मैं रातको बड़े सुखसे सोता हूँ । भोजनकी तो मैं क्या कहूँ । वहाँ मुझे उन मोटे चावलों, रूखी रोटियों और पत्तीकी तरकारीमें जैसा सुख मिलता है, वैसा कहीं नहीं मिला । आपका भोजन तो विषवत् था और उसका साक्षात् अमृतके सदृश है । आपलोगोंके मनमें बोझ-सा था । आप

मेरे आनेको आफत मानते थे और मनमें विषमता भरी थी। महा
लोग कहा करते हैं कि 'विषमता ही विष है और समता ही अ
है।' अतः आपके मेवा-मिष्टान्न भी विषमताके कारण विषतुल्य
और उसके रूखे-सूखे भोजनमें समता होनेसे वह अमृतके तुल्य है
इतना ही नहीं, उसका बर्ताव भी अमृतके समान है। आपके प
लाखों रुपये हैं और लाखोंकी ही आमदनी है तथा आप मेरे बचपन
धर्ममित्र भी हैं; पर आपने मेरे भूखसे बिलबिलाते बच्चोंके लिये
तो कुछ भेजना स्वीकार किया और न मेरे लिये पचास-साठ रु
वेतनकी नौकरी ही दी। और उस बेचारे गरीब दूकानदारने, जिस
मेरा केवल एक गाँवके होनेके नाते साधारण परिचयमात्र था, ग
निर्धन होते हुए भी मुझे आश्रय दिया। मेरी सहायता की। पच
रुपये तुरंत घर भिजवा दिये। मुझे अपने काममें बराबरका हिस्सेद
बना दिया। बतलाइये, मैं उसके उपकारको कैसे भूल सकता
और उसने यह जो किया सो भी उपकारकी भावनासे नहीं, वि
प्रेमसे और कर्तव्यकी भावनासे। वह मेरे ऊपर अहसान नहीं करत
बल्कि मुझे सुख पहुँचाकर वह उलटे मेरा कृतज्ञ होता है और इस
अपनेको धन्य मानकर सुखी होता है। उसकी धर्मपत्नीका ऐस
ही ऊँचा भाव है। उन दोनोंके चेहरोंपर इसीलिये प्रफुल्लता औ
उल्लास चमकते-दमकते रहते हैं।'

धनी मित्रने पूछा—'मेरे यहाँ आपको किस बातमें विषम
दिखलायी दी और उसके यहाँ समता कैसे थी?' इसपर उस
कहा—'आपके यहाँ मुझे बहुत बढ़िया भोजन-पदार्थ मिले, इस
कोई संदेह नहीं। परंतु मेरे लिये वे विषके तुल्य हो गये। आपक

स्मरण होगा, मुझे अतिथि बतलाकर पहले अकेले भोजन कराया गया। भोजन करनेपर मैं लघुशङ्काके लिये बाहर गया। मैं हाथ धोनेके लिये लौटा तो मेरी दृष्टि आपके भोजन-पदार्थोंकी ओर स्वाभाविक ही चली गयी। मैंने देखा आपके लिये बादामका हलुआ, मक्खन, पतले-पतले फुलके, खीर और दहीकी मलाइयाँ, गोभी-परवल आदिकी तरकारियाँ और अचार आदि रक्खे हैं। ये सब चीजें मुझे नहीं परोसी गयी थीं। मुझे इनके खानेका शौक नहीं है, परंतु इस विषमताको देखकर मुझे दुःख हुआ। मैं समझता हूँ, आपको ये चीजें विशेषरूपसे खिलानी थीं, इसीलिये आपकी धर्मपत्नीने अतिथिको पहले भोजन करानेका बहाना करके आपको पीछे अलग जिमाना चाहा था। ऐसा भेद न करके मुझे भी आपके साथ ही भोजन कराया जाता तो क्या होता? कुछ पैसे ही तो अधिक खर्च होते। आपने भी इस बातपर कुछ भी विचार नहीं किया और पत्नीका प्रस्ताव मान लिया। धर्ममित्रके साथ ऐसा बर्ताव क्या कलङ्क नहीं है? इसी विषमताके कारण आपका भोजन विषवत् था।

'उधर उसका व्यवहार देखिये! वह बेचारा बड़ा गरीब है; पर उसकी पत्नीने मोटे चावल, रूखी-सूखी रोटियाँ, पत्तियोंकी तरकारी और छाछ—जो कुछ घरमें था, हम दोनोंको एक साथ बैठाकर समान भावसे बड़े आदर-प्रेम तथा उल्लासके साथ भोजन कराया। रातको सोनेके लिये अपने सोनेकी एकमात्र चारपाई डाल दी। बिछानेके लिये टाट दे दी और मच्छरोंके उपद्रवसे बचनेके लिये अपनी ओढ़नीकी मछहरी तान दी। उसके ऐसे निष्काम प्रेम और समताके व्यवहारने मुझपर जो प्रभाव डाला, उसे मैं ही जानता

हूँ। मैं तो वहाँ इसीलिये अमृत-ही-अमृत पाता हूँ और उस व्यवहारका स्मरण करके बार-बार प्रफुल्लित और हर्षसे गद्गद हो जाता हूँ।'

धनी मित्रने बहाना करके कहा—'मैं बीमार रहता हूँ, मुझे मन्दाग्नि हो रही है, इसीसे वैद्यने मुझे ये चीजें खानेको कह रक्खी हैं।' इसपर उसने कहा कि 'प्रथम तो मन्दाग्निकी बीमारीमें ये चीजें खानेको दी नहीं जातीं और यदि ऐसा हो भी तो मुझे भी वे चीजें परोसी जातीं तो क्या हानि थी?'

धनी मित्रके पास कोई उत्तर नहीं था। वह अत्यन्त लज्जित होकर अपनी व्यवहार-विषमता तथा प्रेमहीनताके लिये मन-ही-मन पछताने लगा और सिर नीचा करके वहाँसे चल दिया।

यह एक कल्पित दृष्टान्त है। इससे हमको यह सीखना चाहिये कि सबके साथ प्रेम और विनयसे युक्त त्याग तथा उदारताका बर्ताव करें। खान-पानादि व्यवहारमें पूर्ण समता रक्खें। इसका यह अर्थ नहीं कि विधर्मी और विजातीय पुरुषोंके साथ एक पंक्तिमें बैठकर उन-जैसा ही निषिद्ध आहार करें। भाव इतना ही है कि विधर्मी और विजातीय कोई भी क्यों न हो, सबको यथायोग्य शास्त्रानुकूल आदर-सत्कारपूर्वक, विनय और प्रेमपूर्वक बिना किसी भेद-भावके वही भोजन करावें जो अपने लिये बनाया गया हो और पहले उनको भोजन कराके फिर स्वयं भोजन करें। नीयत शुद्ध होनी चाहिये अर्थात् मनमें जरा भी वैषम्य नहीं होना चाहिये!

कुछ उपयोगी साधन

'साधन' शब्दका अर्थ बहुत ही व्यापक है। परन्तु वास्तविक साधन तो उसे ही समझना चाहिये जो परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला हो। परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके साधन बतलाये गये हैं। उनमें सुगमतापूर्वक हो सकनेवाले कुछ सरल साधनोंका उल्लेख यहाँ किया जाता है। विवेकदृष्टिसे विचार करनेपर सारे साधन ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा—इन दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। जीवात्मा और परमात्माकी एकताके आधारपर होनेवाले जितने भी साधन हैं, वे सब ज्ञाननिष्ठाके अन्तर्गत हैं तथा जीवात्मा और परमात्माके भेदके आधारपर होनेवाले योगनिष्ठाके अन्तर्गत हैं। इसी बातको लक्ष्यमें रखते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अभेदनिष्ठाको सांख्य, संन्यास अथवा ज्ञानयोगके नामसे कहा है और भेदनिष्ठाको योग, कर्मयोग तथा भक्तियोग आदि नामोंसे। श्रीमद्भागवतमें भी अभेद और भेद-निष्ठाओंका विशद वर्णन है। इसी प्रकार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें ज्ञानदीपकके नामसे अभेदनिष्ठाका और भक्तिमणिके नामसे भेदनिष्ठाका वर्णन किया है।

वेद और उपनिषदोंके 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० उ० १। ४। १०), 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य० ६। ८। ७) आदि महावाक्य अभेदनिष्ठा (अभेदज्ञान) का प्रतिपादन करते हैं और 'द्वा सुपर्णा'*

---

* द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(मुण्डक० ३। १। १)

आदि श्रुतियाँ भेदनिष्ठाका प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि वैदिक सनातनधर्मके प्रायः सभी आर्ष ग्रन्थोंमें भेदनिष्ठा और अभेदनिष्ठाका ही भेदोपासना और अभेदोपासना आदि नामोंसे वर्णन किया गया है। इन्हीं दोनों निष्ठाओंके आधारपर यहाँ कुछ साधनोंका वर्णन किया जाता है।

अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना

नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है एवं मनसे जो कुछ चिन्तन किया जाता है, अनुभव और चिन्तन करनेवाले इन्द्रियों और मनके सहित उस सम्पूर्ण दृश्यको नाशवान्, क्षणभङ्गुर और स्वप्नवत् समझकर उसका अभाव करना अर्थात् उसे अनित्य होनेके कारण असत् समझकर उससे रहित हो जाना और जिस बुद्धिवृत्तिके द्वारा सबका अभाव किया जाता है उस वृत्तिका त्याग करके उससे भी रहित हो जानेपर द्रष्टाका जो केवल चिन्मयस्वरूप बच रहता है अर्थात् दृश्यमात्रका अभाव हो जानेपर चिन्तन करनेवाला जो द्रष्टा शेष बच जाता है उसमें स्थित होना ही अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना है। इस अभेद उपासनारूप साधनसे दृश्य, दर्शनका बाध हो जाता है और द्रष्टाका परब्रह्म परमात्माके साथ तादात्म्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है। जैसे घटाकाश और महाकाशके बीच व्यवधानरूप केवल घटकी आकृति ही भेद-दर्शनमें हेतु है, इसी प्रकार जड मायामय दृश्यमात्र जीवात्मा और परमात्माके भेद-दर्शनमें हेतु है। जब तत्त्वज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य और दर्शनका बाध हो जाता है, तब स्वभावतः ही जीवात्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाशस्थानीय

आकाश महाकाशके साथ एक हो जाता है उसी प्रकार जीवात्माका सच्चिदानन्दघन परमात्माके साथ एकीभाव हो जाता है अर्थात् वह अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।

चराचररूप ब्रह्मकी उपासना

जो भी कुछ चर-अचर, जड-चेतन संसार है, वह सब परमात्मासे ही उत्पन्न है, परमात्मामें ही स्थित है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है, इसलिये वस्तुतः परमात्मस्वरूप ही है ।

जो पुरुष इस सम्पूर्ण संसारको परमात्माका स्वरूप समझकर परमात्मभावसे इसकी उपासना करता है, वह परमात्माको ही प्राप्त होता है ।

यह उपासना भेद और अभेद दोनों ही दृष्टियोंसे की जा सकती है । भेददृष्टिवाला साधक समझता है कि जो कुछ है सो परमात्मा है और मैं उसका सेवक हूँ । जैसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

(राम० किष्किन्धा० ३)

और अभेद दृष्टिवाला साधक सारे संसारको एवं अपने-आपको भी परमात्माका स्वरूप मानता है । जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

(१३ । १५)

'परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है ।'

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(१३ । ३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार इस सम्पूर्ण दृश्यमात्रको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी उपासना करते-करते साधककी सर्वत्र समबुद्धि हो जाती है और वह राग-द्वेषरहित होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

संकल्पब्रह्मकी उपासना

संकल्पब्रह्मकी उपासनामें जो भी कुछ अच्छे या बुरे संकल्प मनमें उठते हैं उनको ब्रह्म मानकर उपासना की जाती है। इस प्रकार मनमें उठनेवाले प्रत्येक संकल्पको ब्रह्म मानकर उपासना करनेवालेके लिये कोई भी संकल्प (स्फुरणा) विघ्नकारक नहीं होते तथा उनमें समबुद्धि हो जानेके कारण अनुकूल और प्रतिकूल संकल्पोंमें राग-द्वेष नहीं होता ।

संकल्पमात्रमें निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति बनी रहनेके कारण साधकको विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ।

शब्दब्रह्मकी उपासना

शब्दब्रह्मकी उपासना करनेवालेको जो भी कुछ भला या बुरा शब्द सुनायी देता है उसे वह ब्रह्म मानकर उपासना करता है । ब्रह्म सम और एक है, इसलिये साधककी शब्दमात्रमें समबुद्धि

हो जाती है । अतएव वह अनुकूल और प्रतिकूल शब्दोंमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित हो जाता है । कोई उसकी स्तुति या निन्दा करता है तो इससे उसके चित्तमें कोई विकार नहीं होता । शब्द-मात्रको ब्रह्म माननेके कारण उसकी वृत्ति हर समय ब्रह्माकार बनी रहती है, जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है ।

निःस्वार्थ कर्म-साधन

स्वार्थ (स्व-अर्थ) का अभिप्राय है—'अपने लिये', अपने व्यक्तिगत लाभके लिये और निःस्वार्थका अर्थ है–'अपने लिये नहीं' अर्थात् दूसरों (समष्टि) के हितके लिये । साधारण मनुष्य यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, उपवास, कृषि, वाणिज्य, खान-पान, शौच-स्नान, लेन-देन आदि जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर ही करता है । क्रय-विक्रय करनेवाला लोभी व्यापारी दूकान खोलनेके समयसे लेकर उसे बंद करनेतक दिनभर जो भी कुछ क्रय-विक्रय, लेन-देन आदि व्यापार करता है, सबमें उसका लक्ष्य हर समय यही रहता है कि अधिक-से-अधिक रुपये पैदा हों । जिसमें जरा भी अर्थकी हानि होती हो, ऐसा कोई भी काम वह जान-बूझकर कभी नहीं करना चाहता । इसी प्रकार यज्ञ, दान, तपादि कार्य करनेवाले सकामी लोग धन, स्त्री, पुत्र आदि इहलौकिक और स्वर्गादि पारलौकिक भोगोंकी कामनासे ही उन कामोंमें प्रवृत्त होते हैं ।

यह स्वार्थ इतना व्यापक है कि किसी भी छोटे-से-छोटे कामका आरम्भ करनेके समय मनुष्य यही सोचता है कि इसके

करनेसे मुझे व्यक्तिगत क्या लाभ होगा। किसी लाभका निश्च करके ही वह कार्यमें प्रवृत्त होता है। बिना प्रयोजन एक पैंड भी चल नहीं चाहता। उसके मनमें पद-पदपर स्वार्थकी भावना भरी रह है। इसी स्वार्थ-बुद्धिसे मनुष्यको बार-बार दुःखरूप संसारचक्र भटकना पड़ता है, अतएव यथार्थ कल्याण चाहनेवाले मनुष्य स्वार्थरहित होकर लोक-हितके लिये ही कर्म करने चाहिये। जै स्वार्थी मनुष्य प्रत्येक कामके आरम्भमें यह सोचता है कि मुझे इसमें क्या लाभ होगा, ऐसे ही निःस्वार्थी पुरुषके मनमें यह भा होना चाहिये कि इससे अन्य प्राणियोंका क्या हित होगा। जिस कामके आरम्भमें संसारका हित सोचकर प्रवृत्त हुआ जाता है वही निष्काम कर्म है।

बहुत-से सज्जन लोकोपकारके कामोंमें धन-सम्पत्ति औ शरीरके आरामका त्याग करते हैं और यह बहुत उत्तम है, परंतु वे जो इसके बदलेमें मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा चाहते हैं, इससे उनका वह त्याग निःस्वार्थ नहीं रह जाता। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी कामनासे शुभ कर्म करनेवाले लोग अवश्य ही शुभ कर्म न करनेवालोंकी अपेक्षा तो बहुत ही अच्छे हैं, किंतु वास्तविक कल्याणमें तो उनकी यह कामना भी बाधक ही है। और यदि कहीं राग-द्वेषके वश हो गये तब तो इस कामनासे पतन भी हो सकता है। अतएव वास्तविक हित चाहनेवाले पुरुषको मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके विशुद्ध निःस्वार्थ-भावसे ही लोकहितार्थ कर्म करने चाहिये।

कुछ सज्जन मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गकी इच्छाका भी

त्याग करके केवल अपने आत्माके उद्धारकी इच्छासे यज्ञ, दान, तप, सेवा, सत्सङ्ग और व्यापार आदि शास्त्रविहित कर्म करते हैं। यद्यपि इस प्रकार कर्म करनेवाले लोग उपर्युक्त सभी साधकोंसे श्रेष्ठ हैं, तथापि केवल अपने ही आत्माके उद्धारकी यह इच्छा भी मुक्तिरूप स्वार्थबुद्धिके कारण कभी-कभी मोहमें डालकर साधकको कर्तव्य-च्युत कर देती है। कहीं-कहीं तो यह राग-द्वेषको उत्पन्न करके साधकका पतन भी कर डालती है। इसलिये केवल अपने उद्धारकी इच्छा न रखकर सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके उद्देश्यसे ही मनुष्यको शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे कर्म करनेवाला मनुष्य सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

संसारका हित चाहनेवाले ऐसे दयालु निष्कामी भक्तोंके सम्बन्धमें गोस्वामी तुलसीदासजीने तो यहाँतक कहा है—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
(राम० उत्तर० १०८। ८)

इसका कुछ रहस्य निम्नलिखित दृष्टान्तके द्वारा समझना चाहिये।

भगवान्‌के एक निष्कामी भक्त जगत्‌के परम हितैषी थे। वे सदा-सर्वदा जगत्‌के हितमें रत रहा करते थे। इसके फलस्वरूप एक दिन भगवान् स्वयं उनको दर्शन देनेके लिये उनके सामने प्रकट हुए और बोले—'तुम्हारी जो इच्छा हो वही वर माँगो।'

भक्तने कहा—भगवन्! आपकी मुझपर जो अनन्त कृपा है, इससे बढ़कर और कौन-सी वस्तु है, जिसकी मैं याचना करूँ— आपकी कृपासे मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है।'

भगवान्‌ने विशेष आग्रहपूर्वक कहा—'मेरे संतोषके
तुम्हें कुछ तो अवश्य ही माँगना चाहिये।'

भक्तने कहा—'प्रभो! यदि आपका इतना आग्रह है तो मैं
चाहता हूँ कि मेरे मनमें यदि कुछ माँगनेकी इच्छा हो तो आ
उसका सर्वथा विनाश कर दीजिये।'

भगवान् बोले—'यह तो तुमने कुछ भी नहीं माँगा। मे
प्रसन्नताके लिये तुम्हें अवश्य कुछ माँगना पड़ेगा। तुम जो चाहे
सो माँग सकते हो।'

भक्तने कहा—'जब आप इतना बाध्य करते हैं तो मैं यह
माँगता हूँ कि आप संसारके सभी जीवोंका कल्याण कर दीजिये।'

भगवान्‌ने कहा—'यदि सब जीवोंका कल्याण कर दिया जा
तो उनके किये हुए पापोंका फल कौन भोगेगा?'

भक्तने कहा—'प्रभो! सबके पापोंका फल मुझे भुगता दीजिये।'

भगवान् बोले—'तुम-सरीखे भक्तको सब जीवोंके पापोंका दण्ड
कैसे भुगताया जा सकता है?'

भक्तने कहा—'तो फिर सबको क्षमा कर दीजिये।'

भगवान्‌ने कहा—'इस प्रकार सबको पापोंका फल न भुगताकर
उन्हें क्षमा कर देना तो असम्भव है।'

भक्तने कहा—'भगवन्! आप तो असम्भवको भी सम्भव करने-
वाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।'

भगवान्‌ने कहा—'इस प्रकार करनेके लिये मैं असमर्थ हूँ।'

भक्तने कहा—'यदि आप अपनेको असमर्थ कहते हैं, तो फिर आपने इच्छानुसार वर माँगनेके लिये इतना आग्रह क्यों किया था ? आपको स्त्री, पुत्र, धन, मान-बड़ाई, स्वर्ग, मोक्ष आदि किसी एक वस्तुके माँगनेके लिये कहना चाहिये था। जो इच्छा हो सो माँगनेका वचन देनेपर तो याचककी माँग पूरी करनी ही चाहिये।'

भगवान्‌ने कहा—'भाई ! मेरी हार और तुम्हारी जीत हुई। मैं भक्तोंके सामने सदा ही हारा हुआ हूँ।'

भक्तने कहा—'प्रभो ! हार तो मेरी हुई। जीत तो तब होती जब आप सबका कल्याण कर देते।'

भगवान्‌ने कहा—'तुम्हारे इस निःस्वार्थभावसे मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ। मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि जो कोई भी तुम्हारा दर्शन, स्पर्श और चिन्तन आदि करेगा, उसका भी कल्याण हो जायगा।'

इस प्रकार संसारका कल्याण चाहनेवाले निःस्वार्थ भक्तको विनोदमें भगवान्‌से भी बढ़कर कहना कोई अत्युक्ति नहीं है, अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको निःस्वार्थभावसे लोकहितार्थ ही सारे कर्म करने चाहिये।

सेवा-साधन

धन-सम्पत्ति, शारीरिक सुख और मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिको न चाहते हुए ममता, आसक्ति और अहङ्कारसे रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होकर उन्हें निष्कामभावसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना 'सेवा-साधन'

कहलाता है। इस साधनसे साधकके चित्तमें निर्मलता और प्रस[न्न]
होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त प्रकारकी सेवा-साधना तीन प्रकारके भावोंसे की [जा]
सकती है—सब एक ईश्वरकी ही संतान होनेके कारण स[बको]
अपना 'बन्धु' मानते हुए, आत्मदृष्टिसे सबको अपना 'स्व[रूप']
समझते हुए और परमात्मा ही सब भूतोंके हृदयमें स्थित [हैं]
इसलिये सबको साक्षात् 'परमेश्वर' समझते हुए। इन ती[नों]
भावोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। बन्धुभावसे होनेवाली सेवामें एक दूस[रे]
के प्रति पर-बुद्धि होनेके कारण राग-द्वेषवश कभी झगड़ा भी [हो]
सकता है, परंतु आत्मभावमें इसकी सम्भावना नहीं है, अ[तः]
बन्धुभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा आत्मभावसे की हुई सेवा उत्त[म]
है। आत्मभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा भी परमात्मभावसे की हु[ई]
सेवा उत्तम है; क्योंकि मनुष्य अपने इष्टकी सेवाके लिये प्रसन्नता-
पूर्वक अपने प्राणोंका भी बलिदान कर सकता है। तीनों प्रकार[के]
भावोंसे की हुई सेवाका परिणाम एक होनेपर भी भगवत्प्राप्तिमें शीघ्रता-
की दृष्टिसे ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है।

उत्तम देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर जो न्यायानुकूल
सेवा की जाती है, वही सेवा महत्त्वपूर्ण होती है। जैसे—अन्[य]
देशोंकी अपेक्षा आर्यावर्त देश उत्तम माना गया है, उसमें भी काशी
आदि तीर्थ अधिक उत्तम माने गये हैं। परंतु यदि काशी आदि
तीर्थोंमें अन्नकी फसल अच्छी हो और मगध आदि देशोंमें भयंकर
अकाल पड़ा हो तो अन्नदानके लिये काशीकी अपेक्षा मगध अधिक
उपयुक्त देश है। इसी प्रकार यद्यपि साधारण कालकी अपेक्षा

एकादशी, पूर्णिमा, सोमवती, व्यतिपात, ग्रहण और पर्वकाल दानके लिये श्रेष्ठ हैं तथापि यदि अन्य कालमें अन्नके बिना प्राणी मरते हों तो पर्वकालकी अपेक्षा भी वह पर्वातिरिक्त काल अन्नदानके लिये श्रेष्ठ काल है । पात्रके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये । जिस प्राणीके द्वारा जितना अधिक उपकार होता है, उतना ही वह सेवाका अधिक पात्र. है । जैसे कीड़े, चींटी आदिकी अपेक्षा पशु आदि, पशुओंमें भी अन्य पशुओंकी अपेक्षा गाय आदि, पशुओंकी अपेक्षा मनुष्य, मनुष्योंमें भी दूसरोंकी अपेक्षा उत्तम गुण और आचरणवाले पुरुष सेवाके विशेष पात्र हैं । उदाहरणके लिये—यदि देशमें बाढ़ या अकाल आदिके कारण प्राणी भूखों मर रहे हों और साधकके पास थोड़ा-सा परिमित अन्न हो तो ऐसी स्थितिमें पूर्वमें बतलाये हुए प्राणियोंकी अपेक्षा बादमें बतलाये हुए उत्तरोत्तर सेवाके अधिक पात्र हैं; क्योंकि उनके द्वारा उत्तरोत्तर लोकोपकार अधिक होता है । परंतु इसमें भी यह बात है कि जिसके पास अन्नका जितना अधिक अभाव हो उतना ही उसे अधिक पात्र समझना चाहिये । जैसे— किसी देशमें अकाल होनेपर भी गायोंके लिये चारेकी कमी न हो पर कुत्ते भूखों मरते हों तो वहाँ कुत्ते ही अधिक पात्र हैं । इसी प्रकार सबके विषयमें समझना चाहिये । प्यासेको पानी, नंगोंको वस्त्र, बीमारको औषध और आतुरको अभयदान आदिके विषयमें भी यही बात समझनी चाहिये ।

परंतु विशेष ध्यान देनेकी बात तो यह है कि सेवा-साधनमें क्रियाकी अपेक्षा भावकी प्रधानता है । स्त्री-पुत्र, धन-मान, बड़ाई-

प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तत्परताके साथ आर्जि किये हुए उपर्युक्त विशाल सेवाकार्यकी अपेक्षा ममता, आसक्ति अहङ्कारसे रहित होकर निःस्वार्थभावसे की हुई थोड़ी सेवा भी अधि मूल्यवाली होती है ।

पञ्च महायज्ञ-साधन

पञ्च महायज्ञसे हमारे नित्यके पापोंका प्रायश्चित्त तो होता है, यदि स्वार्थ-त्यागपूर्वक निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ इनका साधन किया जाय तो इनसे भगवत्प्राप्ति भी हो जाती है ।

ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ), पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ (बलिवैश्व और मनुष्ययज्ञ — ये पञ्चमहायज्ञ कहलाते हैं ।* जिस कर्मसे बहुतोंकी तृप्ति हो उसे यज्ञ कहते हैं और जिससे सारे संसारकी तृप्ति हो उ महायज्ञ कहते हैं । इस दृष्टिसे इनका महत्त्व बहुत अधिक है ।

देवयज्ञसे मुख्यतासे देवताओंकी, ऋषियज्ञसे ऋषियोंकी, पितृयज्ञ पितरोंकी, मनुष्य-यज्ञसे मनुष्योंकी और भूतयज्ञसे पशु-पक्षी आदि प्राणियों की तृप्ति होती है और गौणरूपसे इनके द्वारा सारे संसारकी तृ होती है । वैदिक सनातनधर्मके इन महायज्ञोंमें सम्पूर्ण संसारके जीवोंके

---

* अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
(मनु० ३ । ७०)

वेद-शास्त्रका पठन-पाठन एवं संध्योपासन, गायत्रीजप आदि ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ) है, नित्य श्राद्धतर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है ।

हितके लिये जैसा दया और उदारतापूर्ण स्वार्थत्यागका भाव भरा है, वैसा अन्य धर्मोंमें देखनेमें नहीं आता।

वेद और शास्त्रोंका पठन-पाठन जगत्‌के हितार्थ ऋषियोंको संतुष्ट करनेके लिये ही किया जाता है, अपने स्वार्थके लिये नहीं। संध्योपासनमें भी 'पश्येम शरदः' आदिमें सबके हितकी ही प्रार्थना की गयी है और इसी प्रकार गायत्रीमन्त्रमें स्तुति और ध्यान बतलाकर सभीकी बुद्धियोंको सत्कार्यमें लगानेकी प्रार्थना की गयी है।

पितृतर्पणमें भी देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर एवं सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जलदान करनेकी विधि है। यहाँतक कि पहाड़, वनस्पति और शत्रु आदिको भी जल देकर तृप्त किया जाता है।

देवयज्ञमें अग्निमें आहुति दी जाती है। वह सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि और वृष्टिसे अन्न और प्रजाकी उत्पत्ति होती है।*

भूतयज्ञसे भी सारे प्राणियोंकी तृप्ति होती है। इसको बलिवैश्वदेव भी कहते हैं, क्योंकि इसमें सारे विश्वके लिये बलि दी जाती है।

मनुष्ययज्ञमें अपने-आप घर आये हुए अतिथिका सत्कार करके उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन कराया जाता है†। यदि भोजन

---

* अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
(मनु० ३। ७६)

† सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥
(मनु० ३। ९९)

करानेकी सामर्थ्य न हो तो उसे बैठनेके लिये जगह, आसन, … और मीठे वचनोंका दान तो गृहस्थको अवश्य ही करना चाहिये।…

उपर्युक्त पाँच प्रकारके महायज्ञोंपर ऋषियोंने बहुत … दिया है । अतएव स्वाध्यायसे ऋषियोंका, हवनसे देवताओं… तर्पण और श्राद्धसे पितरोंका, अन्नसे मनुष्योंका और बलिकर्मसे स… भूतप्राणियोंका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये ।† इस प्रकार जो मनु… निष्कामभावसे नित्य सब प्राणियोंका सत्कार करता है, वह तेजोमय … धारणकर सरल अर्चिमार्गके द्वारा परमधामको प्राप्त होता है ।‡ इ… विपरीत जो मनुष्य दूसरोंको भोजन न देकर केवल अपने ही उदर-पोषण… लिये भोजन बनाता है, वह पापायु मनुष्य पाप ही खाता है । सबको भोज… देनेके बाद शेष बचा हुआ अन्न यज्ञशिष्ट होनेके कारण अमृतके … है इसलिये ऐसे अन्नको ही सज्जनोंके खाने योग्य कहा गया है।…

---

* तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥
(मनु० ३ । १०…

† स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितॄञ्छ्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥
(मनु० ३ । ८…

‡ एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना ॥
(मनु० ३ । ९…

§ अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥
(मनु० ३ । ११८…

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी प्रायः ऐसी ही बात कही है ।*

उपर्युक्त सभी महायज्ञोंका तात्पर्य है सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी अन्न और जलके द्वारा सेवा करना एवं अध्ययन-अध्यापन, जप, उपासना आदि स्वाध्यायद्वारा सबका हित चाहना । अपने स्वार्थके त्यागकी बात तो पद-पदमें बतलायी गयी है ।

हवनके और बलिवैश्वदेवके मन्त्रोंमें भी स्वार्थत्यागकी ही बात कही गयी है । जैसे 'ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे न मम । ॐ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये न मम ।' इस 'न मम'का अभिप्राय यह है कि यह आहुति ब्रह्मके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता । यह आहुति प्रजापतिके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता । अन्य मन्त्रोंमें भी इसी प्रकारके त्यागकी बात जगह-जगहपर कही गयी है । इन सबसे यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्यको अपने स्वार्थका त्याग करके संसारके हितके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ।

सम्पूर्ण संसारके प्राणियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो प्राणीमात्रकी सेवा कर सकता है । अन्य प्राणियोंके द्वारा भी जगत्‌का बहुत उपकार होता है, किंतु सबकी सेवा तो केवल मनुष्य ही कर सकता है । मनुष्यका शरीर खान-पान, ऐश-आराम और भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है । ये सब तो अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते

---

* यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(गीता ३ । १३)

हैं । मनुष्यका जन्म तो प्राणीमात्रके हितकी चेष्टा करनेके लिये ही है । अतएव सब लोगोंको चाहिये कि अपने तन, मन और धन निःस्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवाके लिये तत्परतासे चेष्टा और इस प्रकार प्राणीमात्रमें विराजित भगवान्‌की सेवा करके प्राप्त कर सफलजीवन हों ।

विषय-हवनरूप साधन

इन्द्रियोंके विषयोंको राग-द्वेषरहित होकर इन्द्रियरूप अग्निमें करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है । शब्द, स्पर्श, रूप आदिका स्पर्श और दर्शन आदि करते समय अनुकूल और प्रतिकूल पद राग-द्वेषरहित होकर उनका न्यायोचित सेवन करनेसे अन्तःकरण होता है और उसमें 'प्रसाद'का अनुभव होता है । उस 'प्रसा सारे दुःखोंका नाश होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती परंतु जबतक इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं होते तथा भोगोंमें नहीं होता, तबतक अनुकूल पदार्थके सेवनसे राग और हर्ष एवं प्रति सेवनसे द्वेष और दुःख होता है । अतएव सम्पूर्ण पदार्थोंको ना और क्षणभङ्गुर समझकर न्यायसे प्राप्त हुए पदार्थोंका विवेक और वै युक्त बुद्धिके द्वारा समभावसे ग्रहण करना चाहिये । श्रवण, स्पर्श, द भोजनादि कार्य रसबुद्धिका त्याग करके कर्तव्यबुद्धिसे भगव लिये करने चाहिये । इन पदार्थोंमें ऐश-आराम, मौज-शौक, स्वाद और इन्द्रियतृप्ति, रमणीयता या भोग-बुद्धिकी भावना ही मनुष्यके विकार उत्पन्न करके उसका पतन करनेवाली होती है । उपर्युक्त दो रहित होकर विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा किये जानेवाले इन्द्रि विषय-सेवनसे तो हवनके लिये अग्निमें डाले हुए ईंधनकी तरह

पदार्थ अपने-आप ही भस्म हो जाते हैं। फिर उनकी कोई भी सत्ता या प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर सारे दुःखों और पापोंका अभाव होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिर और अचल स्थिति हो जाती है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

महापुरुष-आज्ञा-पालनरूप साधन

जो पुरुष महात्माओंके* पास जाकर उनके उपदेशको सुनकर उसके अनुसार साधन करता है, उसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३।२५)

'जो पुरुष स्वयं इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग) न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं, वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

अतएव जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महात्माओंकी आज्ञाका पालन करता है, उसका कल्याण हो जाता है। शास्त्रोंमें इसके अनेक उदाहरण भी मिलते हैं।

---

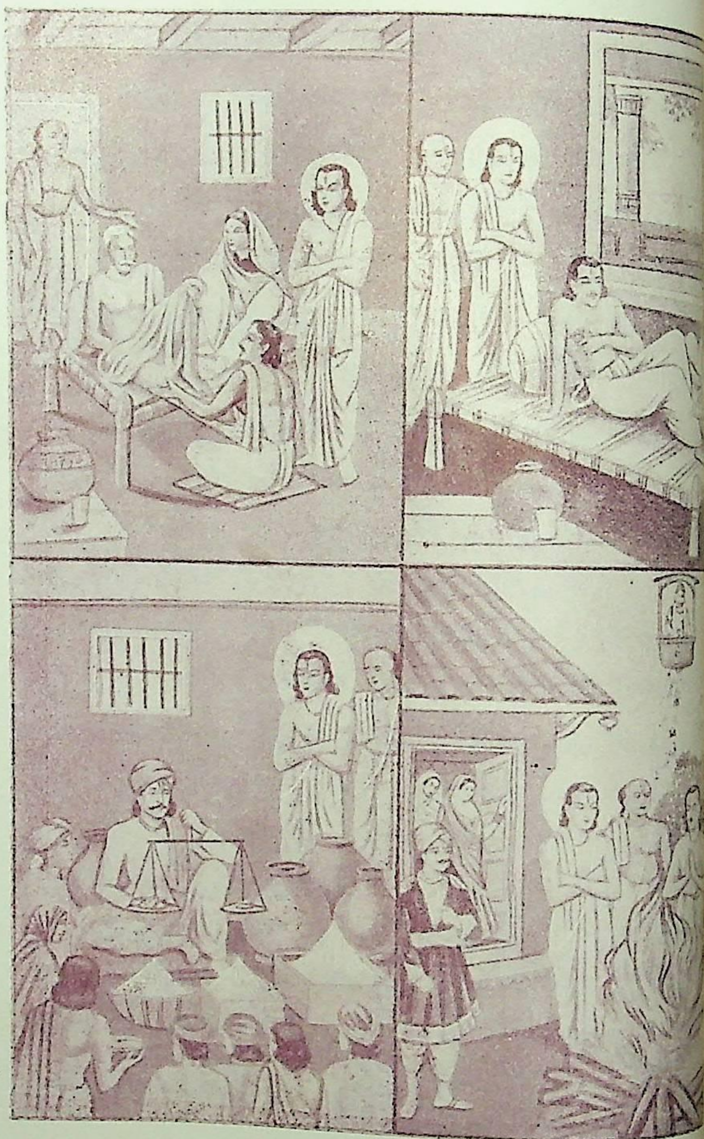
* ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी कोई भी पुरुष जो गीता अध्याय २ श्लोक ५५ से ७२ तथा अध्याय १२ श्लोक १३ से १९ और अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ में वर्णित लक्षणोंसे युक्त हो, उसीको महात्मा समझना चाहिये।

महाभारत आदिपर्वके तीसरे अध्यायके २१ वेंसे ३२ वें श्लोक
आयोदधौम्य और उनके शिष्य पाञ्चालदेशीय आरुणिकी कथा है।
लिखा है कि गुरुने शिष्यको खेतमें जाकर खेतकी मेंड बाँधनेकी
दी। शिष्य जब चेष्टा करनेपर भी मिट्टीसे मेंड न बाँध सका तब
स्वयं जलके प्रवाहके सामने सोकर जलको रोक दिया। जब शा
वह घर न लौटा तो गुरु उसे खोजते हुए खेतमें आये और पुकारने
उनकी आवाज सुनकर आरुणि उठा और जाकर सामने खड़ा हो
मिट्टीके स्थानपर खुद उसके पड़नेकी बात जानकर धौम्यमुनि उस
आज्ञापालन-परायणताको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वर
दिया कि तुमने जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, इससे तुम्हारा कल्य
हो जायगा। समस्त वेद और धर्मशास्त्रोंका ज्ञान तुम्हें बिना ही पढ़े
आप हो जायगा।* इसी प्रकार छान्दोग्य-उपनिषद्के अध्याय ४,
४ से ९ में भी एक कथा आती है। हारिद्रुमत गौतम ऋषिने
शिष्य सत्यकाम जाबालका उपनयन संस्कार करके उसे ४००
और दुर्बल गायोंको वनमें ले जाकर चरानेकी आज्ञा दी। शिष्यने गु
भाव समझकर यह कहा कि जब इन गायोंकी संख्या पूरी १०००
जायगी, तब मैं लौट आऊँगा।

कई वर्ष बीतनेपर एक दिन एक साँड़ने उससे कहा कि अब
पूरे हजार हो गये हैं, तुम हमें गुरुके पास ले चलो। सत्यकाम
उन्हें लेकर आने लगा तो गुरुकृपासे उसे साँड़, अग्नि, हंस और

---

* यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि।
सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति॥
(महा० आदि० ३। ३



मूक चाण्डाल, पतिव्रता शुभा, तुलाधार वैश्य और सज्जन अद्रो

(जलचर पक्षी) ने मार्गमें ही ब्रह्मका उपदेश दे दिया । जब वह घर लौटा तो उसे देखकर गुरुने कहा—'तुम तो ब्रह्मवेत्ता-से प्रतीत हो रहे हो, तुमको उपदेश किसने दिया ?' सत्यकामने रास्तेकी सच्ची-सच्ची घटना बतलाकर कहा—'मैं अब आपके द्वारा उपदेश प्राप्त करना चाहता हूँ ।' महर्षि गौतमने उसे पुनः वही ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया जो उसे रास्तेमें प्राप्त हुआ था ।

इसी प्रकारके और भी अनेक उदाहरण शास्त्रोंमें आते हैं, जिनमें महात्माओंके आज्ञापालनमात्रसे ही शिष्योंका कल्याण हुआ है ।

महात्माओंके आज्ञापालनसे परमकल्याण हो इसमें तो कहना ही क्या है, उनका दर्शन, स्पर्श और चिन्तन भी कल्याणका परम कारण होता है ।

देवर्षि नारदजीने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च । (नारदभक्तिसूत्र ३९)

'महात्मा पुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है ।'

महात्माओंका मिलना कठिन है, मिलनेपर उन्हें पहचानना कठिन है, परंतु न पहचाननेपर भी उनका मिलना व्यर्थ नहीं होता, वह महान् लाभप्रद होता है । जैसे सूर्यको न जानकर भी यदि कोई सूर्यके सामने आ जाय तो उसकी सरदी दूर हो जाती है । यह सूर्यका स्वाभाविक गुण है । इसी प्रकार महात्माओंका मिलन अपने स्वाभाविक वस्तुगुणसे ही मनुष्योंको लाभदायक होता है ।

अतएव महात्माओंके सङ्ग और उनके आज्ञापालनसे सबको लाभ उठाना चाहिये ।

सभी वर्णाश्रमोंमें मुक्ति

कई सज्जन कहते हैं कि मुक्ति संन्यास-आश्रममें ही होती; गृहस्थमें नहीं; किंतु उनका यह कहना कहाँतक उचित है समझमें नहीं आता; क्योंकि श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंको देखने माल्म होता है कि सभी वर्ण और आश्रमोंमें मुक्ति होती है। मुक्ति वर्ण, आश्रम और जातिकी प्रधानता नहीं; सद्गुण, सदाचा ईश्वरभक्ति और ज्ञानकी ही प्रधानता है; और यह बात शास्त्रसं एवं युक्तियुक्त है।

यदि कहें कि मुक्ति तो ज्ञानसे ही होती है—'ऋते ज्ञाना मुक्तिः'—इस सिद्धान्तके अनुसार निष्कामकर्म और ईश्वरभ आदि साधनोंसे मुक्ति नहीं होती तो यह कहना उचित नहं क्योंकि जिस परमात्माके ज्ञानसे मुक्ति बतलायी गयी है, वह ज्ञा निष्कामकर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अपने आप ही हे जाता है।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

इसके सिवा, गीतामें जगह-जगह निष्कामकर्मसे मुक्ति बतलायी है (जैसे—२। ५१; ३। १९; ५। ११-१२ आदि-आदि)।

जब निष्कामकर्मसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर अपने-आप ही ज्ञान होकर मुक्ति हो जाती है, तब ईश्वरकी भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(१०। १०। ११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञान-जनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

तथा श्रीभगवान्‌ने नवें अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डाला[illegible] कोई भी हों, वे भी मेरी शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते[illegible]

ईश्वरकी भक्तिसे जब स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि आदि[illegible] परम गति बतलायी है, तब फिर यह कहना बन ही कैसे सक[illegible] कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती ? ईश्वरके भक्तोंकी शरण [illegible] भी जातिसे नीच मनुष्योंतकके कल्याणकी बात श्रीमद्भाग[illegible] आती है—

> किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
> आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
> येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
> शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
> (२।४।१[illegible]

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आ[illegible] पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि अ[illegible] जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध[illegible] जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है ।'

—फिर भगवान्की शरण लेनेसे उद्धार हो जाय इसमें [illegible] कहना ही क्या है (देखिये गीता १८ । ६२) ।

शास्त्रोंमें सभी वर्णों और सभी आश्रमोंमें भक्ति, ज्ञान औ[illegible] निष्कामभाव आदि सभी साधनोंसे मुक्ति बतलायी गयी है और इ[illegible] अनेकों उदाहरण भी वेद-पुराण और इतिहासमें मिलते हैं ।

छान्दोग्योपनिषद्में बतलाया गया है कि उद्दालकमुनिने अ[illegible]

पुत्र श्वेतकेतुके प्रति ज्ञानका उपदेश देकर उसका उद्धार कर दिया। जबालाके पुत्र सत्यकामको गुरुकी आज्ञा पालन करनेसे ब्रह्मचर्याश्रममें रहते हुए ही ब्रह्मज्ञान होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी एवं सत्यकामके शिष्य उपकोशलने भी ब्रह्मचर्याश्रममें ही गुरुकी सेवासे ब्रह्मको प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार राजर्षि अश्वपति और राजा जनक स्वयं तो मुक्त थे ही, उनके पास बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी ज्ञान लेने जाते और मुक्ति प्राप्त किया करते थे। राजा अश्वपतिके पास जाकर प्राचीनशाल आदि ऋषियोंने ज्ञान प्राप्त किया और वे मुक्त हो गये।

याज्ञवल्क्य ऋषिसे उनकी पत्नी मैत्रेयीने ज्ञान प्राप्त किया। वचक्नुकी पुत्री गार्गी स्वयं ही जीवन्मुक्त थीं, जिन्होंने राजा जनककी सभामें ब्रह्मवेत्ताओंके प्रसंगमें याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किये थे। इनकी कथा बृहदारण्यकोपनिषद्में देखनी चाहिये।

यमराजसे उपदेश प्राप्त करके नचिकेताके जीवन्मुक्त होनेकी बात कठोपनिषद्में आती ही है।

माता-पिताकी सेवासे मूक चाण्डाल, पातिव्रत्यके पालनसे शुभा नामकी स्त्री, न्याययुक्त सत्यतापूर्वक क्रय-विक्रयसे तुलाधार वैश्य, उत्तम गुणोंसे सज्जन अद्रोहक एवं भगवद्भक्तिसे वैष्णव परमात्माको प्राप्त हो गये। इनका आख्यान पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें बड़े ही विस्तारसे आता है, वह देखने योग्य है।

राजा चोल तथा ब्राह्मण विष्णुदास भी ईश्वरकी भक्तिसे परमपदको प्राप्त हो गये, यह कथा पद्मपुराणके पातालखण्डमें आती

है। राजा अम्बरीष और भीष्मपितामहको भगवद्भक्तिके प्र
भगवान्‌की प्राप्ति होनेका उल्लेख श्रीमद्भागवतमें आता है तथा
अर्जुन और द्रौपदीको परमपद-प्राप्तिका वर्णन महाभा
स्वर्गारोहणपर्वमें है। मार्कण्डेयपुराणमें भगवतीकी उपासनासे स
वैश्यकी परमपद-प्राप्तिकी कथा है। लोमहर्षण, उग्रश्रवा, सं
और दासीपुत्र विदुर, जिनकी कथा महाभारतमें आती
भगवान्‌की भक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त हो गये। शबरी भीलनीने
भगवान्‌की भक्ति करके भगवत्प्राप्ति कर ली, जिसकी कथा वाल्मी
रामायणके अरण्यकाण्डमें मिलती है।

इस प्रकार सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें अनेक
पुरुषोंको कर्म, उपासना तथा योग आदि साधनोंसे परमात्माकी प्र
होनेका उल्लेख शास्त्रोंमें जगह-जगह पाया जाता है, कहाँ
दिखलावें।

उपर्युक्त उदाहरणोंमें अधिकांश गृहस्थाश्रमी हैं।
वानप्रस्थी और संन्यासियोंका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना
क्या है। अन्य सभी आश्रमियोंका भरण-पोषण गृहस्थाश्रमसे
होता है, इसलिये पुराणोंमें कहीं-कहीं तो गृहस्थाश्रमको अ
आश्रमोंसे श्रेष्ठ भी बतलाया है। अतः जो नर-नारी गृहस्थाश्र
रहकर अपने वर्णधर्मका निष्कामभावसे पालन करते हुए ईश्वर
अनन्यभक्ति करते हैं, उनकी मुक्तिमें कोई संदेह नहीं है
श्रीस्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डमें महात्मा नन्दभद्र वैश्यकी बड़ी
महत्त्वपूर्ण कथा है, जिनमें अपने वर्णधर्मका निष्कामभावसे आचर

करना, सम्पूर्ण धर्मोंके वास्तविक सारतत्त्वको समझकर सबको आदर देना एवं साथ ही भगवान् सदाशिवका अनन्य भक्ति करना—ये तीनों विशेषताएँ विद्यमान थी। उनका विस्तृत आख्यान स्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डान्तर्गत कुमारिकाखण्डके ४०–४१ वें अध्यायमें देखने योग्य है। यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये उसका संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

नन्दभद्र नामक एक वैश्य थे। वे साक्षात् धर्मराजकी भाँति समस्त धर्मोंके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले थे। वे सबके सुहृद् थे और सदा सभीके हितसाधनमें संलग्न रहते थे। उन्होंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा इस परोपकार-धर्मका ही आश्रय ले रक्खा था। नन्दभद्रने इस विशाल धर्मसमुद्रका सब ओरसे मन्थन करके सारतत्त्व ग्रहण किया था।

वे जीविकाके लिये न्याययुक्त वाणिज्यको श्रेष्ठ मानते थे और उसीको अपनाये हुए थे। उन्होंने थोड़ेसे काठ और घास-फूससे अपने रहनेके लिये घर बना रक्खा था और सब लोगोंकी भलाईके लिये तथा शरीरनिर्वाहके लिये वे कम मुनाफा लेकर व्यापार करते थे। उनके क्रय-विक्रयकी वस्तुओंमें मदिरा सर्वथा वर्जित थी। उनके यहाँ ग्राहकोंके साथ भेदभाव न करके समताका व्यवहार किया जाता था। झूठ और कपटका तो वहाँ नाम भी न था। वस्तुओंके आदान-प्रदानमें वे सबके साथ समतापूर्ण बर्ताव करते थे। बिना छल-कपटके दूसरोंसे खरीदकी वस्तु लेकर उसे बिना किसी धोखाधड़ीके वे सब लोगोंको समानभावसे बेचते थे। यही उनका श्रेष्ठ व्रत था।

कुछ लोग यज्ञकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र सर्वथा ... नहीं मानते थे। वे श्रद्धापूर्वक देवपूजन, नमस्कार, स्तुति, नैवेद्य-नि... आदि यज्ञकी सारभूत बातोंका सदा ही पालन करते थे। कोई-कोई संन्यासकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्र उनसे भी सर्वथा स... नहीं थे। उनका कहना था कि जो विषयोंका बाहरसे त्याग क... मनसे उनका चिन्तन करता है, वह पुरुष गृहस्थ और संन्या... अथवा इहलोक और परलोक—दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर फटे ... बादलकी भाँति नष्ट हो जाता है। संन्यासका जो सारभूत उ... तत्त्व है, उसका आदर तो नन्दभद्र भी करते थे।

वे किसीके कर्मोंकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करते थे। किसी... साथ न उनका द्वेष था, न राग; न अनुरोध था, न विरोध। प... और सुवर्णको वे समान समझते तथा अपनी निन्दा और स्तुतिमें... समान भाव रखते थे। वे स्वभावसे ही धीर थे। सम्पूर्ण भूतों... निर्भय रहते थे। अपनी आकृति ऐसी बनायी रखते थे, मानो अ... और बहरे हों; अर्थात् वे दूसरोंके दोषोंको न देखते और न सुनते... कर्मोंके फलकी उन्हें कोई आकाङ्क्षा नहीं थी। अतः प्रत्येक क... उनके लिये भगवान् सदाशिवकी आराधनाका अङ्ग बन जाता था। इसी कारण वे धर्मका अनुष्ठान तो चाहते और करते थे, परंतु उसमें कोई स्वार्थ नहीं रखते थे। नन्दभद्रने भलीभाँति विचार करके ... मोक्षप्राप्तिके साररूप धर्मको ग्रहण किया था।

कुछ लोग खेतीकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्रने उसके ... सारभागको ही अपनाया था। खेतीकी आयमेंसे तीसरे भागका त्या... करना चाहिये—उसे धर्मके कार्यमें लगा देना चाहिये। ...

पशुओंका भी स्वयं ही पालन-पोषण करना चाहिये । जो ऐसा करे, वही श्रेष्ठ किसान है । नन्दभद्रने इसीको खेतीका सार मानकर इसका आदर किया था ।

प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों (अतिथियों), ब्राह्मणों तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भूतोंके लिये अन्न देना चाहिये । सदा इन सबको देकर ही स्वयं भोजन करना उचित है । यह उनका सिद्धान्त था ।*

कुछ लोग ऐश्वर्यकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र उसे प्रशंसाके योग्य नहीं मानते थे; क्योंकि ऐश्वर्यशाली पुरुष अपनेको चिरस्थायी समझकर दूसरोंके साथ दुर्व्यवहार करते हैं ! वास्तवमें जो धनके मदसे उन्मत्त होता है, वह पतित होकर विवेक खो बैठता है। अतः सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनी ही आत्मा मानकर उनके प्रति अपने ही-जैसा बर्ताव करना चाहिये ।†

---

* गीतामें भी भगवान्‌ने ऐसा ही कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(३ । १३)

‘यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं ।’

† श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(६ । २९)

जिसकी सर्वत्र आत्मदृष्टि है, वह ऐश्वर्यसे मतवाला नहीं होता। इसलिये वे अपनी शक्तिके अनुसार सभी प्राणियोंकी सेवा करते थे, किसीकी भी सेवासे विमुख नहीं होते थे। इस आचरणसे रहनेवाले साधुशिरोमणि नन्दभद्रके सद्व्यवहारकी देवतालोग भी स्पृहा रखते थे।

इसी स्थानमें एक शूद्र भी रहता था, जो नन्दभद्रका पड़ोसी था। उसका नाम तो था सत्यव्रत, किंतु वह बड़ा भारी नास्तिक

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

'अर्जुन! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है।'

'अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

अपनी सादृश्यतासे सम देखनेका तात्पर्य है—जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर गुदाके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकोंका सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे उनके सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब भूतोंमें देखना चाहिये।

था। उसकी इच्छा थी, यदि इनका कोई छिद्र देख पाऊँ तो इन्हें धर्मसे गिरा दूँ। नन्दभद्रके वृद्धावस्थामें एक पुत्र हुआ, किंतु वह चल बसा। इसे प्रारब्धका फल मानकर उन महामति वैश्यने शोक नहीं किया। तदनन्तर, नन्दभद्रकी प्यारी पत्नी कनका, जो पतिव्रता अरुन्धतीकी भाँति साध्वी स्त्रियोंके समस्त सद्गुणोंसे विभूषित थी, सहसा मृत्युको प्राप्त हो गयी। सत्यव्रतको बहुत दिनोंके बाद बड़ी प्रसन्नता हुई। 'बड़े कष्टकी बात हुई,' ऐसा कहता हुआ वह शीघ्र ही नन्दभद्रके पास आया और मित्रकी भाँति मिलकर उनसे बोला—नन्दभद्रजी! यदि तुम-जैसे धर्मात्माको भी ऐसा फल मिला तो इससे मेरे मनमें यही आता है कि यह धर्म-कर्म व्यर्थ ही है। मैं वाणीके अठारह और बुद्धिके नौ दोषोंसे रहित सर्वथा निर्दोष वाक्य बोलूँगा।* शास्त्रोंके जालसे पृथक् हो मिथ्यावादोंको छोड़कर केवल सत्य कहना ही मेरा व्रत है। इसलिये 'मैं 'सत्यव्रत' कहलाता हूँ। मैं तुमसे सच्ची बात कहूँगा।

'जबसे तुम पत्थर (शिवलिङ्ग) पूजनेमें लग गये, तबसे तुम्हें

---

*सूक्ष्मता, संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच अर्थ जिसमें उपलब्ध होते हैं, उसे वाक्य कहते। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उद्देश्यसे जो कुछ कहा जाता है, वह 'प्रयोजन' नामक वाक्य कहा गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें प्रतिज्ञा करके वाक्यके उपसंहारमें 'यही वह है' ऐसा कहकर जो विशेषरूपसे सिद्धान्त बताया जाता है, वह 'निर्णय' नामक वाक्य है। 'यह पहले और यह पीछे कहना चाहिये'—इस प्रकार क्रमविभागपूर्वक जो प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन किया जाता है, उसे वाक्यतत्त्वके ज्ञाता विद्वान् 'क्रम' कहते हैं जहाँ दोषों और गुणोंका यथावत् विभाग करके दोनोंके लिये प्रमाण उपस्थित किया जाय, उसे 'संख्या' वाक्य समझना चाहिये और जहाँ वाक्यके विभिन्न अर्थोंमें

कोई अच्छा फल मिला हो, ऐसा मैं नहीं देखता। तुम्हारे एक तो पुत्र था, वह भी नष्ट हो गया। पतिव्रता पत्नी थी, सो संसारसे चल बसी। भैया! देवता कहाँ हैं? सब मिथ्या है यदि होते तो दिखायी न देते? यह सब कुछ कपटी ब्राह्मणों झूठी कल्पना है। संसारकी सृष्टि और संहार—ये दोनों बातें

अभेद देखा जाता है, उस अतिशय अभेदकी प्रतीतिमें जो हेतु है उसे ही 'सूक्ष्मता' कहते हैं। यह वाक्यके गुणोंकी गणना हुई।

वाणीके अठारह दोष इस प्रकार समझने चाहिये—अपेतार्थ, अभिन्नार्थ, अप्रवृत्त, अधिक, अश्लक्ष्ण, संदिग्ध, पदान्त अक्षरका गुरु होना, पराङ्मुख-मुख, अनृत, असंस्कृत, त्रिवर्गविरुद्ध, न्यून, कष्टशब्द, अतिशब्द, व्युत्क्रमाभिहृत, सशेष, अहेतुक तथा निष्कारण। जिस वाणीका उच्चारण करनेपर भी अर्थका भान न हो, वह 'अपेतार्थ' है। जिसमें अर्थभेदकी स्पष्ट प्रतीति न हो, वह 'अभिन्नार्थ' है, जो सदा व्यवहारमें न आता हो, ऐसा शब्द 'अप्रवृत्त' कहा गया है। जिसके न रहनेपर भी वाक्यार्थ-बोध हो जाता है, वह वाक् या शब्द 'अधिक' है। अस्पष्ट अथवा अपरिमार्जित वाणीको 'अश्लक्ष्ण' कहते हैं। जिससे अर्थमें संदेह हो, वह 'संदिग्ध' है। 'पदान्त अक्षरका गुरु उच्चारण' भी एक दोष ही है। वक्ता जिस अर्थको व्यक्त करना चाहता है, उसके विपरीत अर्थकी ओर ले जानेवाली वाणीको 'पराङ्मुख-मुख' कहा गया है। 'अनृत' का अर्थ है असत्य। व्याकरणसे सिद्ध न होनेवाली वाणीको 'असंस्कृत' कहते हैं। धर्म, अर्थ और कामके विपरीत विचार प्रकट करनेवाली वाणी 'त्रिवर्ग-विरुद्ध' कही गयी है। अर्थबोधके पर्याप्त शब्दका न होना 'न्यून' दोष है। जिसके उच्चारणमें क्लेश हो, वह 'कष्टशब्द' है। अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दको यहाँ 'अतिशब्द' कहा है। जहाँ क्रमका उल्लङ्घन करके शब्दप्रयोग हुआ हो, वह 'व्युत्क्रमाभिहृत' कहलाता है। वाक्य पूरा होनेपर भी यदि बात पूरी नहीं हुई तो वहाँ 'सशेष' नामक दोष है। कथित अर्थकी सिद्धिके लिये जहाँ उचित तर्क या युक्तिका अभाव हो, वहाँ 'अहेतुक' दोष है। और

हैं। यह विश्व स्वभावसे ही सदा वर्तमान रहता है, ये सूर्य आदि ग्रह स्वभावसे ही आकाशमें विचरण करते हैं, स्वभावसे ही पृथ्वी स्थिर है, स्वभावसे ही समुद्र अपनी मर्यादामें स्थित है, स्वभावसे ही ये बहुतेरे जीव उत्पन्न होते हैं, स्वभावसे ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है। इसका कोई प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला कर्ता (ईश्वर) नहीं है।

'धूर्तलोग इस मनुष्ययोनिको भी श्रेष्ठ बतलाते हैं, किंतु मनुष्ययोनिसे बढ़कर दूसरी किसी योनिमें कष्ट नहीं है। ये पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े बिना किसी बन्धनके सुखपूर्वक विहार करते हैं, इनकी योनि अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्योंकी अपेक्षा अन्य योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले सभी जीव धन्य हैं। इसलिये नन्दभद्र! तुम मिथ्याधर्मका परित्याग करके मौजसे खाओ, पीओ, खेलो और भोग भोगो। पृथ्वीपर बस यही सत्य है।

किसी बातके कहे जानेका कोई कारण नहीं बताया गया हो, अथवा किसी शब्दके प्रयोगका उचित कारण न हो, तब वहाँ 'निष्कारण' दोष है।

काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, कुटिलता, दयाहीनता, सम्मानहीनता, धर्महीनता—ये नौ बुद्धिके दोष हैं। जब वक्ता, श्रोता और वाक्य—तीनों अविकल रहकर बोलनेकी इच्छामें समान अवस्थाको प्राप्त हों, तभी वक्ताका अभिप्राय यथावत् रूपसे प्रकट होता है। बातचीत करते समय जब वक्ता श्रोताकी अवहेलना करता है अथवा श्रोता ही वक्ताकी उपेक्षा करने लगता है, तब बोला हुआ वाक्य बुद्धिपथपर नहीं चढ़ता। इसके सिवा, जो सत्यका परित्याग करके अपनेको अथवा श्रोताको प्रिय लगनेवाला वचन बोलता है, उसके उस वाक्यमें संदेह उत्पन्न होने लगता है, अतः वह वाक्य भी सदोष ही है। इसलिये जो अपनेको या श्रोताको प्रिय लगनेवाली बात छोड़कर केवल सत्य ही बोलता है, वही इस पृथ्वीपर यथार्थ वक्ता है, दूसरा नहीं।

सत्यव्रतके इन वाक्योंसे, जो अशुभकर, अयुक्तिसंगत असमञ्जस (दोषपूर्ण) थे, महाबुद्धिमान् नन्दभद्र तनिक विचलित नहीं हुए । (वे क्षोभरहित समुद्रकी भाँति गम्भीर उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—'सत्यव्रतजी ! आपने जो यह कि धर्मात्मा मनुष्य सदा दुःखके भागी होते हैं, वह झूठ है तो पापियोंपर भी बहुतेरे दुःख आते देखते हैं । संसारबन्धन क्लेश तथा पुत्र और स्त्री आदिकी मृत्युके दुःख पापी मनु यहाँ भी देखे जाते हैं, इसलिये मेरे मतमें धर्म ही श्रेष्ठ है ।

'दूसरी बात जो आप यह कहते हैं कि इस संसारका कोई महान् ईश्वर नहीं है, यह भी बच्चोंकी-सी बात है । क्या बिना राजाके रह सकती है ? इसके सिवा आप जो यह कह कि तुम झूठे ही पत्थरके लिङ्गकी पूजा करते हो, इसके उत्तरमें इतना ही निवेदन करना है कि आप शिवलिङ्गकी महिमाको जानते हैं । ठीक उसी तरह, जैसे अंधा सूर्यके स्वरूपको नहीं जा भगवान् श्रीरामने समुद्रके किनारे श्रीरामेश्वर-लिङ्गकी स्थापना है, क्या वह झूठा ही है ?

'आप जो यह कहते हैं कि 'देवता नहीं हैं और यदि कहीं भी दिखायी क्यों नहीं देते ?' आपके इस प्रश्नसे मुझे आश्चर्य हो रहा है । जैसे दरिद्रलोग द्वार-द्वार जाकर भीख हैं, उसी प्रकार क्या देवता भी आपके पास आकर याचना यदि आपके मतमें सब पदार्थ स्वभावसे ही सिद्ध होते हैं तो कर्ताके बिना भोजन क्यों नहीं तैयार हो जाता ? इसलिये निर्माणकार्य है, वह अवश्य किसी-न-किसी कर्ताका ही है ।

आपने जो यह कहा है कि ये पशु आदि प्राणी ही सुखी तथा धन्य हैं, यह बात आपके सिवा और किसीने न तो कही है और न सुनी ही है। तमोगुणी और अनेक इन्द्रियोंसे रहित जो पशु-पक्षी आदि प्राणी हैं तथा उनके जो कष्ट हैं, वे भी यदि स्पृहणीय और धन्य हैं तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे युक्त मनुष्य श्रेष्ठ और धन्य क्यों नहीं हैं? मैं तो समझता हूँ कि आपका जो यह अद्भुत सत्यव्रत है, इसे आपने नरक जानेके लिये ही संग्रह किया है। आपने पहले ही जो आडम्बरपूर्ण भूमिका बाँधकर अपने ज्ञानका परिचय देना आरम्भ किया है, उसीमें आपके इन वचनोंकी सारहीनता व्यक्त हो गयी है। आपने प्रतिज्ञा तो की थी कुछ और कहनेके लिये, परंतु कह डाला कुछ और ही। इसमें आपका कोई दोष नहीं है, सब दोष मेरा ही है, जो मैं आपकी बात सुनता हूँ। नास्तिक, सर्प और विष—इनका तो यह स्वभाव ही है कि ये दूसरेको मोहित करते हैं। प्रतिदिन साधुपुरुषोंका सङ्ग करना धर्मका कारण है। इसलिये विद्वान्, वृद्ध, शुद्ध भाववाले तपस्वी तथा शान्तिपरायण संत-महात्माओं-के साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। दुष्ट पुरुषोंके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, एक आसनपर बैठने तथा एक साथ भोजन करनेसे धार्मिक आचार नष्ट होते हैं। नीचोंके सङ्गसे पुरुषोंकी बुद्धि नष्ट होती है, मध्यम श्रेणीके लोगोंके साथ उठने-बैठनेसे बुद्धि मध्यम स्थितिको प्राप्त होती है और श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ समागम होनेसे बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है। इस धर्मका स्मरण करके मैं पुनः आपसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखता, क्योंकि आप सदा ब्राह्मण आदिकोंकी ही निन्दा करते हैं। वेद प्रमाण हैं, स्मृतियाँ प्रमाण हैं तथा धर्म

और अर्थसे युक्त वचन प्रमाण है; परंतु जिसकी दृष्टिमें वे
ही प्रमाण नहीं हैं, उसकी बातको कौन प्रमाण मानेगा ?

इस प्रकार कह महात्मा नन्दभद्र वहाँसे उठकर चले
वे सदा भगवान् शिवकी उपासनामें लगे रहते और इस
भगवान् शिवकी भक्ति करते हुए वे परम पदको प्राप्त हो गये।

भक्तिसहित निष्काम कर्मके विषयमें तो शास्त्रका विधि
भी है। श्रीभगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४५-

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें तत्परतासे लगा हुआ
भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वा
कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सि
प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन।'

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है
जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वा
कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव सभी मनुष्योंको परमात्माकी शरण होकर अपने
वर्ण-आश्रमके अनुसार जगज्जनार्दनकी सेवा करके परमात्माकी प्रा
लिये जीतोड़ प्रयत्न करना चाहिये।

त्रिविध कर्म

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण । किये हुए शुभ, अशुभ और मिश्रित कर्मोंमेंसे फल देनेके लिये सम्मुख हुए कर्मोंका नाम 'प्रारब्ध' है, जो सुख-दुःखके* निमित्तभूत जाति, आयु और भोग दिया करते हैं । 'संचित' उन कर्मोंका नाम है, जो अनेक जन्मोंमें और इस जन्ममें किये हुए कर्म हैं और जो भोग देनेके लिये सम्मुख नहीं हुए हैं, पर कर्माशयमें इकट्ठे पड़े हैं । 'क्रियमाण' उन कर्मोंको कहते हैं, जो वर्तमानमें शुभ, अशुभ और मिश्रित कर्म फल, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानपूर्वक किये जाते हैं । इन कर्मोंको 'पुरुषार्थ' भी कहते हैं; किंतु जो कर्म फलासक्ति और कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर किया जाता है, वह कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं है । (गीता ४ । २०; १८ । १७)

---

* वस्तुतः यह सुख-दुःखका भोग जीवको अज्ञानस्थितिमें होता है । सुख-दुःख किसी घटना, वस्तु या स्थितिमें नहीं है, वह तो प्रतिकूल या अनुकूल भावनामें ही है और प्रतिकूल-अनुकूल भावना अज्ञानजनित है, इसलिये जितने भी जाति, आयु और भोग हैं सब अज्ञानियोंके लिये ही सुख-दुःखजनक हैं । ज्ञानीके लिये विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । इस प्रकार भक्तकी दृष्टिमें भी जगत्में सब कुछ भगवान् और भगवान्‌की लीला है । लीला तथा लीलामयमें अभेद है । अतएव वह भी प्रतिकूल-अनुकूल न देखकर सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करता है, इसलिये उसे भी सुख-दुःख नहीं होते । वह अपने प्रभुके स्वरूपसे अभिन्न विचित्र लीलाविलासको देख-देखकर मुग्ध होता रहता है ।

इन तीनोंमें 'संचित' के द्वारा विभिन्न प्रकारकी शुभ स्फुरणाएँ होती हैं, पर उनके अनुसार कर्म करना, न करना अधिकारमें है। शुभ स्फुरणा होनेपर भी पुरुषार्थके अभावसे कर्म न होनेके कारण वह सफल नहीं होती। प्रारब्धसे भी स्फुरणा होती और उसके अनुसार कर्म होते हैं; पर यहाँ भी कर्म करनेको मनुष्य बाध्य नहीं है। हाँ, प्रारब्धानुसार फलभोग अवश्य होता है। प्रारब्ध होगा तो बिना पुरुषार्थके ही अनिच्छा या परेच्छासे शुभ मिल जायगा। इसी प्रकार अशुभ भी मिल जायगा। क्रियमाण (पुरुषार्थ) तो नया फल पैदा करता ही है। अवश्य ही यह नियम नहीं है कि वह अभी तुरंत ही फल दे दे। प्रबल कर्म होने फलदानोन्मुख प्रारब्धके बीचमें ही वह प्रारब्ध बनकर अपना फल सकता है। जैसे किसीके प्रारब्धमें पुत्रका योग नहीं है; परंतु पुत्रेष्टि यज्ञ सविधि सम्पन्न होनेपर नवीन प्रारब्ध बनकर पुत्रोत्पादनमें कारण बन सकता है। इसी प्रकार आयुके विषयमें समझना चाहिये। सावित्रीने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे यमराजको प्रसन्न करके वरदानके रूपमें अपने पतिके लिये दीर्घायु प्राप्त कर ली थी। यह नवीन प्रारब्ध था, जो प्रबल पुरुषार्थ (क्रियमाण) का फल था परंतु सुख-दुःख आदि फलोंके भोगमें प्रधानता पूर्वकृत कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धकी ही है।

संचितसे स्फुरणा होती है, प्रारब्धसे सुख-दुःखको देनेवाले आयु और भोगोंकी प्राप्ति होती है और पुरुषार्थसे नये कर्म बनते हैं। यहाँ एक दृष्टान्तके द्वारा इन तीनों प्रकारके कर्मोंके सम्बन्धमें

दिखलाया जाता है कि किसी कर्मकी प्रबलतासे कैसे क्या कार्य होता है।

एक जगह तीन मित्र बैठे थे। उनसे किसीने आकर कहा कि अमुक स्थानपर एक बड़े महात्मा आये हुए हैं। इसपर इनमेंसे एकने कहा कि 'चलो भाई ! हम भी दर्शन कर आवें !' दूसरेने कहा—'मैं तो नहीं जाऊँगा। तुमलोग भले ही आओ।' तीसरेने जाना स्वीकार किया और वे दोनों महात्माके स्थानपर जा पहुँचे। वहाँ जानेपर पता लगा कि 'महात्मा अभी थोड़ी ही देर हुई शहरमें गये हैं, कुछ देरमें आवेंगे।' इसपर तीसरा जो गया था, वह तो वहाँ जमकर बैठ गया। उसने कहा कि 'कितनी ही देरमें आवें, मैं तो दर्शन करके ही जाऊँगा। पहलेने कहा—'भाई ! इतनी देर कौन बैठे, मैं तो वापस जा रहा हूँ।' अतएव तीसरा वहीं बैठ रहा और पहला लौट गया। इधर महात्मा शहरमें घूमते-घामते उसी स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ दूसरा बैठा था, जो महात्माके दर्शनार्थ जानेसे इन्कार करके डेरेपर ही रह गया था, उसको वहीं महात्माके दर्शन हो गये; कहीं जाना नहीं पड़ा। महात्मा वहाँसे लौटकर अपने स्थानपर गये और वहाँ उस तीसरेको भी दर्शन हो गये, जो वहाँ जमकर बैठ गया था। दूसरा जो वहाँसे लौट आया था, वह दूसरे रास्तेसे लौटा; अतः उसको महात्माके दर्शन हुए ही नहीं। इन तीनोंमें पहलेका तो शुभ संचित प्रबल था, जिसने महात्माके पास जानेकी इच्छा प्रकट की, परंतु पुरुषार्थकी कमीसे वहाँ जाकर भी वह बैठा नहीं, लौट आया। दूसरेका शुभ प्रारब्ध प्रबल था, जिसने घर बैठे महात्माके

दर्शन करा दिये और तीसरेका शुभ पुरुषार्थ प्रबल था, जि
कारण वह दृढ़तर होकर वहाँ बैठ गया और दर्शन करके ही उठ

संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।
और मोक्षकी सिद्धिमें तो पुरुषार्थ प्रधान है तथा अर्थ और का
सिद्धिमें प्रारब्ध प्रधान है। अज्ञानीलोग धर्म और मोक्षको प्रार
छोड़ देते हैं, वे धर्म और मोक्षसे वञ्चित रह जाते हैं; क्योंकि ध
पालन और मुक्तिका साधन नवीन कर्म है, पूर्वकृत कर्मोंका फल
है। मनुष्यका उत्तम स्वभाव और उत्तम संचित कर्म प्रेरक हों
सहायक हैं। प्रारब्ध कर्म बीमारी आदि अप्रियके संयोग और प्रि
वियोगको निमित्त बनाकर कमजोर आदमीके लिये धर्म और मो
साधनमें बाधक हो जाया करते हैं एवं कहीं सत्सङ्ग आदिके सं
सहायक भी हो जाया करते हैं; किंतु धर्मके पालन और मो
साधनमें मुख्य हेतु प्रयत्न (पुरुषार्थ) ही है; क्योंकि धर्मका पा
और मुक्तिका साधन अपने आप होना सम्भव नहीं है। इसलि
मनुष्यको धर्मके पालन और मुक्तिके साधनके लिये महत्कृपाका आ
लेकर कटिबद्ध हो तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये।

प्रारब्ध

मूर्ख मनुष्य अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये झूठ, कपट, चो
व्यभिचार आदि नाना प्रकारके पाप करते हैं; किंतु उससे कुछ न
मिलता। जो कुछ मिलता है वह उसके पूर्वके प्रारब्धसे ही मिलता
और वह बिना पाप किये भी अवश्य मिलेगा ही। मनुष्य प्रयत्न

पाप करता है पर उसका फल जो दुःख है, उसे भोगना नहीं चाहता; किंतु अनेक प्रतीकार करते हुए भी उसे पापका फल दुःख भोगना ही पड़ता है। जिस प्रकार पापका फल दुःख अनेक प्रतीकार करनेपर भी नहीं रुकता, उसी प्रकार पुण्यका फल अर्थ और कामरूप सुख भी बिना प्रयत्न किये ही प्राप्त होगा। प्रयत्न तो केवल निमित्तमात्र है; क्योंकि अर्थ और कामकी सिद्धिमें मुख्य हेतु प्रारब्ध ही है। जो कुछ प्राप्त होना है, उससे अधिक तो होगा नहीं और जो होना है, वह प्रतीकार करनेपर भी रुक नहीं सकता, अतएव अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये पाप करना निरी मूर्खता है।

मनुष्य अज्ञानवश अर्थ और कामको पुरुषार्थके अधीन मानकर उनकी सिद्धिके लिये अपना जीवन लगा देते हैं तथा नाना प्रकारके पाप करके आसुरी योनियों और नरकोंमें गिरते हैं; किंतु यदि अर्थ और कामकी सिद्धि पुरुषार्थसे होती तो सभी आदमी धनी बन जाते एवं सभीकी कामना भी सफल हो जाती; क्योंकि सभी धनी बनना चाहते हैं तथा सभीको अपनी कामनाओंकी पूर्तिकी भी इच्छा है। पर ऐसा देखनेमें नहीं आता। कहीं-कहीं पूर्वके प्रबल प्रारब्धसे काम और अर्थकी सिद्धि हो जाती है तो मूर्ख मनुष्य उसे अपने पुरुषार्थसे हुई मान बैठते हैं; परंतु यह बात गलत है। इसलिये मनुष्यको अर्थ और कामके परायण होकर अपने मनुष्य-जीवनको नष्ट करना उचित नहीं है।

प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—अनिच्छासे, परेच्छासे और स्वेच्छासे।

मनुष्य न तो मरना ही चाहता है और न दुःख ही भोगना चाहता है, पर पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप वज्रपात, महामारी, अकाल, अग्नि और बाढ़ आदिकी पीड़ासे मनुष्य दुःखित हो जाता है और कोई-कोई मर भी जाता है तथा इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्यके प्रभावसे किसीको अकस्मात् कहीं गड़े हुए धनकी प्राप्ति हो जाती है और किसीकी पैतृक सम्पत्तिका मूल्य बढ़ जाता है, जो सुखका हेतु है। यह सब अनिच्छा-प्रारब्धका भोग है।

पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप दुःखके हेतुभूत चोर, डाकू, सिंह, व्याघ्र आदिके द्वारा धन, जन और शरीरकी हानि हो जाती है और इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे उसे कोई दत्तक पुत्र बना लेता है या कोई राजा राज्य सौंप देता है, जो कि सुखका हेतु है। यह सब परेच्छा-प्रारब्धका भोग है।

उपर्युक्त अनिच्छा और परेच्छा-प्रारब्धसे प्राप्त सुख-दुःख-भोगके विषयमें भोक्ता मनुष्य बिल्कुल परतन्त्र है। स्वेच्छापूर्वक किये हुए कृषि और व्यापार आदिमें पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप दुःखका हेतुभूत नुकसान लग जाना तथा अपने और अपने कुटुम्बीजनोंके रोगादिकी निवृत्तिके लिये किये जानेवाले औषधादि उपचारोंका विपरीत परिणाम होना और इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे सुखके हेतुभूत स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदिकी प्राप्तिके लिये इच्छापूर्वक किये हुए प्रयत्नकी सफलताका होना—यह सब स्वेच्छा-प्रारब्ध-भोग है।

उपर्युक्त प्रकारसे इस जन्ममें जो प्रारब्धका भोग होता है, वह अधिकांशमें तो पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंका ही फल होता है; किंतु

कोई-कोई इस जन्ममें किया हुआ बलवान् क्रियमाण कर्म भी तुरंत प्रारब्ध बनकर इसी जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है; जैसे कोई पुरुष परस्त्रीगमन आदि पापकर्म करता है तो उसके फल-स्वरूप उसे उपदंश, सूजाक, धातुक्षय आदि बीमारियाँ हो जाती हैं तथा इसी प्रकार कोई स्त्री, पुत्र, धनकी प्राप्ति और रोगकी निवृत्ति-की कामनासे यज्ञ, दान, तपरूप पुण्यकर्म विधि और श्रद्धापूर्वक करता है तो उसके फलस्वरूप उसे उपर्युक्त इष्टकी प्राप्ति हो जाती है। परंतु जो मनुष्य आत्मोद्धारके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और निष्कामकर्म आदि साधनोंका तत्परतासे अनुष्ठान करता है, उसे तो उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें शीघ्र ही मोक्ष (भगवत्प्राप्ति) प्रत्यक्ष ही हो जाता है।

संचित

मनुष्य इस जन्ममें जो कुछ क्रियमाण कर्म करता है, उसमेंसे जिस अंशका प्रारब्ध बनकर मनुष्यको भोग देनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है वह तो फल भुगताकर क्षय हो जाता है और उसके सिवा इस जन्मके बचे हुए क्रियमाण कर्म पूर्वजन्मोंके 'संचित' कर्मोंमें सम्मिलित हो जाते हैं। इन संचित कर्मोंके समूहका भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्म आदि साधनोंसे क्षय होकर विनाश हो सकता है। जबतक इस संचित कर्मसमूहका विनाश नहीं हो जाता, तबतक वे भावी जन्मको देते रहते हैं।

मनुष्य जो भी कुछ पुण्य, पाप और मिश्रित कर्म करता है, उसके दो प्रकारके संस्कार उसके हृदयमें जमते हैं—(१) सुख-

दुःखादि, जो जाति, आयु, भोगको देनेवाले हैं और (२) सात्त्विक, राजस, तामस-वृत्तिरूप संस्कार, जो कि स्वभावको बनानेवाले हैं। इनमें पहले प्रकारके संस्कार तो फल भुगताकर शान्त हो जाते हैं, किंतु सात्त्विक, राजस, तामस-वृत्तिरूप संस्कार स्वभावके रूपमें रहते हैं और वे भविष्यमें नवीन पुण्य-पाप आदि कर्मोंके प्रेरक होते हैं। अतएव मनुष्यको अपने स्वभावके सुधारके लिये विवेक-वैराग्यपूर्वक सत्सङ्ग, भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्मके द्वारा राजसी, तामसी वृत्तियोंका शमन करके केवल सात्त्विकी वृत्तियोंका प्रवाह बहाना चाहिये। इस प्रकार साधन करनेसे संचित कर्म और राजसी-तामसी वृत्तियाँ—दोनोंका क्षय होकर मनुष्य भगवत्प्राप्तिके लिये समर्थ हो जाता है।

क्रियमाण

राग, द्वेष, कामना, ममता और अहंकारपूर्वक मन, वाणी, शरीरसे जो पुण्य, पाप और मिश्रित कर्म किये जाते हैं, वे क्रियमाण कर्म हैं तथा स्वेच्छा-प्रारब्धभोगके निमित्त भी जो कर्म होते हैं, वे भी क्रियमाणके ही अन्तर्गत हैं; क्योंकि उनमें कर्तव्यबुद्धिके सिवा जो शास्त्रके अनुकूल और शास्त्रके प्रतिकूल क्रिया होती है, वह पुण्य और पापरूप होनेके कारण क्रियमाणमें ही शामिल है।

जिनको ईश्वर और प्रारब्धपर विश्वास नहीं है, वे अज्ञानी मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदिके द्वारा अर्थ और कामकी सिद्धि प्रारब्धसे अतिरिक्त पुरुषार्थसे करना चाहते हैं, उनकी वह सिद्धि प्रारब्धसे अतिरिक्त तो हो ही नहीं सकती। जो कुछ प्राप्त

होता है, प्रारब्धके अनुसार ही होता है; परंतु वे मूर्ख शास्त्रविरुद्ध क्रिया करके व्यर्थ ही पापके भागी होते हैं, किंतु जिनको ईश्वर और प्रारब्धपर विश्वास है, वे कोई भी पापक्रिया न करके शास्त्रानुकूल कर्म करते हुए सत्य और न्यायपूर्वक ही अर्थ और कामकी सिद्धि चाहते हैं, वे भारी आपत्ति पड़नेपर भी सत्य, न्याय और धर्मसे विचलित नहीं होते। अतः प्रारब्धके अनुसार उनका कार्य तो सिद्ध होता ही है, वे पुण्यके भागी भी होते हैं और निष्कामभावसे करनेपर तो परम कल्याणको प्राप्त हो सकते हैं।

जो कर्म राग-द्वेष, कामना, ममता और अहंकारसे रहित होकर किये जाते हैं अथवा भगवदर्थ या भगवदर्पण-बुद्धिसे किये जाते हैं, वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं, इसलिये वे भी क्रियमाणमें शामिल नहीं होते तथा स्वप्नमें होनेवाली मानसिक क्रियाएँ भी क्रियमाणमें शामिल नहीं हैं; क्योंकि वे समझ-बूझकर की हुई नहीं हैं, उनमें कर्ता निद्राके वशीभूत होनेके कारण परतन्त्र है, इसलिये वे अनिच्छा और स्वेच्छासंयुक्त प्रारब्धभोगमें ही शामिल हैं।

प्रारब्धकर्म तो मनुष्यको भोगने ही पड़ते हैं, अतः वे भोग भुगताकर क्षय हो जाते हैं तथा जो बच रहते हैं, वे परमात्माकी प्राप्तिमें रुकावट नहीं डालते। भगवत्प्राप्तिके बाद भी वे प्रारब्धसे होनेवाले सुख-दुःखादिके निमित्त शरीरमें होते रहेंगे; अतः उनके रहनेसे हमें कोई हानि नहीं है। विवेक और वैराग्यपूर्वक सत्सङ्ग, भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्म आदि साधनोंद्वारा प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण—तीनोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

परमात्मप्राप्त पुरुषमें संचित कर्मोंका तो अत्यन्त अभाव है ही और क्रियमाण कर्म उनके लागू नहीं पड़ते; क्योंकि उनसे होनेवाली क्रियाओंमें राग, द्वेष, कामना, ममता, अहंकार आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनके कर्म कर्म ही नहीं हैं। इसके सिवा, उनके द्वारा जो प्रारब्धसे होनेवाली घटनाएँ हैं, उनमें राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण कोई भी सुख-दुःखका भोक्ता नहीं रहता; अतः उनके प्रारब्ध कर्म रहते हुए भी न रहनेके ही समान हैं, केवल सुख-दुःखोंकी निमित्तमात्र घटनाएँ उनमें प्रतीत होती हैं; परंतु जो मनुष्य सुख-दुःख और हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा रहित है, उसका प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादिके निमित्त होनेवाली घटनाओंसे वास्तवमें कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। अतः उसके प्रारब्धभोगरूप कर्म भी एक प्रकारसे क्षय ही माने गये हैं।

श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मु० उ० २।२।८)

'उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर इस पुरुषकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशयोंका छेदन हो जाता है और इसके प्रारब्ध, संचित, क्रियमाणरूप समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगसे भगवत्प्राप्ति

साधकके लिये आत्मोद्धारके दो मार्ग हैं—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्गका अभिप्राय यह है कि साधक चेष्टा करता हुआ, कर्म करता हुआ मुक्त हो जाय, जैसे जनकादि। और निवृत्तिमार्गका अभिप्राय यह है कि साधक कर्मोंका त्याग करके मुक्त हो, जैसे श्रीशुक-सनकादि। यह नहीं समझना चाहिये कि केवल संन्यास-आश्रम ही निवृत्तिमार्ग है। संन्यास-आश्रम निवृत्तिमार्ग है, यह तो ठीक है ही; किंतु गृहस्थाश्रममें भी मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों मार्गोंके अनुसार चल सकता है। गृहस्थाश्रममें निवृत्तिमार्गके अनुसार चलनेका अर्थ है—वानप्रस्थकी भाँति जंगलमें

एकान्तमें—गिरि-गुहाओंमें रहना तथा सांसारिक, सामाजिक, व्यावहारि आदि कर्मोंसे उपरत होकर भगवान्‌का भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्य करना और ज्ञान-वैराग्यमें मग्न होकर अपना समय बिताना। भोजन-वस्त्र आदि जीवन-निर्वाहके साधन अपने घरवालोंके लि दूसरोंसे ग्रहण न करना। यह निवृत्तिमार्गके तुल्य है। इस प्रका निवृत्तिमार्गका पालन गृहस्थ भी कर सकता है; यह प्रवृत्तिमें निवृत्ति है।

किंतु यदि कोई संन्यासी होकर प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करत है तो वह निवृत्तिमें प्रवृत्ति है और वह पतन करनेवाली है। साधु संन्यासी होकर कञ्चन-कामिनीके साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ना, सम्पर्क रखना अर्थात् स्त्री और धनको रखना या स्त्रीसे शरीरकी सेवा कराना उसके लिये कलंक है; क्योंकि स्त्री और रुपयोंके संस्पर्शसे या इनमें प्रेम करनेसे संन्यासी नरकमें जाता है। श्रीस्कन्दपुराणमें बतलाया है—

वराटके संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने ॥
गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी ।
हृदि सस्नेहभावेन चेद् द्रक्ष्येत् स्त्रियमेकदा ॥
कोटिद्वयं ब्रह्मकल्पं कुम्भीपाकी न संशयः ।

(काशी० पूर्वार्ध० ४१ । २५—२७)

'संन्यासी प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ी भर भी जहाँ-तहाँसे धन संग्रह करे तो उसे एक सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है—यह सनातन श्रुति है। यदि एक वार भी वह हृदयमें स्नेहभावसे

(आसक्तिपूर्वक) किसी स्त्रीको देख ले तो उसे दो करोड़ ब्रह्मकल्पोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है।'

संन्यासीका धर्म बहुत ही कठिन है और साधु-संन्यासी होकर अपने लिये इमारतें बनवाना, चेलियाँ बनाकर उनके साथ एकान्तवास करना और गृहस्थोंकी भाँति ही व्यापारादि प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करना महान् अनुचित है।

गृहस्थाश्रममें मनुष्यकी अवस्था जब पचास वर्षसे अधिक हो जाय तो शास्त्र कहते हैं कि उसे गृहस्थाश्रमसे पृथक् हो वनमें जाकर वानप्रस्थाश्रमका सेवन करना चाहिये। स्त्रीकी इच्छा हो तो वह उसे भी अपने साथ रख सकता है, किंतु दम्पतिको सदा संयमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतसे रहना चाहिये, वनमें रहकर दोनोंको तपस्या करनी चाहिये एवं अपने कल्याणके लिये शास्त्रानुकूल साधन करना चाहिये। ग्रीष्मकालमें चार महीने पञ्चाग्नि तपना यानी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों ओर अग्नि जलाकर, उसके बीचमें बैठकर सूर्यके तापका सेवन करना, वर्षाकालमें चार महीने आवरणरहित खुली जगहमें बैठकर वर्षाका सेवन करना, शीतकालमें चार महीने जलाशयमें गलेके नीचेतक जलमें रहना या गीले वस्त्र धारण करना और रात्रिके समय स्त्री-पुरुष दोनोंका ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक अपने बीचमें किसी प्रकारका व्यवधान रखकर अलग-अलग भूमिपर सोना—इत्यादि ये वानप्रस्थ-आश्रमके धर्म बतलाये गये हैं। मनुस्मृतिमें लिखा है—

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥
उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत् ।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः ॥

(६ । २३-

'अपने तपको क्रमसे बढ़ाता हुआ वानप्रस्थी ग्रीष्मऋतुमें पञ्च में तप करे, वर्षाऋतुमें आवरणरहित मैदानमें बैठा रहे और हे (जाड़ेकी) ऋतुमें गीले वस्त्र धारण करे । तीनों काल स्नान पितर और देवताओंका तर्पण करे तथा कठोर तपस्या करके शरीरको सुखावे ।'

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥

(मनु० ६ ।

'सुख देनेवाले विषयोंमें लिप्त होनेका प्रयत्न न करे, ब्रह्म रहे, भूमिपर सोये, निवासस्थानसे ममता न करे और वृक्षकी ज निवास करे ।'

उपर्युक्त वानप्रस्थ-आश्रमके धर्मोंका पालन करना भी इस संन्यास-आश्रमकी तरह बहुत ही कठिन है । इसलिये आजकल कलिकालमें वानप्रस्थ-आश्रमको ग्रहण न करके गृहस्थाश्रममें हुए ही जो उपर्युक्त प्रकारसे निवृत्तिकी ज्यों रहता है और भगवा भक्ति करता है तो उसका निश्चय ही कल्याण हो सकता है, क्यों परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है । पुरुष, स्त्री, बा

वृद्ध, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, इसी प्रकार गृहस्थमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल—सभी भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान्‌ने गीताके नवम अध्यायके ३२ वें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि भगवान्‌की भक्ति—शरणागतिमें, भगवान्‌की प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। ब्राह्मण, क्षत्रिय उत्तम वर्णोंके लिये तो संशय ही क्या है! स्वयं भगवान् कहते हैं—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(गीता ९।३३)

'फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरे शरण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

इन शब्दोंसे उनकी विशेषता सिद्ध होती है। इससे यह बात भी सिद्ध हो गयी कि गृहस्थाश्रममें, प्रवृत्तिमार्गमें रहनेपर भी मनुष्यका

भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे कल्याण हो सकता है। इसी प्रवृत्तिमार्गमें रहकर कर्मयोगसे भी कल्याण हो सकता है। भग कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
(गीता ६।

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करने संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला नहीं है।'

यदि कोई पूछे कि 'एक व्यापारी वैश्य अपनी दूकानका करता है तो उस भाईको किस प्रकार काम करना चाहिये?' इसका उत्तर यह है कि वह जिस प्रकारका व्यापार कर रहा है, परिवर्तनकी कोई जरूरत नहीं है। वह गल्ला-किराना, कपड़ा चाँदी-सोना अथवा घी, तेल, चीनी आदि किसी भी शास्त्रवि वस्तुका व्यापार करता है, उसे ज्यों-का-त्यों करता रहे, उसमें दोष नहीं है; क्योंकि वैश्यके लिये क्रय-विक्रय करना शास्त्र विधान है, किंतु उसे वह व्यापार करना चाहिये—कर्तव्य सम सबके साथ समान व्यवहार करते हुए सत्यतापूर्वक निष्कामभाव

महाभारतके शान्तिपर्वमें तथा पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें बत गया है कि तुलाधार वैश्य मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओंको छोड़ सब प्रकारके रस बेचा करता था, किंतु वह झूठ, कपट,

और लोभको त्यागकर व्यापार करता था । उसके सत्य व्यापारके प्रभावसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी ।

हमलोगोंके व्यवहारमें जो विषमता है, एकके साथ अच्छा और दूसरेके साथ बुरा व्यवहार है, वह न होकर सबके साथ समताका व्यवहार होना चाहिये और व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी इत्यादिका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये । झूठ, कपट, बेईमानी तथा दगाबाजीके व्यापारसे मुक्ति तो दूर रही, उलटे नरकोंकी प्राप्ति होती है । व्यापारमें जो स्वार्थत्यागरूप निष्कामभाव है, वही आत्माका कल्याण करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण साधन है । निष्कामभावमें इतनी शक्ति है कि उसके प्रभावसे झूठ, कपट, बेईमानी आदि समस्त बुरे आचरण नष्ट हो जाते हैं । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको निष्कामभावसे ही कर्म करना चाहिये । कर्मोंमें अभिमान, ममता, आसक्ति और फलकामना आदिका त्याग कर देना ही स्वार्थका त्याग कर देना है; यही निष्कामभाव (कर्मयोग) है और यह निष्कामभाव ही मुक्ति देनेवाला है । भगवान्‌ने कहा है—

> **विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।**
> **निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥**
> (२ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है ।'

निष्कामभावके कई भेद हैं, उनमें 'भगवदर्थ कर्म करना'

उच्चकोटिका निष्कामभाव है । जैसे कोई व्यापारी—वैश्य है तो
यह निश्चय करना चाहिये कि 'मेरी दूकान भगवान्की है औ
भी भगवान्का हूँ तथा ये सब वस्तुएँ भी भगवान्की हैं ।'
प्रकार सब वस्तुओंको भगवान्की समझकर और स्वयं भगवा
सेवक बनकर काम करे तथा सदा निश्चितरूपसे यही समझे कि
भगवान्का सेवक हूँ, सेवा करनेके लिये मेरी यहाँ नियुक्ति हुई
मुझे जो भोजन-वस्त्र मिलते हैं, बस, वही मेरा वेतन है ।
जितने व्यक्ति हैं, वे सब भगवान्के हैं, उनकी सेवा करना
भगवान्की ही सेवा करना है ।' दूकानके कामके रूपमें सेवा क
समय यह समझे कि 'भगवान्की दूकान प्राणिमात्रकी सेवाके
है, क्योंकि विश्वके सभी प्राणी भगवान्की प्रजा हैं या सभी उ
संतान हैं ।' इस प्रकार सबको भगवान्की प्रजा या संतान सम
अपने व्यापारके द्वारा निःस्वार्थभावसे सबका हित और सबकी
करनेसे भगवान् बड़े ही प्रसन्न होते हैं और भगवान्की
हो जाती है ।

इससे भी उच्चकोटिका एक साधन है और उसको निष्काम
करनेपर और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है । वह उच्चको
साधन है—सबमें परमात्माको व्यापक समझकर उन सबकी
करना । जैसे बादलोंमें आकाश व्यापक है, इसी प्रकार पर
समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं । यों समझकर सबकी से
रूपमें परमात्माकी सेवा करनी चाहिये । इस प्रकार सेवा करनेसे
सिद्धिरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है । गीतामें भगवान्ने बतलाया है

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

'सबमें भगवान् व्यापक हैं'—इससे भी ऊँचा भाव यह है कि 'सभी नारायणके स्वरूप हैं।' इस प्रकार सबको नारायण समझकर व्यापारके द्वारा सबकी सेवा करनेसे तो अत्यन्त शीघ्र आत्माकी शुद्धि होकर परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है।

कोई भी व्यापारी हमारी दूकानपर आये तो 'स्वयं भगवान् ही आये हैं'— यों समझकर अपने व्यापारके द्वारा उनकी आदर-सत्कार-पूर्वक सेवा करनी चाहिये। हम किसीसे कोई वस्तु खरीदें तो यह ध्यान रहना चाहिये कि हमारे द्वारा उसकी अवश्य ही कुछ सेवा हो और हम किसीको कोई वस्तु बेचें तो उस खरीददारके प्रति हमारा यह भाव रहना चाहिये कि भगवान् हमारे घरपर पधारे हैं, अतः उनकी सेवा करना हमारा परम धर्म है और उसे छल-कपटरहित होकर वस्तुकी असली स्वरूप-स्थिति बतानी चाहिये, जिससे वह ठगा न जाय और उचित मूल्यपर उसे वह वस्तु देनी चाहिये।

इसी प्रकार कोई भाई किसी ऐसी सार्वजनिक संस्थाका काम करते हों, जहाँ वास्तवमें व्यक्तिगत स्वार्थ न होनेके कारण झूठ-कपट

प्रायः नहीं है तो वहाँ उन कार्यकर्ता भाईको कार्यमें
परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह कार्य
ही जनताकी सेवाके लिये है और वहाँ स्वार्थ, झूठ-कपट
विषमताका भी कोई कारण नहीं है, किंतु व्यक्तिगत राग-द्वेष
स्वभावदोषके कारण यदि कहीं स्वार्थ, झूठ-कपट और विषमता
दोष आता हो तो उसका सुधार होना कठिन बात नहीं है,
चेष्टा करनेपर ही सुधार हो सकता है। केवल बार-बार यह
करना चाहिये कि यह भगवान्का ही काम है। फिर अपने-आप
दोषोंका अभाव हो सकता है। पर बात तो दूसरी है। हम
वाणीसे तो कहते हैं कि 'यह भगवान्का काम है,' किंतु वास्तवमें
यह बात अभी अच्छी तरहसे हमलोगोंकी समझमें आयी
है। निश्चितरूपसे समझमें आयी होती तो हम चेष्टामात्रको भगवान्की
लीला और प्राणिमात्रको भगवान्का स्वरूप समझते और प्रत्येक कार्यमें
भगवान्की सेवाका अनुभव होते रहनेसे कार्य करते समय क्षण-क्षण
हमारे चित्तमें अतिशय प्रसन्नता और शान्तिका सागर लहराता
रहता। सेवा करते समय यह भाव रहना चाहिये कि हम भगवान्की
आज्ञाके अनुसार भगवान्की ही सामग्रियोंके द्वारा भगवान्की ही
कर रहे हैं। सारे कार्य यदि ठीक-ठीक हो रहे हों तो उनमें
सुधारकी बहुत ही कम आवश्यकता रहती है। अधिक बिगड़ा हुआ
कार्य हो तो उसमें अधिक सुधार करना पड़ता है और कम बिगड़ा
हुआ हो तो थोड़े प्रयत्नसे ही उसका सुधार सम्भव है। जिस सार्वजनिक
संस्थामें किसी प्रकारकी चोरी, बेईमानी नहीं की जाती, उस

कार्यके सुधारमें कोई कठिनाई नहीं है। फिर भी यत्किञ्चित् कहीं शास्त्रके विरुद्ध क्रिया होती हो तो उसका शीघ्र सुधार कर लेना उचित है। असल बात तो यह है कि हम सबमें भगवद्बुद्धि करें, क्योंकि उच्चकोटिके महापुरुषोंकी स्थिति बतलाते हुए स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

अतएव सबको परमात्माका स्वरूप समझकर निःस्वार्थ प्रेम-भावसे उनकी सेवा करनी चाहिये। एवं हर समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही सब कार्य करने चाहिये, क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाला ही उनका सच्चा प्रेमी भक्त है। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें अपनी प्रजाके प्रति उपदेश देते समय स्वयं भगवान् रामने यह बात कही है—

सो सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

'वही तो मेरा सेवक है, वही मेरा प्रियतम है जो मेरी आज्ञाका पालन करता है।'

गीतामें भी अर्जुनके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

(४ । ३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन ! तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है तथा तुझको मैंने जो उपदेश दिया है, यह उत्तम रहस्यकी बात है ।'

भगवान्‌ने अर्जुनको अपना भक्त और सखा बतलाया; क्योंकि अर्जुनका दास्यभाव भी था और सख्यभाव भी । भगवान्‌के कथनका तात्पर्य यह है कि वही मेरा सच्चा भक्त, वही मेरा सखा और वही मेरा प्रेमी है, जो मेरी आज्ञाका पालन करता है । अर्जुन भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाला परम भक्त था, इसलिये गीताका उपदेश देकर भगवान्‌ने स्वयं १८ वें अध्यायमें अर्जुनसे पूछा कि 'अर्जुन ! तेरे मोहका नाश हुआ या नहीं, मैंने तुझसे जो कुछ कहा, उसको तूने ध्यान देकर सुना या नहीं ?' अर्जुनने उत्तरमें कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(१८ । ७३)

'हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।'

अर्जुन भगवान्‌के उच्चकोटिके भक्त थे, अतएव भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर ही संसारके कल्याणके लिये गीताका उपदेश किया और अर्जुनने भी भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही अपना जीवन बिताया । अतः अर्जुनको आदर्श मानकर हमलोगोंको भी भगवान्‌की

आज्ञाका पालन करना चाहिये। यदि कहें कि 'उस समय तो भगवान् साक्षात् प्रकट थे, इसलिये उनकी आज्ञाका पालन सुगम था, इस समय तो वे प्रकट नहीं हैं, इसलिये हम भगवान्की आज्ञाका पालन कैसे करें?' तो यह बात अपने भावके ऊपर निर्भर करती है। जो मनुष्य गीताको ही भगवान्का स्वरूप मानकर उनकी आज्ञाका पालन करता है, भगवान् उसके हृदयमें प्रेरणा करते रहते हैं। हमको प्रत्येक काममें भगवान्से पूछना चाहिये कि 'प्रभो! इसमें आपकी क्या सम्मति है?' तो सबके हृदयमें स्थित हुए भगवान् हमारे हृदयमें स्वयं न्याययुक्त प्रेरणा कर सकते हैं कि हमारी यह सम्मति है।

भगवान् तीन प्रकारसे अपनी आज्ञाका प्रयोग करते हैं—(१) महात्मा पुरुषोंके द्वारा, (२) सत्-शास्त्रोंके द्वारा और (३) साधकके शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा। इसलिये महात्मा पुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार चलना भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलना है, क्योंकि स्वयं भगवान्ने गीताके ७ वें अध्यायके १८ वें श्लोकमें कहा है कि ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। अतः हमलोगोंके लिये कोई कठिनाई नहीं है। यद्यपि संसारमें ऐसे महापुरुषोंका मिलना कठिन है; क्योंकि लाखों-करोड़ोंमेंसे कोई एक ही ऐसा महापुरुष होता है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है

और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

इसलिये हमलोगोंको यह समझना चाहिये कि जिस पुरुषके द्वारा हमको सत्-शिक्षा मिले, जिस पुरुषकी बात सुनकर हममें दैवी सम्पदाके लक्षण आयें तथा भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये वही महात्मा है। यदि एक मनुष्य साधक है, पर उसमें उत्तम-उत्तम गुण-आचरण विद्यमान हैं, वह दैवी सम्पदासम्पन्न है और परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें संलग्न है तथा साधकोंमें श्रेष्ठ है, तो हम उसको भी महात्मा समझकर उसकी आज्ञाका पालन करें तो उसमें हमारा लाभ ही है। ऐसा साधक महात्माके तुल्य ही है; क्योंकि गीतामें नवम अध्यायके १३ वें श्लोकमें साधकको भी गौणीवृत्तिसे महात्मा ही बतलाया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

'परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

अतः हमारे लिये कोई कठिनता नहीं है। संसारमें वास्तविक महात्माओंका अभाव नहीं है। जो सच्चे हृदयसे महात्माको चाहता है, उसे भगवत्कृपासे महात्मा मिल जाते हैं। हमारे हृदयमें श्रद्धा होनी चाहिये।

दूसरी बात यह है कि शास्त्रोंके वचन भगवान्‌के ही वचन

हैं। इसलिये शास्त्रकी आज्ञा भगवान्‌की ही आज्ञा माननी चाहिये। गीता, रामायण, महाभारत, भागवत, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि जितने भी शास्त्रग्रन्थ हैं, वे वास्तवमें भगवान्‌की आज्ञा हैं और गीता तो साक्षात् भगवान्‌के श्रीमुखका वचन है ही। वेद ब्रह्माजीके द्वारा प्रकट हुए हैं, पर वास्तवमें वह भगवान्‌की ही आज्ञा हैं और ऋषि-मुनियोंने जो कुछ कहा है, सब वेदोंके आधारपर ही कहा है; इसलिये उनके वचन भी भगवान्‌के ही वचन हैं।

तीसरी बात यह है कि हमें यदि यह विश्वास हो कि भगवान् सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें विराजमान हो रहे हैं, तो प्रत्येक बातके लिये हम उनसे पूछ सकते हैं और वे हमको अन्तःप्रेरणाके द्वारा समुचित सम्मति या आदेश दे सकते हैं। अच्छी नीयतसे पूछे जानेपर हमारे शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा भगवान्‌की आज्ञा सुगमतासे मिल सकती है।

वस्तुतः हमलोगोंको भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये। अर्जुनको उपदेश दिया, उस समय भगवान् थे और अब नहीं हैं, ऐसी कोई बात नहीं है। भगवान् तो सदा-सर्वदा ही सर्वत्र विद्यमान हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ भगवान् न हों और ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें भगवान् न हों, भगवान् सब देशमें, सब कालमें और सब पदार्थोंमें सदा ही विराजमान होकर रहते हैं। अतः जिसके विश्वास और श्रद्धा है, उसके लिये भगवान् सदा-सर्वदा सब जगह वर्तमान हैं। इस बातको ध्यानमें रखकर हमको भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना चाहिये। निःस्वार्थ भावसे संसारभरकी सेवा

करना ही भगवान्‌की मुख्य आज्ञा है, क्योंकि चर और अचररूप सारा संसार भगवान्‌का ही स्वरूप है, भगवान्‌के सिवा और कोई वस्तु नहीं है तथा भगवान् ही इस संसारके रचनेवाले हैं; इसलिये भगवान् ही इसके अभिन्न उपादान और निमित्त कारण हैं; अतएव यह संसार भगवान्‌का ही रूप है—इस प्रकार समझकर जो संसारकी सेवा करता है, वह भगवान्‌की ही सेवा करता है। जिसका उपर्युक्त प्रकारसे सबमें भगवद्भाव हो जाता है, उसके लिये सबकी सेवारूप साधन बहुत ही सुगम है। अतः निष्कामभावसे सबकी सेवा करके मनुष्य जन्मको सफल बनाना चाहिये।

हमलोगोंपर ईश्वरकी बड़ी ही दया है, जो हमें इस समय सब प्रकारकी सुविधा प्राप्त है। प्रथम तो मनुष्यका शरीर मिलना दुर्लभ है, मनुष्यका शरीर मिल जाय तो मुक्तिके केन्द्र भारतवर्षमें जन्म होना कठिन है, भारतवर्षमें जन्म होनेपर भी वैदिक सनातन-धर्ममें निष्ठा होनी बहुत ही दुर्लभ है और यदि सनातनधर्ममें निष्ठा हो गयी तो शास्त्रोंका ज्ञान होना कठिन है एवं शास्त्रोंका कुछ ज्ञान हो जानेपर भी महात्मा पुरुषोंका सङ्ग मिलना बहुत ही दुर्लभ है। ये सारी बातें मिलकर भी यदि हम साधन न करनेके कारण परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जायँ तो हमारे समान संसारमें और कौन मूर्ख होगा। ये सब बातें ध्यानमें रखकर जल्दी-से-जल्दी मनुष्यजीवनको सफल बनाना चाहिये, क्योंकि शरीरका क्षणभरका भी भरोसा नहीं है। आज यदि मृत्यु आकर प्राप्त हो जाय तो हमें आज ही मरना पड़ेगा। एक क्षणका भी समय किसी हालतमें भी नहीं बढ़ सकता। ऐसी परिस्थितिमें हमको धोखेमें नहीं रहना चाहिये। समयको

अमूल्य समझकर हर समय भगवान्‌को स्मरण रखते हुए भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कर्मोंका आचरण करना चाहिये। यही गीताका सिद्धान्त है। गीताके आठवें अध्यायके ७ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

अर्जुन क्षत्रिय थे, इसलिये भगवान्‌ने कहा कि 'तू सब समयमें मुझे स्मरण रखता हुआ युद्ध कर।' इसी प्रकार वैश्यके लिये कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्य और शूद्रके लिये सेवा करना बताया है और कहा है कि अपने-अपने कर्मोंके द्वारा जो मेरी सेवा-पूजा करता है, वह परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। इस भावको ध्यानमें रखकर हम लोगोंको अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार निष्कामभावसे भगवान्‌की सेवा-पूजा करनी चाहिये।

उपर्युक्त श्लोकमें जो भगवान्‌ने यह कहा है कि 'मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा,'—इसका यह अभिप्राय है कि 'परमात्मा है'—इस भावका बुद्धिमें हर समय निश्चय रखना—यह बुद्धिका परमात्मामें समर्पण है और बुद्धिके निश्चयके अनुसार ही परमात्माका हर समय मनसे चिन्तन करना—यह मनको परमात्माके अर्पण करना है। ऐसा करनेसे निःसंदेह परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

'निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा'—इस कथनका यह अभिप्राय

है कि यहाँ इस शङ्काकी गुंजाइश थी कि 'सब काम-धंधोंको छोड़कर और एकान्तमें बैठकर भगवान्‌का भजन-ध्यान करनेसे मुक्ति हो जाती है, इसमें तो कोई संशय नहीं है; किंतु सदा काम करते हुए मुक्ति कैसे हो सकती है ?' इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌ने यह कहा कि युद्धादि कर्म करते हुए भी मन-बुद्धि मुझमें समर्पित रहनेसे निःसंदेह मेरी प्राप्ति हो जाती है । इसके लिये १८ वें अध्यायके ५६ वें श्लोकमें भी भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होकर सदा-सर्वदा कर्म करनेका अभिप्राय यह है कि कार्य करते हुए मनमें सदा यह भाव रहे—'मैं जो काम करता हूँ, वह भगवान्‌का काम है । मैं जो सेवा करता हूँ, भगवान्‌की सेवा करता हूँ । पदार्थमात्र सब भगवान्‌के स्वरूप हैं और उन सबकी जो चेष्टा हो रही है, वह सब भगवान्‌की लीला है । मैं भगवान्‌का सेवक हूँ, भगवान् मेरे स्वामी हैं । उन स्वामीकी मैं इस रूपमें सेवा कर रहा हूँ । भगवान्‌की मुझपर बड़ी दया है, जो मुझे इस कामके लिये निमित्त बनाकर मुझसे सेवा ले रहे हैं ।' इस प्रकार सबको परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी सेवा करनी चाहिये । ऐसी सेवा हमारे द्वारा हो रही है या नहीं, इसके जाँचनेकी कसौटी यह है कि जब इस प्रकार निष्कामभावसे सबकी सेवा होने

लगेगी, तब हमारे चित्तमें राग, द्वेष, हर्ष, शोक, स्वार्थ और अभिमान आदि विकार नहीं होंगे।

जैसे कोई मुनीम किसी मालिकके यहाँ काम करता है और उस मालिकके मुनाफा या नुकसान होता है तो वह उस मालिकका ही है, मुनीमका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह तो एक निमित्तमात्र है; इसी प्रकार हम अपनेको निमित्तमात्र समझें और मुनाफा या नुकसान भगवान्‌का समझें तो फिर न तो किसीमें आसक्ति होगी और न किसीमें द्वेष होगा। भगवान्‌का सेवक बनकर जो काम किया जाता है, वह बहुत उच्च कोटिका काम होता है। जबतक मनुष्य किसी कामको व्यक्तिगत निजी काम समझकर करता है, तभीतक उसमें राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार होते हैं। भगवान्‌का काम समझकर करनेपर ये विकार नहीं होते और इस प्रकार करनेवाला पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

अतः काम चाहे अपना व्यक्तिगत हो या किसी संस्थाका, उसे भगवान्‌का समझकर करना चाहिये। किसी संस्थामें चाहे वेतन लेकर काम करते हों या बिना वेतन लिये, नीयत शुद्ध होनी चाहिये, फिर दोनोंके लिये सिद्धान्तसे कोई भेद नहीं है। वास्तवमें यदि किसीके पास धन-सम्पत्ति न हो तो उस स्थितिमें वह संस्थामें काम करके प्रसादके रूपमें शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कुछ लेता है तो उसमें कोई दोष नहीं है; बल्कि वह उसके लिये गौरवकी बात है। क्योंकि वास्तवमें जगत्‌में जो कुछ है, वह सब भगवान्‌का ही है। हम कहीं रोटी खाते हैं, उसे भगवान्‌का प्रसाद मान लें तो वह भी भगवान्‌का ही प्रसाद है। हम उसे प्रसाद न मानें तो नहीं है।

इसलिये हमको यह निश्चय रखना चाहिये कि जो कुछ है सब परमात्माका ही है तथा मैं भी परमात्माका हूँ एवं सम्पूर्ण चराचर परमात्माका स्वरूप है। इस प्रकार समझकर हँसते-हँसते सबकी निःस्वार्थ भावसे सेवा करनी चाहिये। सेवा करनेके कालमें समय-समयपर हमारे हृदयमें हर्षातिरेकसे रोमाञ्च होना चाहिये, प्रफुल्लता होनी चाहिये, अश्रुपात होना चाहिये।

थोड़ी देरके लिये मान लें कि वास्तवमें साक्षात् ही भगवान् यहाँ आ जायँ और उनकी सेवाका कार्य हमें प्राप्त हो जाय तो उस सेवा करनेके समय हमारे चित्तमें कितनी प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द होता है। इसी प्रकारकी प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द हमको उस समय मिल सकता है, जब हमारी वास्तवमें यह श्रद्धा हो जाय कि सब परमात्माका स्वरूप है और हम परमात्माकी ही सेवा कर रहे हैं।

जब हमारा यह विश्वास दृढ़ हो जायगा कि जो कुछ है, सब परमात्माका ही स्वरूप है, तब उस परमात्माकी निष्काम सेवा करनेसे परमात्माकी दयासे हमें परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। यह बड़ा ही उच्चकोटिका साधन है। हमें इस साधनको करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होनी चाहिये, मुग्ध हो जाना चाहिये, चित्तमें अतिशय उल्लास और आमोद-प्रमोद होना चाहिये।

इस प्रकार मनुष्य प्रवृत्तिमार्गमें रहते हुए भी उपर्युक्त भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगके साधनके द्वारा सुगमतापूर्वक ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है।

श्रद्धा और अच्छी नीयत

शास्त्रोंमें और श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रद्धाकी बड़ी महिमा है। वस्तुतः श्रद्धा महिमाके योग्य ही है। श्रद्धासे जो कार्य सहज ही सम्पन्न होता है, वैसा और किसी भी साधनसे नहीं हो सकता। परमात्माकी प्राप्तिमें तो श्रद्धा ही प्रधान सहायक है। अतएव परमात्माकी प्राप्तिके विषयमें तो श्रद्धाके बिना काम नहीं चल सकता।

मान लीजिये कि कुछ सज्जन मुझपर श्रद्धा करते हैं और उससे उनमेंसे किसीको लाभ होता है, तो वह उनकी श्रद्धासे होता है। जिसको हम श्रद्धेय पुरुष कहें, या श्रद्धाके योग्य कहें, वैसा श्रद्धाका पात्र मैं अपनेको नहीं मानता। न मुझमें कोई ऐसी योग्यता है, न प्रभाव है, न कोई करामात ही है; परंतु यदि कोई अपनी श्रद्धासे, उस श्रद्धाके बलपर लाभ उठा ले तो उसमें मेरा प्रभाव हेतु नहीं है। अपनी श्रद्धाके द्वारा मनुष्य हर जगह लाभ उठा लेता है। एक पाषाणकी या धातुकी मूर्तिमें भगवान्‌की भावना करके उसे प्रत्यक्ष भगवान् समझकर हम लाभ उठाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य किसी भी पदार्थसे अपनी श्रद्धाके बलपर लाभ उठा सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि किसीपर किन्हींकी श्रद्धा है और यदि वे उसे श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं तो उसकी बातका उनपर तुरंत असर होता है। मान लीजिये; दो व्यक्ति हैं और दोनों ही मुझपर श्रद्धा रखते हैं। किसी बातको लेकर उनके आपसमें मनमुटाव या वैमनस्य हो गया। झगड़ा यहाँतक बढ़ा कि कोर्टमें जानेकी तैयारी

हो गयी । ऐसी अवस्थामें यदि उन दोनोंके मेरे पास आनेपर या स्वयं ही बुलाकर उनको समझा दूँ और श्रद्धाके कारण मुझे पक्ष- रहित मानकर वे तुरंत मेरी बात मान लें तो बहुत दिनोंका झ मिनटोंमें ही मिट जाता है । श्रद्धा न होनेपर ऐसा नहीं हो सकत इस दृष्टिसे श्रद्धा करनेवालोंका विरोध नहीं किया जाय तो कोई नहीं । कोई हमारी बात मानकर अपना सुधार करें, अपनी भूलें समझकर उन्हें छोड़ दें, तो ऐसी परिस्थितिमें हमको विरोध क करना चाहिये ? हाँ, यदि कोई श्रद्धासे शरीरकी सेवा-पूजा करे उसका विरोध अवश्य करना चाहिये । हम तो जो कुछ कहते अधिकांशमें गीता, भागवत, रामायण, मनुस्मृति आदि शा आधारपर कहते हैं । शास्त्र त्रिकालज्ञ, भगवद्भक्त, ज्ञानी ऋषि वाणी है और श्रीमद्भगवद्गीता तो साक्षात् भगवान्के दिव्य वचन हैं । इस प्रकार ऋषि-मुनि-महात्मा और भगवान्के वचनोंपर नि करके उन्हींके आधारपर जो बात कही जाती है, वह तो वस्तु उन्हींकी बात है । कहनेवाला तो केवल अनुवादमात्र करता है यदि लोग श्रीभगवान्के और ऋषि-मुनियोंके वचनोंको मानकर अ कल्याण-साधन करें तो बहुत उत्तम बात है । वे वचन कल्याण और उच्चकोटिके हैं ही, कोई भी उनके अनुसार अपना जी बनाये तो उसका कल्याण हो सकता है—मैं बनाऊँगा तो मे दूसरे कोई बनायेंगे तो उनका । ऋषि-महात्मा और भगवान्के वचनोंका सभीको आदर करना चाहिये और उन्हें काममें लाने श्रद्धापूर्वक विशेष चेष्टा करनी चाहिये ।

अबतक इन वचनोंके सुननेपर भी यदि लाभ नहीं देखा जाता या बहुत कम देखा जाता है, तो इसमें कारण यही है कि उन वचनोंके अनुसार क्रिया नहीं की गयी। ऋषि-मुनियोंके और भगवान्के वचनोंके सुनने-सुनानेमें जो समय लगा, वह समय तो अवश्य ही सार्थक हुआ, परंतु उन वचनोंका सदुपयोग तभी होता जब हमलोग उन वचनोंके अनुसार अपना जीवन बना लेते। एक दिनके भी सुने-सुनाये हुए महात्माओंके और भगवान्के वचन काममें लाये जायँ तो कार्य सफल हो सकता है। फिर श्रद्धा होनेपर कल्याण हो, इसमें तो कहना ही क्या है ? महात्मा पुरुषोंके वचनों-पर श्रद्धा करनेसे बहुत शीघ्र कल्याण हो सकता है।

तीसरी बात यह है कि यदि किसीको प्रत्यक्षमें महात्मा नहीं मिले तो शास्त्रोंके वचनोंपर विश्वास करके उनके अनुसार चलनेसे भी कल्याण हो सकता है।

चौथी बात यह है कि भगवान्के भक्तों या महात्मा पुरुषोंमें अथवा उनमें जिनकी श्रद्धा है, ऐसे साधकोंमें श्रद्धा करने और उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत अधिक लाभ हो सकता है।

पाँचवीं बात यह है कि अपने शुद्ध अन्तःकरणमें—जिसमें स्वार्थका त्याग और पक्षपातका अभाव है—जिसमें समभाव है ऐसे पवित्र अन्तःकरणवाले साधकके हृदयमें जो भगवत्कृपासे स्फुरणा होती है, उसको आदर्श मानकर यदि मनुष्य दृढ़ निश्चयपूर्वक उसके अनुसार भी साधन करता है अथवा अपने मन-बुद्धिके निर्णयके अनुसार जिसको शुद्ध नीयतसे उत्तम समझता है, उसीके अनुसार अपना जीवन बनाता है, तो उसका भी कार्य चल सकता है। शास्त्रों-

पर महात्मापर और ईश्वरपर भी विश्वास न हो तो उस परिस्थि मनुष्यको अपनी बुद्धिपर तो विश्वास अवश्य करना ही चाहिये।

संसारमें परस्परविरोधी जो दो-दो पदार्थ हैं, उनको सा रखकर निर्णय करना चाहिये और उनमें जिसको कल्याणकारक-शुभ समझे उसका आचरण करना चाहिये और जिसको अ कारक—अशुभ समझे, उसका त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार करनेपर भी कल्याण हो सकता है। जैसे, स भाषण और मिथ्या-भाषण—इन दोनोंको अपने सामने रखकर बुद्धि विचार करे कि इन दोनोंमें सत्य श्रेष्ठ है या मिथ्या। ठीक विचार करनेपर मनुष्य यही कहेगा कि 'श्रेष्ठ तो सत्य ही है लोभके वशमें होकर या अन्य किसी कारणसे मनुष्य असत्य बोल है, परंतु वास्तवमें तो सत्य ही कल्याणकारक है।' इस निर्णय अनुसार सत्यको शुभकी श्रेणीमें रख ले और मिथ्याको अशुभकी इस प्रकार एक ओर किसीको दुःख पहुँचाना और मारना-का हो और दूसरी ओर सबको आराम पहुँचाना, सेवा करना उपकार करना हो। इन दोनोंमें अच्छे-बुरेका बुद्धिके अनुसार नि करे, तो संसारमें कोई किसी भी सिद्धान्तका माननेवाला क्यों न हो चाहे वह स्वयं पालन न कर सकता हो, पर वह निर्णय तो य देगा कि 'किसीको आराम पहुँचाना, सेवा-उपकार और हित करना श्रेष्ठ है। चोट पहुँचाना, मारना, काटना और अहित करना सर्व अन्याय है।' जब यह निर्णय हो गया, तब सेवा, उपकार आदि शुभकी श्रेणीमें रख ले और हिंसा आदिको अशुभकी श्रेणीमें। इ प्रकार ब्रह्मचर्यका पालन और व्यभिचार, विषय-भोगोंमें आस

और विषय-वैराग्य तथा विषय-भोग और विषयोंका त्याग—इनपर विचार करे। विचार करनेपर यही सिद्ध होगा कि ब्रह्मचर्यका पालन, विषय-वैराग्य और विषयत्याग ही उत्तम है; अतः ब्रह्मचर्य और वैराग्य-त्यागको शुभकी श्रेणीमें एवं व्यभिचार तथा विषयासक्ति और विषयभोगको अशुभकी श्रेणीमें रक्खे। कोई भी आदमी ब्रह्मचर्य और त्यागके श्रेष्ठत्व और महत्त्वको अस्वीकार नहीं कर सकता। भोगी आदमी भी यही कहेगा कि भाई! मैं तो भोगासक्त हूँ, परंतु भोग और त्यागका मुकाबला करनेपर तो त्याग ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। त्यागसे शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२ । १२)। विरक्त त्यागी पुरुषोंकी लोक-परलोकमें सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है, पर भोगासक्त और विषयभोगीकी प्रतिष्ठा कहीं भी नहीं होती।

एक ऐसा आदमी है, जो दूसरेके धनपर उसे अन्यायपूर्वक प्राप्त करनेके लिये निरन्तर दृष्टि गड़ाये रहता है और परापवाद करने तथा पर-धनको हड़पनेमें ही अपना गौरव मानता है; किंतु दूसरा एक ऐसा पुरुष है, जो दूसरेके धनको धूल या विषके समान समझता है, जिसकी दूसरेके पद, धन या किसी प्रकारके पदार्थपर तो ग्लानि है ही; परंतु अपने निजी स्वत्वपर भी वह मोह-ममता न करके उसपर अनासक्त ही रहता है। भाव यह कि एक ऐसा मनुष्य है जो अपनी चीजको तो अपनी मानता है और कहीं दूसरेकी चीज हाथ लग जाय तो उसे अपनी बनानेमें तनिक भी हिचकता नहीं। चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे—कैसे भी मिले; किंतु दूसरा एक ऐसा पुरुष है, जो दूसरेकी चीजके चुरानेकी कल्पना ही नहीं करता, पर यदि दूसरा कोई उसकी चीज चुराकर ले जाता है तो समझता

है कि 'यह चीज इसके काम आ जाय तो ठीक है।'

उपर्युक्त दोनों प्रकारके लोगोंके कार्योंपर तथा नीयतपर विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि एक ओर विषय-विरक्ति है, त्याग है, उदारता है। दूसरी ओर विषयानुराग है, चोरी है, डकैती है और परस्वापहरण है—यों विचार करके उदारता आदिको शुभमें रखें और परस्वापहरण आदिको अशुभमें। इसी प्रकार संसारके सब पदार्थोंके दो-दो विभाग करनेसे शुभ और अशुभकी एक सुन्दर सूची बन जायगी। उसमें शुभको दैवी सम्पदा कह सकते हैं और अशुभको आसुरी। इसी प्रकार एक ओर त्याग, क्षमा, दया आदि सद्गुण हैं और दूसरी ओर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अवगुण हैं। जिस ओर सद्‌गुण हैं, वहाँ दैवी-सम्पत्ति है और जिस ओर अवगुण हैं, उस ओर आसुरी सम्पत्ति। दैवी-सम्पत्ति मुक्तिके लिये है और आसुरी बन्धनके लिये—

'दैवीसम्पद्‌ विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।'

(गीता १६।५)

दैवी-सम्पत्तिवाला जन्म-मरणके चक्रसे छूटकर सदाके लिये मुक्त हो जाता है और आसुरी सम्पत्तिवाला बन्धनमें जकड़ा हुआ बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकता रहता है। इस प्रकार अच्छी नीयतसे मनुष्य अपनी बुद्धिपर निर्भर करके आत्माके कल्याणकी इच्छासे विवेचन करके शुभका ग्रहण कर लेता है तो उसका उद्धार हो जाता है, चाहे वह नास्तिक ही क्यों न हो।

अच्छी नीयतका अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकमें मेरा और सभी भाइयोंका कल्याण हो। इस नीयतसे जो आचरण

किया जाता है, उसका नाम 'अच्छी नीयत' है। इससे भी श्रेष्ठ वह नीयत मानी जाती है कि जिसमें अपनेको बाद देकर यह चाहा जाय कि 'इस लोक और परलोकमें सबका कल्याण हो जाय।' इससे भी श्रेष्ठ एक नीयत और होती है। उदाहरणके लिये मान लीजिये, एक जगह बहुत-से सज्जन बैठे हैं। वहाँ आकाशवाणी होती है कि 'आपलोगोंमेंसे किसी एक आदमीको चुनकर बता दें तो उसका उद्धार किया जा सकता है अर्थात् आपलोगोंकी सबकी तपस्या, भक्ति, साधनाको शामिल करके उसके फलस्वरूप आपमेंसे केवल एक व्यक्तिका कल्याण हो सकता है।' इसके उत्तरमें जो यह कहता है कि 'प्रभो! एक मुझको छोड़कर आपकी इच्छा हो, उसीका कल्याण कर दें' तो वह कल्याणका अधिकारी हो गया और जो ऐसा कहता है कि 'प्रभो! मेरा कल्याण कर दो।' तो वह स्वार्थी मनुष्य है। सभी लोग यह कहें कि 'मेरा कल्याण कर दो।' 'मेरा कल्याण कर दो'। तो एकका भी कल्याण नहीं हो सकता। और सभी एक स्वरमें यह कहें कि 'मुझे छोड़कर चाहे जिसका कल्याण कर दिया जाय।' तो सभी कल्याणके पात्र हो जाते हैं। ऐसी दशामें भगवान् सबको दर्शन देकर उनका उद्धार कर सकते हैं; क्योंकि स्वार्थ-त्यागका बड़ा माहात्म्य है। इस प्रकार अपने साधन, तप, भक्ति आदिको देकर दूसरेका कल्याण करना बड़ी श्रेष्ठ नीयत है। इससे भी श्रेष्ठ नीयत एक और है – वहाँ मनुष्य यह सोचता है कि 'लोगोंका कल्याण न होनेमें कारण उनके पाप हैं। इसलिये उन सबके पाप मुझको भुगता दिये जायँ और उन सबका कल्याण कर दिया जाय।' ऐसी श्रेष्ठ नीयतवाले पुरुषका कल्याण

भगवान्‌के यहाँ सबसे पहले होता है, परंतु 'इस प्रकारकी … रखनेसे सबसे पहले मेरा उद्धार हो जायगा' इस दृष्टिसे ऐसा … करना चाहिये; क्योंकि इसके भीतर भी आत्मोद्धारका स्वार्थ ही … अतः अपने तो हृदयमें यही बात विशुद्ध भावसे होनी चाहिये 'सबका कल्याण हो, सबका हित हो और यदि पापके कारण कि… हित न होता हो और उसके पाप हमारे भोगनेसे उसका क… हो जाता हो तो उसके पाप हम भोग लें।' यह सर्वोत्तम भाव है।

यद्यपि मुझमें यह भाव नहीं है कि मैं सबका पाप भोग… और सबका उद्धार हो जाय। यह तो मैं आपसे कह रहा हूँ … वास्तवमें यह है बहुत ऊँची बात। अच्छे लोगोंके मनोंमें भी यह … आ जाती है कि यह बड़ी कठिन है। जब मनुष्यके लिये … त्याग करना भी बड़ा कठिन होता है, तब यह तो मुक्तिका त्याग है। मुक्तिका त्याग ही नहीं, आरामका त्याग ही नहीं, दूसरोंके पा… फलस्वरूप कष्ट-भोगका स्वीकार करना है। कितना महान् त्याग है!

आप निष्कामभावसे और अच्छी नीयतसे मेरा हित कर रहे … और इसी बीचमें आपसे कोई गलती हो गयी तथा उसके … आपको संकोच भी हो रहा है; किंतु मैं यह कहता हूँ कि 'आ… संकोच नहीं करना चाहिये। आप तो मेरे ही हितके लिये क… थे। भूल हो गयी, इसमें आपका कोई दोष नहीं है। यह तो … भाग्यकी बात है।' इस वाक्यमें 'यह तो मेरे भाग्यकी बात है' … इन शब्दोंसे आपके मनमें यह बात आ सकती है कि 'भूल … सर्वथा मेरी थी और इनको अपने भाग्यका दोष बताना पड़ा' … यह अच्छी नीयतका एक उदाहरण है। जिनकी अच्छी नीयत है, …

ही वस्तुतः सत्पुरुष हैं और उन्हींकी लोक-परलोकमें तथा भगवान्के यहाँ भी प्रतिष्ठा है। एक आदमीके पास पैसा नहीं है, पर वह लाखोंका व्यापार करता है और उसकी सच्ची नीयतपर विश्वास करके निर्भयताके साथ लोग उससे लाखोंका लेन-देन करते हैं। दूसरे एक व्यक्तिके पास लाखों रुपये हैं, पर वह दूसरेका धन हड़पनेकी नीयत रखता है, इसलिये लोग उससे व्यवहार नहीं रखना चाहते। लोग जानते हैं कि यह बेईमान है। रुपये हाथमें चले जानेके बाद यह लौटायेगा नहीं। इस प्रकार विचार करके उसे लोग एक पैसा भी देना नहीं चाहते; किंतु जिसकी अच्छी नीयत है, जिसपर विश्वास है, उससे आग्रह करके, बिना ब्याजके भी, अपनी रकम उसके यहाँ सुरक्षित मानकर जमा कराना चाहते हैं।

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि 'जो चोरी नहीं करता, दूसरेके धनको, पदको, जमीन-मकानको, ऐश्वर्यको, किसी प्रकारके स्वत्वको हड़पना नहीं चाहता—चोरीसे, जोरीसे या ठगीसे, इस प्रकार चोरीके भावसे सर्वथा रहित पुरुषके लिये सब जगह रत्न उपस्थित हो जाते हैं'।* इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि सब लोग उसका विश्वास करते हैं, उसकी दृष्टिमें रत्न-ही-रत्न भरे रहते हैं। दूसरेके धनको वह किसी प्रकार भी लेना नहीं चाहता। उसमें यह महान् गुण है। इसलिये प्रत्येक भाईको अपनी नीयत शुद्ध और शुभ बनानी चाहिये। दूसरेके धनको मलके समान समझकर उसका त्याग करना चाहिये। मल स्वयं तो गंदा है ही; परंतु यदि किसीके कपड़ेमें या शरीरपर लग जाता है तो उसे भी गंदा कर देता है।

* अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। (योगदर्शन २। ३७)

पहले अपने शरीरपर या कपड़ेपर मल लगावें और फिर उसे गङ्गा या शुद्ध जलसे धोवें, यह भी अज्ञान ही है। कितना भी धोया उसकी गन्ध तो रह ही जाती है। अतएव यह समझे कि बेहकके धनको लेकर हम किसी अच्छे काममें लगा देंगे तो यह भूलकी बात है। दूसरेके धनको या उसके हककी किसी चीज मलकी भाँति छूना ही नहीं चाहिये। यदि छू जाय तो तुरंत धोकर शुद्ध करना चाहिये। अर्थात् दूसरेका धन बुरी नीयतसे कभी ग्रहण करे ही नहीं; परंतु जैसे गङ्गास्नान करने गये और कोई गहना पड़ा मिल गया, उसे उसके मालिकको ढूँढ़कर दे देने लिये उठा लाये। मालिक मिला नहीं, ऐसी अवस्थामें उसे किसी पुण्यकर्ममें लगाया जाय तो अपने पाससे कुछ और मिला ही लगाना चाहिये। यही छू लेनेपर हाथ धोना है। दूसरेका है न, उसे पुण्य करनेका भी हमें क्या अधिकार है ?

प्राचीन युगमें तो इस प्रकारके पड़े हुए धनको उठा लानेकी भी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सभी लोग उसे विष और मलके समान समझते थे। उसपर किसीका मन चलता ही न था पर आज कलियुगका जमाना है, अपात्रके हाथों चीज न चली जा और उसकी रक्षा हो, इसलिये मालिकका पता लगाकर उसको दे देनेकी दृष्टिसे उसे उठा लाना न्यायसंगत प्रतीत होता है। अस्तु,

श्रेष्ठ नीयत अर्थात् उत्तम भावकी लोक-परलोक और भगवान् यहाँ इज्जत-प्रतिष्ठा है। किसी मत-मतान्तरका कोई भी पुरुष न हो, अच्छी नीयतवालेकी सभी इज्जत करते हैं। इस बात समझकर परधन—परस्व आदिको पाप तथा मल-मूत्रके समान त्या

माननी चाहिये । उत्तम भाव तो यह है कि यदि ये चीजें किसी दाताके द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दानमें प्राप्त होती हों तब भी वे त्याज्य ही हैं; क्योंकि ये छूने योग्य नहीं हैं और यदि कभी इन्हें छूना पड़े तो केवल उसी अवस्थामें जब कि देनेवालेका हित होता हो । अपने स्वार्थके लिये, अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये तो कभी इनको स्वीकार करे ही नहीं । इसपर यदि कोई कहे कि 'दाताको हमारे स्वीकार न करनेसे दुःख हो तथा स्वीकार करनेपर विशेष संतोष हो और इस प्रकार समझकर कोई उस वस्तुको स्वीकार कर ले कि 'हमारे निमित्तसे दूसरेको दुःख क्यों हो, हमसे सेवा तो नहीं बनती, पर हम दूसरेके दुःखमें निमित्त क्यों बनें, तो इसमें जो देता है, उस दाताका तो कल्याण होता है; परंतु ग्रहीतापर तो ऋण ही चढ़ता है । उसका भार तो बढ़ता ही है न ?' तो इसका उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है, जहाँ त्याग है, वहाँ दोनोंका ही कल्याण होता है । कोई कहे कि फिर वह कल्याण आता कहाँसे है ? तो इसका उत्तर यह है कि 'वह आता है भगवान्के यहाँसे ।' भगवान्के यहाँ किसी वस्तुकी कमी नहीं है, वे तो कल्याणके भण्डार हैं और इस प्रकारकी त्यागपूर्ण बातोंको देखकर मुग्ध हो जाते हैं ।

उदाहरणके लिये मान लीजिये, कोई सज्जन किसी गृहस्थके घर गये । वह गृहस्थ बड़े प्रेमसे अपना कर्तव्य समझकर निष्काम-भावसे उनका आतिथ्य करना चाहता है । अच्छा भोजन करवाना, स्वच्छ जल पिलाना और कुछ सेवा करना चाहता है, किंतु वे अतिथि सज्जन इस प्रकार अपने लिये कुछ भी करवाना

भार—ऋण समझते हैं, इसीलिये उससे पीछे हटते हैं और
प्रकारसे अस्वीकार करते हैं। सत्य ही कहते हैं कि 'हमने कुछ
देर पहले भोजन किया था। जल तो पीकर ही आये हैं।'
कहता है 'फल ही ले लें' तो कहते हैं—'नहीं, बिलकुल इच्छा न
है।' तब वह कहता है कि 'कुछ तो मेरे संतोषके लिये आ
लेना ही चाहिये।' इसपर यदि उक्त सज्जनने लौंग, इलायची
लीं और अपनी जेबमें डाल लीं और इतनेमें उसे संतोष हो
तब तो ठीक ही है। पर यदि वह अपने भाग्यको कोसने लगा कि
बड़ा अभागा हूँ कि हमारे घरपर अतिथि आये, पर वे ह
आतिथ्य किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते। मैं सोनेके लि
चारपाई लाकर रखता हूँ तो कहते हैं—'हम चारपाईपर
नहीं।' बिछौना लगाता हूँ तो कहते हैं कि 'बिछौना तो हमारे सा
है।' फिर मैं क्या सेवा करूँ? जलके लिये पूछता हूँ तो कह
है कि 'मैं अपने आप कुएँसे निकाल लूँगा; क्योंकि मेरा ऐसा
अभ्यास है।' फिर वह करुणाभावसे कहता है कि—'मैं कि
भी लायक नहीं, किसी भी सेवाके योग्य नहीं।' और वे स
देखते हैं कि उसके करुणाभावसे आँसू आ रहे हैं, वह अपने
अभागा समझकर निराशा प्रकट कर रहा है और दुखी है, तो
अवसरपर उक्त अतिथि सज्जनका यह कहना कर्तव्य हो जाता
कि—'बोलो, तुम क्या चाहते हो?' इसपर वह गृहस्थी सेवक कह
है—'मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरी कुछ तो सेवा स्वीकार क
दूध है, फल है—यही ले लें तो भी ठीक है।' इसपर वे अति
सज्जन कहते हैं कि 'अच्छा तो ठीक है, तुम्हारे पास इस

जो फल, दूध या जो शुद्ध पवित्र चीज हो, वह दे दो !' यों कहकर वे अतिथि सज्जन अपने आवश्यकतानुसार उसके दिये हुए दूधको पी लें, फल खा लें, जल पी लें तो वह गृहस्थी प्रसन्न हो जाता है और वह समझता है कि मैंने अपने कर्तव्यका पालन कर लिया। इस कर्तव्यके पालनसे अपनेको वह कृतकृत्य मान लेता है।

उक्त अतिथि सज्जनने उसके हितके लिये, उसके कल्याणके लिये, उसके संतोषके लिये, उसके दुःखकी निवृत्तिके लिये ये चीजें स्वीकार कीं। उन्होंने न तो अपने आराम, भोग और स्वास्थ्यके लिये वस्तुएँ लीं और न 'पैसे बच जायँगे, परिश्रम बच जायगा, दूध-फलके खानेमें आराम मिलेगा'—यह कल्पना की। केवल मात्र उसको सुख-शान्ति मिलेगी, इसीलिये यह सब स्वीकार किया। इस प्रकार यदि अतिथिने निष्कामभावसे वस्तुएँ स्वीकार कीं और गृहस्थी दाताने निष्कामभावसे सेवा की तो दोनोंका ही कल्याण हो सकता है। महत्ता तो उत्तम भावकी है और जिसमें अपना तनिक भी स्वार्थ नहीं है वही उत्तम भाव है—बढ़िया नीयत है। दूसरेको किसी प्रकारसे संतोष कराना ही अपना परम धर्म है। अतः वे सज्जन अपने परम धर्मको निष्कामभावसे पालन कर रहे हैं और वह भी उनको अतिथि समझकर अपने परम धर्मका निष्कामभावसे पालन कर रहा है। भगवान् न्यायकर्ता और सबके सुहृद् हैं। वे समस्त रहस्यको जाननेवाले हैं तो फिर इन दोनोंके लिये भगवान्के यहाँ स्थान क्यों नहीं होगा ? स्थान ही नहीं, भगवान् तो मुग्ध हो सकते हैं—दोनोंकी दान तथा ग्रहणकी पवित्र क्रिया देखकर।

राज्य मुक्ति देनेवाली वस्तु नहीं है, मुक्तिको देनेवाली वस्तु तो

त्याग है । अयोध्याका विशाल राज्य है । उसे भरतजी भी ठु
रहे हैं और भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी । भगवान् श्रीरामचन्द्र
प्रत्येक प्रकारसे यही बर्ताव है कि भरत राज्य स्वीकार करके
वर्षतक राज्य करें और भरतकी हर प्रकारसे यही चेष्टा है कि भग
श्रीराम ही राजा बनकर राज्य करें । आखिर, राज्य स्वीकार क
पड़ता हैं भरतको । पर वह जिस भावसे, जिस पवित्र परिस्थि
स्वीकार करना पड़ता है वह भरतके लिये कलङ्क नहीं, आभूषण
कल्याणमय है । भरतजी यदि कैकेयीकी आज्ञासे राज्य करते
उनके लिये वह कलङ्कका टीका था—दुर्गतिरूप था । लोग
निन्दा करते कि 'माँने तो बुरा काम किया था, किंतु भरतने
सम्मति करके उसे स्वीकार कर लिया ।' भरतजी भगवान्से कहते
कि 'मैं तो ऐसा काम कर रहा हूँ जो बहुत ही निम्न श्रेणीका है
मैं तो पिताजीके और आपके वचनोंका भी उल्लङ्घन करके यहाँ आ
लेने चला आया । मैंने सबकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया और इस
भी आप मेरी बड़ाई करते हैं कि 'भरत तेरे समान तू ही है
तो यह तो आपका स्वभाव है ।' भरतजीका तो ऐसा ही भाव हो
चाहिये तथा दूसरोंकी दृष्टिमें भी भरतका यह बर्ताव बहुत ही
कोटिका है । भरतजी यदि माता कैकेयीको यह कहते—'मात
तैंने मेरे लिये यह बड़ा अच्छा किया और मन्थराने भी
सहायता की । और अपना हक समझकर राज्य स्वीकार
लेते तो वह शास्त्रानुसार भरतके लिये दुर्गतिका कारण बनता
उनकी माता कैकेयी तथा दासी मन्थराकी भी दुर्गति होती; कि
भरतजीने तो ऐसा पवित्र कार्य किया कि अपनी माताकी भी दुर्गति

बचा लिया। माता-पिताकी पापमयी आज्ञाका पालन करनेवाला लड़का भी नरकमें जाता है और उसके माता-पिता भी नरकमें जाते हैं। कोई लड़का माता-पिताकी आज्ञासे चोरी करके लाता है तो केवल उस लड़केके ही हथकड़ी नहीं पड़ती, उसके माता-पिता भी पकड़े तथा बाँधे जाते हैं। भरतजीकी नीयत कितनी ऊँची थी। उनका यही उद्देश्य था कि किसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र वापस अयोध्या लौट चलें और राज्य करें। भरतकी यह नीयत बहुत ही उत्तम मानी गयी; पर भगवान् श्रीरामचन्द्रकी यह नीयत नहीं थी कि हम जाकर राज्य करें। वे तो उसको पाप समझते हैं। भरत यदि चाहते हैं कि भगवान् अयोध्या लौटकर राज्य करें तो भरतके लिये तो यह सर्वथा शोभनीय भूषण है, उनके लिये तो यह परम कल्याणस्वरूप है; पर यदि भगवान् श्रीराम इसे स्वीकार करें तो श्रीरामके लिये कलङ्क है। सबसे उत्तम नीयत वही है—जिसमें न्याय हो, उदारता हो, स्वार्थका सर्वथा त्याग हो, निष्कामभाव हो। न्यायसे ऊँचा दर्जा उदारताका है, उदारतासे ऊँचा दर्जा स्वार्थ-त्यागका है और स्वार्थत्यागसे भी ऊँचा दर्जा निष्कामभावका है। स्वार्थत्याग तो है; परंतु उसमें निष्कामभाव नहीं है, तो वह अपेक्षाकृत निम्नश्रेणीकी ही चीज है। जैसे समतासे त्याग श्रेष्ठ है, ऐसे ही स्वार्थत्यागमें भी जो निष्कामभाव है, जो त्यागका भी त्याग है वही सर्वश्रेष्ठ है। जहाँ सर्वोत्तम नीयत है, वहाँ सब कुछ है। सर्वोत्तम नीयत हो तो ये सारे बर्ताव अपने-आप होने लगते हैं, उसको कुछ भी सीखना-सिखाना नहीं पड़ता।

प्रतिग्रह और पापसे भी ऋण अधिक हानिक

ऋण लेनेवाला व्यक्ति ऋणदाताको जबतक ऋण नहीं दे
देता, तबतक उसका इस लोक या परलोकमें कहीं कभी छु
नहीं हो सकता। मरनेके बाद ऋण लेनेवालेको दूसरे जन्ममें ऋ
दाताके माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र या गाय, बैल, घोड़ा
पशुके रूपमें जन्म लेकर ऋण चुकाना पड़ता है। ऋण चु
बिना ऋणसे मुक्ति हो ही नहीं सकती, फिर परमपदकी प्राप्ति
ही कैसे सकती है। यहाँ सरकारके राज्यमें तो कानूनके अ
तीन वर्षके बाद रुपये लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है और
घर आदि स्थावर सम्पत्तिपर रुपया लेकर ऋणका कागज रजि
कराया हुआ हो तो बारह वर्षके बाद उन रुपयोंके भी लौ
अवधि समाप्त हो जाती है। किंतु भगवान्‌के यहाँ हजारों वर्ष
जानेपर भी ऋणकी इस प्रकार समाप्ति नहीं होती। व्याज (
तो मूल रुपयोंसे अधिक न तो इस राज्यमें ही मिलता है औ
परलोकमें ही। ऋणग्रहीता ऋणदाताका दिल दुखाकर जबरन्
का आठ आना या चार आना देकर उससे ऋण-मुक्तिका प
लेता है, तब भी शेष रुपयोंका ऋण ऋणग्रहीताके सिरपर
ही है। यदि ऋणदाताको मूलधन पूरा-का-पूरा दे दिया जाय
व्याजको अनुनय-विनय करके क्षमा करा लिया जाय तो फिर ऋ
सिरपर नहीं रहता, किंतु ऋणग्रहीता सहायता लेनेके रूपमें उ
उपकृत रहता है। यदि ऋणदाता अपना सर्वस्व भगवान्‌को

कर दे या वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाय तो ऋणग्रहीता भगवान्‌का ऋणी होकर रहता है—जैसे इस लोकमें कोई मनुष्य मर गया और उसका कोई भी उत्तराधिकारी न हो तो उसके धनका स्वामित्व सरकारपर चला जाता है। एवं यदि उस मृत मनुष्यका कोई ऋणी है और वह उस ऋणके रुपयोंको सरकारको दे देता है तो वह ऋणसे मुक्त हो जाता है। यदि कोई ऋणदाता मर गया और उसके उत्तराधिकारी—लड़का, लड़की, भाई, बन्धुमेंसे कोई भी जीवित हों तो उनको ऋण चुका देनेसे ऋणग्रहीता ऋणसे मुक्त हो सकता है। यदि ऋणदाता तो जीता है और ऋणग्रहीता मर गया और ऋण-ग्रहीताके पिता, पुत्र, भाई, बन्धु या कुटुम्बके लोग ऋणदाताको ऋण-ग्रहीताका ऋण चुका दें तो ऋणग्रहीता उससे मुक्त हो सकता है; किंतु यदि उसके कुटुम्बवाले ऋण लेनेके समय उसके शामिल न रहे हों; तो ऋण चुकानेवाले उन कुटुम्बीजनोंका ऋणग्रहीतापर उपकार माना जायगा।

दान, दहेज और उपकार—इन तीनोंका अलग-अलग हिसाब है। इसे उदाहरणसे यों समझना चाहिये—

एक धनी वैश्यके एक विवाहिता लड़की थी। उस लड़कीके एक कन्या थी। उस कन्याके विवाहके लिये कम-से-कम दो हजार रुपयोंकी आवश्यकता थी, किंतु उस लड़की और उसके पतिके पास किसी प्रकारका धन नहीं था, अतः लड़कीने अपने धनी पितासे कन्याके विवाहके लिये दो हजार रुपयोंकी इस प्रकार याचना की—'आप मुझे पाँच सौ रुपये तो जो मेरे आपके यहाँ जमा हैं, वे दे दीजिये;

पाँच सौ रुपये घरके रीति-रिवाजके अनुसार आप दहेजमें देंगे ही।
इनके अतिरिक्त पाँच सौ रुपये आप कन्याके विवाहमें सहायता
रूपमें दे दीजिये तथा शेष पाँच सौ रुपये ऋणके रूपमें दे दीजि
जिन्हें मेरे पतिदेव उपार्जन करके चुका देंगे।' इसपर वह के
राजी हो गया और उसके कथनानुसार रुपये दे दिये, जिससे कन्या
विवाह हो गया।

अब इन रुपयोंके सम्बन्धमें यों समझना चाहिये। पाँच
रुपये जो लड़कीके पिताके यहाँ जमा थे, वह तो पितापर ऋण
अतः पिता उस ऋणसे मुक्त हो गया। तथा पाँच सौ रुपये
पिताने दहेजके रूपमें दिये, उनपर उस लड़कीका अपना स्वत्व
वह उसने पा लिया; अतः उन रुपयोंका किसीके साथ कोई ले
देन नहीं रहा। पिताने जो पाँच सौ रुपये सहायताके रूपमें दि
उनके लिये लड़की पिताकी उपकृत है, किंतु ऋणी नहीं।
पाँच सौ रुपये जो लड़कीने ऋणके रूपमें अपने पितासे लिये,
रुपयोंको लड़की और उसके पतिको चुकाना होगा, चुकानेसे ही
उस ऋणसे मुक्त हो सकते हैं। यदि इस जन्ममें वे रुपये न
चुकाये गये तो उन दोनोंको भावी जन्ममें किसी-न-किसी रूपमें
रुपयोंको चुकाना पड़ेगा।

कोई मनुष्य किसीको दान देता है या किसीकी किसी प्रका
की सहायता (उपकार) करता है या सेवा करता है तो उस
या सहायता देने और सेवा करनेवालेको उसकी इच्छाके अनु
फल मिलता है। यदि वह इस लोककी अथवा परलोककी कि

कामनाको लेकर ऐसा करता है, तब तो उसकी कामनाकी सिद्धि होती है और यदि कर्तव्य समझकर निष्काम भावसे करता है तो उसकी आत्मा पवित्र होकर उस उपकार अथवा सेवाके फल-स्वरूप उसका उद्धार हो सकता है। दान या सहायता लेने-वाला और सेवा करानेवाला यदि उसका अधिकारी है—जैसे ब्राह्मणको दान लेनेका अधिकार है, माता, पिता, स्वामी, गुरु आदि-का अपने पुत्र, भृत्य, शिष्य आदिसे सेवा करानेका अधिकार है—तो इस अधिकारके अनुसार दान, सहायता, सेवा लेनेवाले व्यक्ति उपकृत नहीं माने जाते। इनके अतिरिक्त जो भी किसीसे दान, सहायता या सेवा स्वीकार करता है, वह उसका उपकृत है; उसके बदलेमें उसकी सहायता, सेवा करना और उसका हित चाहना उस उपकृत मनुष्यका कर्तव्य है। यदि वह अपने इस कर्तव्यका पालन नहीं करता तो यह उसकी कृतघ्नता है। कृतघ्नता भी एक प्रकार-का पाप ही है। जैसे पाप करनेवाला दण्डका भागी होता है और वह उस पापका फल भोगकर या ईश्वरके नामका जप, व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयमरूप तप, प्राणियोंका उपकार आदि या शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करके उस पापसे मुक्त हो जाता है, वैसे ही वह कृतघ्न भी पापका फल भोगकर या उपर्युक्त साधन करके पापसे मुक्त हो सकता है। किंतु ऋणी तो ऋण चुकानेपर ही मुक्त होता है, किसी प्रायश्चित्त आदि साधनसे नहीं।

ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य वर्णवालोंको अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको दान लेनेका अधिकार नहीं है। पर इनमेंसे कोई

आपत्तिकालमें यदि ऋण चुकानेके लिये किसीसे सहायताके रू
दान लेकर अपना ऋण चुका दे या ऋण छोड़ देनेके लिये ऋण-
दातासे अनुनय-विनय करनेपर ऋणदाता उसे सहायताके रूपमें ऋ
मुक्त कर दे तो वह ऋणसे मुक्त हो सकता है। किंतु उसे सहाय
देनेवालेकी अथवा ऋण छोड़ देनेवाले ऋणदाताकी बदलेमें सम
समयपर सेवा-सहायता करना उस उपकृत मनुष्यका कर्तव्य हो
जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो कृतघ्न समझा जाता है।
इसीलिये धर्ममें आस्था रखनेवाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दान
सहायता न लेकर ऋण ही लेते हैं; क्योंकि ऋणके रुपये चुकानेका
ऋण लेनेवालेपर भार रहता है, किंतु सेवा, दान और उपकार
विस्मरण भी हो जाता है, जिससे वे प्रत्युपकार नहीं कर पाते और फ
स्वरूप कृतघ्न हो जाते हैं। यद्यपि ऋण और कृतघ्नता दोनों ही अप
अपने स्थानपर बड़े भारी दोष हैं, तथापि उनमें कृतघ्नताका दोष तो ज
तप, व्रत, उपवास और प्रायश्चित्त आदि करनेसे दूर हो सकता है
किंतु ऋणसे छुटकारा तो ऋणदाताका ऋण चुकानेपर ही होता है

इसलिये ऋणग्रहीता मनुष्यको, जिस-किसी प्रकारसे हो, ऋ
चुका ही देना चाहिये। यदि ऋण चुकानेके लिये रुपये न हों
अपने पास भूमि, घर, आभूषण आदि जो कुछ भी हो, उसे दे
ऋणदाताको संतुष्ट करना चाहिये। इससे भी ऋण पूरा
हो तो जितना ऋण बचे, उसके लिये ऋणदाताके कथनानुसा
हैंडनोट आदि लिखकर संतोष कराये। अथवा यदि वह नौकरी
रखकर अपना रुपया वसूल करना चाहे तो उसकी नौकरी करके

उसका ऋण चुका देना चाहिये। अधिक क्या कहा जाय, यदि अपनेको अथवा अपनी स्त्री, पुत्र आदिको बन्धक रखने या बेचनेसे भी ऋण चुकाया जा सकता हो तो चुका देना चाहिये। यदि ऋणदाता नालिश कर दे तो हाकिमसे कह देना चाहिये कि 'मुझे यह रुपया देना है, आप मुझपर डिग्री दे दें।' उसपर भी ऋणदाता संतुष्ट न हो और ऋणग्रहीताको कैद कराना चाहे तो उसके संतोष-के लिये प्रसन्नतापूर्वक कैद भी भोग लेनी चाहिये, पर किसी भी अवस्थामें ऋणदाताका प्रतीकार नहीं करना चाहिये।

अतएव मनुष्यको, जहाँतक हो, प्रथम तो ऋण कभी लेना ही नहीं चाहिये। यदि परिस्थितिवश लेना ही पड़े तो उसे जीतोड़ प्रयत्न करके उपर्युक्त प्रकारोंमेंसे किसी-न-किसी रूपमें न्याययुक्त रीति-से चुका ही देना चाहिये।

अनाथालय, गोशाला, पाठशाला, धार्मिक संस्था, मठ, मन्दिर, क्षेत्र आदिके रुपये, अन्य किसी धार्मिक कार्यके लिये एकत्र किये हुए रुपये तथा ब्राह्मण, विधवा स्त्री, बहिन-बेटी आदिके रुपये तो अन्य ऋणोंकी अपेक्षा भी अधिक भाररूप होते हैं। इसलिये अपने-पर कभी आपत्ति आये तो मनुष्यको पहले उपर्युक्त संस्थाओं और व्यक्तियोंके ऋणको चुका देना चाहिये। यदि अपने पाससे भी दान देकर उनके नामसे खातेमें जमा कर लिया गया हो, तो भी वही बात समझनी चाहिये; क्योंकि जो रुपये जिसको दिये जा चुके, वे उसीके हो गये। इस विषयमें कोई-कोई व्यक्ति यह मान लेते हैं कि हमारे पिताने मरते समय इतने रुपये धर्मार्थ निकाले थे अथवा हमने ही

ये रुपये धर्मार्थ निकाले थे, इनको यदि हम न भी दें तो
आपत्ति नहीं है; किंतु यह समझना भूल है । क्योंकि धर्मार्थ नि
हुए रुपयोंको कोई मालिक बनकर तो जबरन् वसूल करता न
भगवान् भी प्रकटमें आकर माँगते नहीं; इसलिये उन रुपयोंका
तो अपने ऊपर विशेषरूपसे मानना चाहिये ।

ऐसे रुपयोंको या तो कहीं अन्यत्र जमा करवाकर अ
आदमियोंका उनपर अधिकार कर देना चाहिये; या गोशा
विद्यालय, मन्दिर आदि जिस कार्यके लिये रुपये जमा किये गये
उस कार्यमें तुरंत लगा देना चाहिये; अथवा अच्छे-अच्छे आदमि
का एक ट्रस्ट बनाकर उनके हाथमें सौंप देना चाहिये । क्यो
मनुष्यपर संकट और विपत्तियाँ तो आती ही रहती हैं और
विपत्ति आती है तब पावनेदार तो जबरन् उनको वसूल कर ले
है; किंतु जिसका भगवान्के सिवा कोई मालिक नहीं है,
धर्मार्थ निकाले हुए धनको कौन वसूल करे । अतः वह श
सिरपर ही रह जाता है । जिस प्रकार लावारिशके धनकी मा
सरकार होती है, उसी प्रकार धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंके मा
भगवान् हैं । अतः भगवान् उस ऋणीको इस जन्ममें या
जन्ममें सरकारके द्वारा अतिशय कर लगा देना, दैवी प्रको
द्वारा धन नष्ट कर देना आदि नाना प्रकारके संकटोंमें डालकर
रुपये वसूल करते हैं । अतएव मनुष्यको धर्मार्थ निकाले हुए
को अपनेपर गुरुतर भार समझकर शरीर रहते-रहते ही उ
किसी भी प्रकारसे उनका प्रबन्ध कर देना चाहिये ।

दानका रहस्य

दानमें महत्त्व है त्यागका, वस्तुके मूल्य या संख्याका नहीं। ऐसी त्यागबुद्धिसे जो सुपात्रको यानी जिस वस्तुका जिसके पास अभाव है, उसे वह वस्तु देना और उसमें किसी प्रकारकी कामना न रखना उत्तम दान है। निष्कामभावसे किसी भूखेको भोजन और प्यासेको जल देना सात्त्विक दान है। संत श्रीएकनाथजीकी कथा आती है कि वे एक समय प्रयागसे काँवरपर जल लेकर श्रीरामेश्वर चढ़ानेके लिये जा रहे थे। रास्तेमें एक जगह उन्होंने देखा कि एक गदहा प्यासके कारण पानीके बिना तड़प रहा है, उसे देखकर उन्हें दया आ गयी और उन्होंने उसे थोड़ा-सा जल पिलाया, इससे उसे कुछ चेत-सा हुआ। फिर इन्होंने थोड़ा-थोड़ा करके सब जल उसे पिला दिया। वह गदहा उठकर चला गया। साथियोंने सोचा कि त्रिवेणीका जल व्यर्थ ही गया और यात्रा भी निष्फल हो गयी। तब एकनाथजीने हँसकर कहा—'भाइयो! बार-बार सुनते हो, भगवान् सब प्राणियोंके अंदर हैं, फिर भी ऐसे बावलेपनकी बात सोचते हो! मेरी पूजा तो यहींसे श्रीरामेश्वरको पहुँच गयी। श्रीशङ्करजीने मेरे जलको स्वीकार कर लिया।'

एक महाजनकी कहानी है कि वह सदैव यज्ञादि कर्मोंमें लगा रहता था। उसने बहुत दान किया। इतना दान किया कि उसके पास खानेको भी कुछ न रह गया। तब उसकी स्त्रीने कहा—'पासके गाँवमें एक सेठ रहते हैं, वे पुण्योंको मोल खरीदते हैं, अतः आप उनके पास जाकर और अपना कुछ पुण्य बेचकर द्रव्य ले आइये जिससे अपना कुछ काम चले।' इच्छा न रहते हुए भी स्त्रीके बार-बार कहनेपर वह जानेको उद्यत हो गया। उसकी स्त्रीने उसके खानेके लिये चार रोटियाँ बनाकर साथ दे दीं। वह चल दिया और उस नगरके कुछ समीप पहुँचा, जिसमें वे सेठ रहते थे। वहाँ एक तालाब था। वहीं शौच-स्नानादि कर्मोंसे निवृत्त होकर यह रोटी खानेके लिये बैठा कि इतनेमें एक कुतिया आयी। वह वनमें ब्यायी थी। उसके बच्चे और वह, सभी तीन दिनोंसे भूखे थे, भारी वर्षा हो जानेके कारण वह बच्चोंको छोड़कर शहरमें नहीं जा सकी थी। कुतियाको भूखी देखकर उसने उस कुतियाको एक रोटी दी। उसने उस रोटीको खा लिया। फिर दूसरी दी तो उसको भी खा लिया। इस प्रकार उसने एक-एक करके चारों रोटियाँ कुतियाको दे दीं। कुतिया रोटी खाकर तृप्त हो गयी। फिर, वह वहाँसे भूखा ही उठकर चल दिया तथा उस सेठके पास पहुँचा। सेठके पास जाकर उसने अपना पुण्य बेचनेकी बात कही। सेठने कहा—'आप दोपहरके बाद आइये।'

उस सेठकी स्त्री पतिव्रता थी। उसने स्त्रीसे पूछा—'एक महाजन आया है और वह अपना पुण्य बेचना चाहता है। अतः

तुम बताओ कि उसके पुण्योंमेंसे कौन-सा पुण्य सबसे बढ़कर लेने योग्य है ।' स्त्रीने कहा—'आज जो उसने तालाबपर बैठकर एक भूखी कुतियाको चार रोटियाँ दी हैं, उस पुण्यको खरीदना चाहिये; क्योंकि उसके जीवनमें उससे बढ़कर और कोई पुण्य नहीं है ।' सेठ 'ठीक है'—ऐसा कहकर बाहर चले आये ।

नियत समयपर महाजन सेठके पास आया और बोला—'आप मेरे पुण्योंमेंसे कौन-सा पुण्य खरीदेंगे ?' सेठने कहा—'आपने आज जो यज्ञ किया है, हम उसी यज्ञके पुण्यको लेना चाहते हैं ।' महाजन बोला—'मैंने तो आज कोई यज्ञ नहीं किया । मेरे पास पैसा तो था ही नहीं, मैं यज्ञ कहाँसे कैसे करता ।' इसपर सेठने कहा—'आपने जो आज तालाबपर बैठकर भूखी कुतियाको चार रोटियाँ दी हैं, मैं उसी पुण्यको लेना चाहता हूँ ।' महाजनने पूछा—'उस समय तो वहाँ कोई नहीं था, आपको इस बातका कैसे पता लगा ?' सेठने कहा—मेरी स्त्री पतिव्रता है, उसीने ये सब बातें मुझे बतायी हैं ।' तब महाजनने कहा—'बहुत अच्छा, ले लीजिये; परन्तु मूल्य क्या देंगे ?' सेठने कहा—'आपकी रोटियाँ जितने वजनकी थीं, उतने ही हीरे-मोती तौलकर मैं दे दूँगा ।' महाजनने स्वीकार किया और उसकी सम्मतिके अनुसार सेठने अन्दाजसे उतने ही वजनकी चार रोटियाँ बनवाकर तराजूके एक पलड़ेपर रक्खीं और दूसरे पलड़ेपर हीरे-मोती आदि रख दिये; किंतु बहुत-से रत्नोंके रखनेपर भी वह (रोटीवाला) पलड़ा नहीं उठा । इसपर सेठने कहा—'और रत्नोंकी थैली लाओ ।' जब उस महाजनने अपने इस पुण्यका इस प्रकारका प्रभाव देखा तो उसने

कहा कि 'सेठजी ! मैं अभी इस पुण्यको नहीं बेचूँगा ।' सेठ बोला- 'जैसी आपकी इच्छा ।'

तदनन्तर वह महाजन वहाँसे चल दिया और उसी तालाबके किनारेसे जहाँ बैठकर उसने कुतियाको रोटियाँ खिलायी थीं, थोड़े-से चमकदार कंकड़-पत्थरों तथा काँचके टुकड़ोंको कपड़ेमें बाँधकर अपने घर चला आया । घर आकर उसने वह पोटली अपनी स्त्रीको दे दी और कहा—'इसको भोजन करनेके बाद खोलेंगे ।' ऐसा कहकर वह बाहर चला गया । स्त्रीके मनमें उसे देखनेकी इच्छा हुई । उसने पोटलीको खोला तो उसमें हीरे-पन्ने-माणिक आदि रत्न जगमगा रहे थे । वह बड़ी प्रसन्न हुई । थोड़ी देर बाद जब वह महाजन घर आया तो स्त्रीने पूछा—'इतने हीरे-पन्ने कहाँसे ले आये ?' महाजन बोला—'क्यों मजाक करती हो ?' स्त्रीने कहा—'मजाक नहीं करती, मैंने स्वयं खोलकर देखा है, उसमें तो बहुतेरे बेशकीमती हीरे-पन्ने भरे हैं ।' महाजन बोला—'लाकर दिखाओ ।' उसने पोटली लाकर खोलकर सामने रख दी । वह उन्हें देखकर चकित हो गया । उसने इसको अपने उस पुण्यका प्रभाव समझा । फिर उसने अपनी यात्राका सारा वृत्तान्त अपनी पत्नीको कह सुनाया ।

कहनेका अभिप्राय यह कि ऐसे अभावग्रस्त आतुर प्राणीको दिये गये दानका अनन्तगुना फल हो जाता है, भगवान्‌की दयाके प्रभावसे कंकड़-पत्थर भी हीरे-पन्ने बन जाते हैं ।

इस प्रकार दीन-दुखी, आतुर और अनाथको दिया गया दान उत्तम है । किसीके संकटके समय दिया हुआ दान बहुत ही लाभ-

कारी होता है। भूकम्प, बाढ़ या अकाल आदिके समय आपद्ग्रस्त प्राणीको एक मुट्ठी चना देना भी बहुत उत्तम होता है। जो विधिपूर्वक सोना, गहना, तुलादान आदि दिया जाता है, उससे उतना लाभ नहीं, जितना आपत्तिकालमें आतुरको दिये गये थोड़े-से दानका होता है। अतः हरेक मनुष्यको आपत्तिग्रस्त, अनाथ, लूले, लँगड़े, दुखी, विधवा आदिकी सेवा करनी चाहिये। कुपात्रको दान देना तामसी दान है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये दिया हुआ दान राजसी है; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा भी पतन करनेवाली है। आज तो यह मान-बड़ाई हमें मीठी लगती है, पर उसका निश्चित परिणाम पतन है। अतः मान-बड़ाईकी इच्छाका त्याग कर देना चाहिये, बल्कि यदि किसी प्रकार निन्दा हो जाय तो वह अच्छी समझी जाती है। श्रीकबीरदासजी कहते हैं—

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

इसलिये परम हितकी दृष्टिसे मान-बड़ाईके बदले संसारमें अपमान-निन्दा होना उत्तम है। साधकके लिये मान-बड़ाई मीठा विष है और अपमान-निन्दा अमृतके तुल्य है। इसीलिये निन्दा करनेवालेको आदरकी दृष्टिसे देखना चाहिये; परंतु कोई भी निन्दनीय पापाचार नहीं करना चाहिये। दुर्गुण-दुराचार बड़े ही खतरेकी चीज है। इसलिये इनका हृदयसे त्याग कर देना चाहिये। अपने सद्गुणोंको छिपाकर दुर्गुणोंको प्रकट करना चाहिये। आज कल लोग सच्चे दुर्गुणोंको छिपाकर बिना हुए ही अपनेमें सद्गुणोंका संग्रह बताकर

उनका प्रचार करते हैं, यह दम्भ है, सीधा नरकका रास्ता है अतः मान-बड़ाईकी इच्छा हृदयसे सर्वथा निकाल देनी चाहिये संसारमें हमारी प्रतिष्ठा हो रही है और हम यदि उसके योग्य नहीं हैं तो हमारा पतन हो रहा है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा चाहनेवालेसे भगवान् दूर हो जाते हैं; क्योंकि मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा पतनमें ढकेलने-वाली है। मान-बड़ाईको रौरवके समान और प्रतिष्ठाको विष्ठाके समान समझना चाहिये। यही संतोंका आदेश है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि सुपात्रको दिया गया दान दोनोंके लिये ही कल्याणकारी है। कुपात्रको दिया गया दान दोनोंको डुबाने-वाला है। जैसे पत्थरकी नौका बैठनेवालेको साथ लेकर डूब जाती है, उसी प्रकार कुपात्र दाताको साथ लेकर नरकमें जाता है।

दानके सम्बन्धमें एक बात और समझनेकी है। बड़े धनी पुरुषके द्वारा दिये गये लाखों रुपयोंके दानसे निर्धनका थोड़ा-सा दान भी अधिक महत्त्व रखता है; क्योंकि निर्धनके लिये थोड़ा-सा दान भी बहुत बड़ा त्याग है। भगवान्‌के यहाँ न्याय है। ऐसा न होता तो फिर निर्धनोंकी मुक्ति ही नहीं होती। इस विषयमें एक कहानी है। एक राजा प्रजाजनोंके सहित तीर्थ करनेके लिये गये। रास्तेमें एक आदमी नंगा पड़ा था, वह ठंढके कारण ठिठुर रहा था। राजाके साथी प्रजाजनोंमें एक जाट था, उसने अपनी दो धोतियोंमेंसे एक धोती उस नंगे आदमीको दे दी, इससे उसके प्राण बच गये। जाटके पास पहननेको एक ही धोती रह गयी। आगे जब वे दूर गये तो वहाँ बहुत कड़ी धूप थी, पर उन्होंने देखा कि बादल उनपर

छाया करते चले जा रहे हैं। राजाने सोचा कि 'हमारे पुण्यके प्रभावसे ही बादल छाया करते हुए चल रहे हैं।' तदनन्तर वे एक जगह किसी वनमें ठहरे। जब चलने लगे, तब किसी महात्माने पूछा—'राजन्! तुम्हें इस बातका पता है कि ये बादल किसके प्रभावसे छाया करते हुए चल रहे हैं?' राजा कुछ भी उत्तर नहीं दे सके। तब महात्माने कहा—'अच्छा, तुम एक-एक करके वहाँसे निकलो। जिसके साथ बादल छाया करते हुए चलें, इसको उसी पुण्यवान्‌के पुण्यका प्रभाव समझना चाहिये।' तब पहले राजा वहाँसे चले, फिर एक-एक करके सब प्रजाजन चले, पर बादल वहीं रहे। तब राजाने कहा—'देखो तो, पीछे कौन रह गया है।' सेवकोंने देखा कि वहाँ एक जाट सोया पड़ा है। उसे उठाकर वे राजाके पास लाये, तब बादल भी उसके साथ-साथ छाया करते चलने लगे। तब महात्मा बोले—'यह इसी पुण्यवान्‌के पुण्यका प्रभाव है।' राजाने उससे पूछा—'तुमने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है?' बार-बार पूछनेपर उसने कहा कि मैंने और तो कोई पुण्य नहीं किया अभी रास्तेमें मैंने अपनी दो धोतियोंमेंसे एक धोती रास्तेमें पड़े जाड़ेसे ठिठुरते हुए एक नंगे मनुष्यको दी थी।'

इसपर महात्माने राजासे कहा—'राजन्! तुम बड़ा दान करते हो, परंतु तुम्हारे पास अतुल सम्पत्ति है, इसलिये तुम्हारा त्याग दो धोतीमेंसे एक दे डालनेके समान नहीं हो सकता।'

इस प्रकार दानका रहस्य समझकर दान करना चाहिये।

स्त्रियोंके लिये स्वार्थत्यागकी शिक्षा

स्त्रियोंको आपसमें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये तथा पुरुषोंके साथ उन्हें कैसा व्यवहार करना चाहिये, यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

भगवान्‌को प्रसन्न करना अर्थात् भगवान्‌की प्रसन्नताके अनुसार कार्य करना तो मनुष्यमात्रका कर्तव्य और एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। स्वार्थत्यागपूर्वक सबकी सेवा करनेसे सब प्रसन्न होते हैं और सबके प्रसन्न होनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को प्रसन्न करनेसे बहुत ही शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

माता-बहिनोंको आपसमें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये, इसमें ये दो बातें स्मरण रखनेकी हैं। एक तो यह कि मेरे व्यवहार-से सबको प्रसन्नता कैसे हो और दूसरे, यह समझना चाहिये कि परमात्मा सबमें विराजमान हैं, सब परमात्माके ही रूप हैं, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है और यों समझकर हर प्रकारसे अपने द्वारा जैसे ही बने, निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये।

जैसे स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थसाधनमें रत होता है, वैसे ही

सबके हितमें रत होना बहुत उच्चकोटिकी सेवा है और यही माता-बहिनोंका लक्ष्य होना चाहिये । इसके तीन भेद हैं—

(१) जो वर्ण, आश्रम, पद, अवस्था और ज्ञानमें अपनेसे बड़े हैं, चाहे स्त्री हों या पुरुष, उनकी श्रद्धाभक्तिपूर्वक सेवा करना।

(२) जो बराबरकी अवस्थावाले, समान श्रेणीवाले हैं, उनकी मित्र भावसे सेवा करना ।

(३) जो अपनेसे किसी भी प्रकारसे छोटे हैं, उनकी वात्सल्यभावसे सेवा करना ।

इस प्रकार सेवामें यथायोग्य दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभाव रखना चाहिये । किसी भी रूपमें जो हमारे बड़े, पूज्य और स्वामी हैं, उनको मालिक समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उनकी सेवा करना—दास्यभाव है । जैसे स्त्री अपने पतिकी सेवा करती है, पुत्र अपने माता-पिताकी सेवा करते हैं और शिष्य अपने गुरुकी सेवा करते हैं तो यह दास्यभाव है । बराबरवालोंके साथ जो मित्रताका भाव है, वह सख्यभाव है और छोटोंके प्रति जो स्नेहयुक्त पालन-पोषण-रक्षणका भाव है, वह वात्सल्यभाव है । तीनोंमें उद्देश्य एक ही है—उनको सुख पहुँचाना । इस प्रकारके भावोंसे परस्पर प्रेम बढ़ता है और ऐसे हेतुरहित प्रेमसे भगवान् प्रसन्न होते हैं । वास्तवमें यह प्रेम भगवान्‌में ही है; क्योंकि उसकी सबमें भगवद्बुद्धि है और सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है, इस निश्चयसे ही निःस्वार्थ सेवा की जाती है । इसलिये उस सेवा करनेवालेका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और उसका दूसरोंपर प्रभाव पड़ता है । उसके व्यवहारसे

दूसरे भी इतने प्रभावित हो जाते हैं कि उसका अनुकरण करने अर्थात् उसके अनुसार बननेकी चेष्टा करते हैं। यह उनकी परम सेवा है।

स्त्रीका कर्तव्य है कि वह ससुरालमें अपनी सास और जेठानी आदिको जन्म देनेवाली माँसे भी बढ़कर समझे और यह निश्चय करे कि मैं यदि सेवाके द्वारा इनको प्रसन्न कर लूँगी तो भगवान् प्रसन्न होंगे; इसी भावसे उनकी सेवा करे। जो कार्य अपने मनके अनुकूल न होनेपर भी उनके मनके अनुकूल हो, वही करे; अपनी प्रतिकूलताकी परवा न करके उनकी अनुकूलताका आदर करे, उनकी प्रसन्नताको ही प्रधानता दे। परंतु यदि किसी पापकर्ममें उनको प्रसन्नता होती हो तो वह पाप कभी भूलकर भी न करे। बड़ोंको सुख पहुँचानेके लिये बड़ा-से-बड़ा कष्ट सह ले; परन्तु उनकी पापमयी आज्ञाका पालन न करे; क्योंकि उसके पालनमें उनका भी हित नहीं है। पापके लिये आज्ञा देनेवाले और उस आज्ञाका पालन करनेवाले—दोनों ही नरकमें जाते हैं। इसलिये हिंसा, चोरी, असत्य-भाषण, व्यभिचार आदि करनेकी पापमयी आज्ञा बड़े लोग दें तो उनका पालन नहीं करना चाहिये। ऐसी दुष्ट आज्ञाओंका पालन न करनेसे आज्ञा देनेवाले भी नरकसे बच सकते हैं। फिर चाहे आज्ञा न माननेके कारण अपनेको नरकमें ही जाना पड़े; परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार स्वार्थत्याग करके दूसरोंको नरकसे बचानेवाली स्त्रीको नरकमें डालनेकी शक्ति यमराजमें भी नहीं है।

त्यागमूर्ति श्रीभरतजीने अपनी माताकी अनुचित आज्ञाका पालन

नहीं किया तो इससे क्या वे नरकमें गये ? भरतजीने चित्रकूटमें जाकर यह कहा कि 'मैं तो पिताकी तथा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके यहाँ आया हूँ, फिर भी आप मेरी प्रशंसा करते हैं ।' इसमें कितना ऊँचा ध्येय है । भरतजीको इन लोगोंने जो राज्यपद स्वीकार करनेकी आज्ञा दी, वह भरतजीकी दृष्टिमें न्याययुक्त नहीं थी । इसलिये भरतजीने उसका पालन नहीं किया । इसी प्रकार राजा बलिने भी गुरुकी आज्ञाका त्याग कर दिया था किंतु इससे वे नरकमें नहीं गये; बल्कि उनको उत्तम पदकी प्राप्ति ही हुई । अतएव यदि कोई नीति, धर्म अथवा ईश्वरकी भक्तिके विपरीत आज्ञा दे और उस पापमयी आज्ञाको हम अनुचित समझकर सबके हितके उद्देश्यसे पालन न करें तो इससे हमें कोई पाप नहीं होता, बल्कि उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त होती है । परम भक्त प्रह्लादजीको जब पिताने कहा कि तुम ईश्वरकी भक्ति मत करो, तब उन्होंने उनकी यह आज्ञा नहीं मानी । इसके अतिरिक्त पिताकी प्रत्येक कठोर-से-कठोर आज्ञाका पालन कर दारुण अत्याचार सहते रहे ! पिताने जो भी निर्दय दण्डविधान किया, उन्होंने प्रसन्नताके साथ उसे स्वीकार किया । इसी प्रकार हमें बड़ोंकी अन्य सारी बातें माननी चाहिये, किंतु जो धर्म और ईश्वरकी भक्तिके विरुद्ध हों, उन बातोंको कभी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि बड़ोंको नरकसे बचाने तथा उनका परम हित करनेके लिये उनका न मानना ही उपयुक्त है ।

आपके साथ जिनका बराबरका पद है, जो आपकी सखी हैं, जिनके साथ आपका प्रेम है और जिनकी अवस्था आदि समान है,

उनके साथ मैत्रीभावनासे अपने स्वार्थका त्याग करते हुए उनका हि करके उन्हें हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये । इस प्र निःस्वार्थभावसे सुख पहुँचानेसे अपना अन्तःकरण शुद्ध होता है अपने उत्तम व्यवहारका उनपर भी उत्तम प्रभाव पड़ता है, जिस उनका भी सुधार और उद्धार हो सकता है ।

अपनेसे जो छोटे हैं, उनका पालन-पोषण, शिक्षण, संरक्ष तथा शुद्ध मनोरंजनरूपी सेवा करके उन्हें सुख पहुँचाना चाहिये यही वात्सल्य-भाव है । अपने बालकोंसे भी बढ़कर अपनी देवरानी जेठानीके बालकोंको अथवा यदि पीहरमें हो तो भाई और बहिन बालकोंको विशेष सुख पहुँचाना चाहिये । जो कुछ भी मेवा-मिठा फल तथा खिलौने आदि हों, अपने बालकोंकी अपेक्षा उनके बालकों अधिक, बढ़िया और प्रथम देना चाहिये ।

बहुओंका कर्तव्य है कि वे सासको माँसे भी बढ़कर सम और उनकी आज्ञाका पालन करें । माताकी बात किसी समय भी मानी जाय तो भी कोई विशेष हानि नहीं है, किन्तु सासकी बा न माननेसे उनको विशेष दुःख होता है, इसलिये उनकी बात अवश् माननी चाहिये । जैसे भगवान्‌का भक्त बड़ी सावधानीसे ऐसी चे किया करता है, जिससे भगवान् शीघ्र प्रसन्न हों, वैसे ही बहू कर्तव्य है कि वह सास-ससुर, जेठ-जेठानी आदि पूजनीय जनों देवताओंसे भी बढ़कर माने और कर्तव्य समझकर उनको हर सम प्रसन्न करनेके लिये निष्काम प्रेमभावसे विशेष प्रयत्न करे त यह अनुभव करे कि इन सबमें भगवान् विराजमान हैं और मैं

कुछ कर रही हूँ, उसे वे देख रहे हैं तथा प्रसन्न हो रहे हैं।

सासको अपने आश्रित बहू आदिके विषयमें यह समझना चाहिये कि बहू जो अपने माता-पिताको छोड़कर इस घरमें आयी है, वह उसकी लड़कीसे भी बढ़कर स्नेहकी पात्री है। अपनी लड़की और बहूमें कभी कोई अनबन या मतभेद हो जाय तो उसे अपनी पुत्रवधूका पक्ष लेना चाहिये, लड़कीका नहीं। लड़की माँपर कभी नाराज नहीं होती। वह हृदयमें समझती है कि यह मेरी माँ है, यह मेरे विपक्षमें कभी मेरे अहितकी बात नहीं कह सकती। किन्तु बहूके हृदयमें तुरंत यह बात आ सकती है कि सास अपनी लड़कीका पक्ष करती है। सास यदि अपनी बेटी और बहूके साथ समान व्यवहार करती है तो भी बहूके चित्तमें यह शङ्का हो सकती है कि यह अपनी लड़कीका पक्ष कर रही है। इससे यही उचित है कि वह बहूके उचित मतका विशेषरूपसे पक्ष करे।

यदि मैं अपने निजी भाइयों या अपने आदमियोंका दूसरे पक्षवालोंके साथ कोई न्याय करने बैठूँगा और वह न्याय यदि नीतिके अनुसार भी करूँगा तब भी दूसरे पक्षवालोंको यह शङ्का हो सकती है कि यह अपने भाइयोंका या अपने आदमियोंका पक्ष करता है। उस स्थलमें यदि मैं प्रतिपक्षियोंका सच्चा पक्ष लूँगा, उनके उचित कथनका समर्थन करूँगा और अपने पक्षवाले यदि उचित भी कहते होंगे तो उस विषयमें मैं कुछ चुप रहूँगा तो प्रतिपक्षियोंपर उसका ऐसा अच्छा असर पड़ेगा कि वे भी हमारे अनुकूल हो जायँगे और जो हमारे हैं वे तो हमारे हैं ही।

एक बातके लिये माता-बहिनोंसे मेरी विशेष प्रार्थना है कि उन्हें अपने स्वार्थके लिये अपने घरके पुरुषों—पीहरवालों या ससुराल वालोंको किसी चीजके लिये बाध्य नहीं करना चाहिये । उत्तम बात तो यह है कि कोई अपने पीहरमें आये तो उसे किसी चीजकी माँग नहीं करनी चाहिये । पीहरवाले जितना, जो कुछ देना चाहें, उससे भी कम लेनेकी इच्छा रक्खे और चेष्टा भी वैसी ही करे । इसे सिद्धान्त समझकर इसका पालन करनेकी विशेष चेष्टा रखनी चाहिये । इसी प्रकार अपनी ससुरालमें भी अपने सास-ससुर जो कुछ देना चाहें उससे कम ही लेनेकी इच्छा रक्खे और चेष्टा भी वैसी ही करे स्वयं न लेकर, घरमें दूसरोंको, जिन्हें आवश्यकता हो, उन्हें अमुक चीज दिला देनी चाहिये । पीहरमें माता-पिता, भाई जो कुछ देना चाहें, स्वयं उससे कम ले और अभिमानका त्याग करके दूसरी बहिनोंको अधिक दिलानेकी चेष्टा करे । इस प्रकारके व्यवहारसे प्रेम बढ़ता है, फिर लड़ाई-झगड़ा तो कभी हो नहीं सकता ।

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जो सत्य, प्रिय, हित और मित हो अर्थात् थोड़े वचनोंमें सार-सार बात कहनी चाहिये । फालतू (व्यर्थ) बातें न करनी चाहिये । वाणीमें कठोरता और झूठ नहीं आना चाहिये । किसी दूसरेको दुःख हो, ऐसा वचन भी नहीं बोलना चाहिये । कपटरहित, मधुर, सत्य और हितकारक वचन ही बोलने चाहिये ।

स्त्रीको कभी निकम्मी नहीं रहनी चाहिये । उत्तरोत्तर आत्मोन्नतिके लिये शरीरसे सदा काम लेते रहना चाहिये । जो स्त्री

निकम्मी रहती है, उसका आलस्यके कारण पतन हो जाता है। शरीरका एक क्षणका भी कोई भरोसा नहीं है, न मालूम किस समय उसका अन्त हो जाय; इसलिये निरन्तर भगवान्‌को याद रखते हुए ही निःस्वार्थभावसे शरीरसे न्यायोचित काम, दूसरोंको दुःख न हो ऐसे करते ही रहना चाहिये। उत्तम कामकी हर समय खोज रखनी चाहिये।

सादगीसे रहना चाहिये। घरवालोंको बढ़िया कपड़े-गहने आदिके लिये न कहे और दबाव तो कभी डाले ही नहीं। वे घरकी परिस्थिति और सुविधाके अनुसार प्रसन्नतासे जो कुछ वस्त्र-आभूषण दें, उसीमें संतुष्ट रहे; बल्कि उससे कम लेनेका भाव रक्खे। स्वयं ऐसे त्यागका व्यवहार करना चाहिये कि जिसका उनपर प्रभाव पड़े और वे भी आपके अनुसार ही सबके साथ स्वार्थत्यागका व्यवहार करने लगें। स्वार्थ-त्यागकी बड़ी भारी महिमा और सामर्थ्य है। स्वार्थत्यागपूर्वक जो व्यवहार किया जाता है, उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। स्वार्थत्यागके व्यवहारसे दूसरोंको बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है, जिससे वे भी आगे जाकर स्वार्थके त्यागी बन जाते हैं।

मैं यदि आपके साथ स्वार्थका त्याग करके व्यवहार करता रहूँ तो सम्भव है आखिर आपमें भी यह भाव पैदा हो जाय और आप भी मेरे और दूसरोंके साथ स्वार्थत्यागका व्यवहार करने लगें; यह न्याय है। तथापि अपना सिद्धान्त तो यह रखना चाहिये कि अपने साथ कोई बदलेमें स्वार्थत्यागका व्यवहार न करे तो भी अपनेको तो

स्वार्थ-त्यागपूर्वक ही व्यवहार करना है, बल्कि अपने साथ कोई बुराई करे तो भी अपने तो उसका हित ही करना है। स्त्रियोंको इसपर ध्यान देकर ऐसा करना चाहिये।

किसीकी व्यर्थ निन्दा-चुगली कभी न करे तथा किसीमें कोई दोष हो तो भी उस दोषका वर्णन न करे। हाँ, उसके पूछने और आग्रह करनेपर यदि आपके कहनेसे उसका सुधार होनेकी आशा हो और वह बुरा न माने तो ऐसी अवस्थामें उसे बता देना कोई दोषकी बात नहीं है; किंतु जहाँतक हो, बिना पूछे नहीं बताना चाहिये। किसीमें कोई उत्तम गुण हो तो उसका वर्णन किया जा सकता है, पर वह गुण यथार्थमें होना चाहिये; झूठे गुणोंका वर्णन करना उचित नहीं।

किसीको नीचा दिखानेकी चेष्टा कभी न करे और न नीचा दिखानेका मनमें भाव ही रक्खे। किसीका अपमान भी कभी न करे और सबके हितकी चेष्टा करे; किंतु किसीका हित करके उसे कभी किसीसे न कहे और न मनमें ही उसे याद रक्खे; क्योंकि याद रखनेसे अहङ्कार बढ़ता है और कह देनेसे किया हुआ उपकार नष्ट हो जाता है। दूसरा कोई यदि अपने साथ बुरा व्यवहार करे तो उसकी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये, बल्कि बदलेमें उसका हित ही करना चाहिये। ऐसा व्यवहार बड़े ही उच्च कोटिका और सबका हित करनेवाला है।

किसीके भी साथ जो व्यवहार किया जाय, उसमें त्याग, विनय, प्रेम और उदारता होनी चाहिये। इस प्रकारके व्यवहारसे

लोगोंपर निश्चय ही बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है और वे भी अच्छे बनते हैं। जब उत्तम व्यवहारसे परमात्मा प्रसन्न होते और मिलते हैं, तब हमको सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार ही करना चाहिये; क्योंकि फिर यह शरीर, ऐश्वर्य और धन हमारे क्या काम आयेंगे। अपने स्वार्थसाधन या अपने कार्यकी सिद्धिके लिये किसीसे मित्रता करना मित्रता नहीं है। मित्रता तो उसके कल्याणके लिये करनी चाहिये। महात्मा पुरुष किसीसे मित्रता करते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही करते हैं। इसलिये माता-बहिनोंको चाहिये कि महात्माओंके इस मैत्री-व्यवहारको आदर्श मानकर दूसरोंके हितके लिये ही सबके साथ निष्कामभावसे मित्रता करें।

अपने पास कोई उत्तम वस्तु हो तो उसे अपनी सखीको अधिक देना चाहिये और उसको दुःख न हो, इस दृष्टिसे उसकी चीज भी, काम पड़े तब, थोड़ी ले लेनी चाहिये। जैसे उसने फल भेजे, आम भेजे तो थोड़े रख लिये और शेष वापस लौटा दिये। अपने यहाँसे कोई चीज भेजें, तब उसने जो चीज भेजी थी, उससे चौगुने मूल्यकी और उसके उपयोगमें आने योग्य चीज भेजनी चाहिये। अपने पास कोई चीज है और अपनी सखी अपनेसे गरीब है तो कपड़ा और खानेकी चीजें किसी भी बहानेसे उसके घर पहुँचाते रहना चाहिये। वह अस्वीकार करे तो स्वयं जाकर आग्रह करके दे आना चाहिये और बदलेमें, उसको प्रसन्न करनेके लिये उसकी कम कीमतकी वस्तु ले लेनी चाहिये। जैसे वहाँ अंगोछे पड़े देखे तो कहा कि 'ये अंगोछे तो बहुत बढ़िया

हैं। मैं इनमेंसे दो ले लेती हूँ।' उसने कहा—'अवश्य ले जाओ।' दोनों अंगोछोंकी कीमत हुई एक रुपया और उनके बदलेमें उसे दस रुपयेकी साड़ी या अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेज दीं। इसपर यदि उसने कहा—'बिना मूल्य यह मैं कैसे रक्खूँ!' तो कहना चाहिये—'मैं तो तुम्हारे अंगोछे उठाकर ले आयी थी। तुम्हारी हमारी कोई दो बात थोड़े ही है। तुम्हारी चीज हमारी है और हमारी तुम्हारी है।' उसके घरपर भूँजे चने देखे तो कहा—'बहुत बढ़िया है, लाओ, थोड़ा मुझे भी दो।' भूँजे चने हैं दो पैसेके। माँगकर खा लिये; क्योंकि इसको निमित्त बनाकर अपनेको दस रुपयेकी चीज उसके यहाँ पहुँचानी है। इसी प्रकार जब भी उसके घरपर जाय और घी-चीनी, अनाज-वस्त्र आदि किसी भी चीजकी कमी देखे तो झट पहुँचा दे। इसपर वह कहे कि बिना मूल्य मैं कैसे लूँ तो कह दे कि अपने आपसमें संकोच नहीं करना चाहिये। जब हम परस्पर सखी हैं, तब तुम्हारी चीज है सो हमारी और हमारी है सो तुम्हारी। वस्तुतः ऐसा ही आन्तरिक भाव रखना चाहिये। वह गरीब है, इसलिये उपकार या दयाकी भावनासे नहीं, बल्कि वह सखी है, मित्र है, उसका दुःख मेरा ही दुःख है—उसका मुझपर और मेरी वस्तुओंपर अधिकार है, इस भावनासे उसे वस्तुएँ देनी चाहिये।

लेनेका काम पड़े तो खूब कम लेना चाहिये और वह भी उसके संतोषके लिये, जिससे कि जब अपने कोई चीज उसे दे तो वह मने न कर सके। इसी दृष्टिसे उसकी चीज लेनी चाहिये,

स्वार्थबुद्धिसे नहीं। स्वार्थबुद्धिसे तो सभी लोग लेते हैं। उसके लिये शिक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं। सीखना तो है स्वार्थ-त्यागकी बात। इसीसे मुक्ति होती है। स्वार्थ-साधनसे मुक्ति होती तो सबकी हो जाती। त्यागका महत्त्व भगवान्‌के ध्यानसे भी बढ़कर गीतामें बतलाया गया है। १२ वें अध्यायके १२ वें श्लोकके उत्तरार्धमें कहा है—

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

'ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग यानी निष्कामकर्म अर्थात् स्वार्थत्यागपूर्वक कर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे तत्काल शान्ति मिलती है।' यहाँ त्यागका अभिप्राय है—स्वार्थका त्याग। हमलोग कोई भी कार्य करें, उसमें जो निजी स्वार्थका त्याग है, वह सबसे उत्तम है।

यह शरीर नाशवान् है। इसे पुष्ट करनेमें या सजानेमें पैसे खर्च करना मूर्खता है। उन पैसोंसे दुखी, गरीब, अनाथोंकी सेवा करनी चाहिये। हमारे पास जो धन है उससे आसक्ति हटाकर उसका सदा सदुपयोग करना चाहिये; क्योंकि जब हम मर जायँगे, तब वह धन यहीं रह जायगा—न मालूम, उसकी क्या दशा होगी? थोड़े ही समयके लिये हमको यह अवसर मिला है, ऐसा अवसर बहुत कालतक रहनेका नहीं है। इसलिये शीघ्र ही अपना काम बना लेना चाहिये। अन्तमें न तो यह शरीर रहेगा और न यह ऐश्वर्य तथा धन ही। आज जो हमारे अधिकारमें है, वह सब जल्दी ही हमसे छूटनेवाला है। जैसे समय बीत रहा है, इसी प्रकार ये सब चीजें समयके साथ-साथ चली जा रही हैं। लाख जतन करनेपर भी नहीं रहेंगी। जब अपना शरीर ही रहनेका नहीं

है, तब दूसरी चीजोंकी तो बात ही क्या है। अतएव इन सब पदार्थोंको जगज्जनार्दनकी सेवामें लगाना चाहिये।

हरेक माता-बहिनको यह स्मरण रखना चाहिये कि यह शरीर मिट्टीमें मिल जायगा, इसकी खाक हो जायगी। अतः खाक होनेके पहले-पहले ही इस शरीरका सदुपयोग जगज्जनार्दनकी सेवामें कर लें, जिससे मानव-जन्म सफल हो जाय। जैसे ईश्वरकी सेवा करनेमें प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता सबकी सेवामें होनी चाहिये; क्योंकि सभी परमात्माके स्वरूप हैं या सभीमें परमात्मा विराजमान हैं। इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। इस निष्काम सेवा या स्वार्थत्यागपूर्वक की जानेवाली सेवाको ही निष्काम कर्म कहते हैं। इस निष्काम कर्मसे आत्मा बहुत ही शीघ्र पवित्र होता है और भगवान्‌में सच्चा प्रेम बढ़ता है। इसलिये हमारी सारी क्रियाएँ भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाली होनी चाहिये।

माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे अपने बालक-बालिकाओंके साथ उसी प्रकारका व्यवहार करें जिसमें उनका हित हो। उनका हित है विद्या-लाभमें और उत्तम आचरणोंमें; अतः उनको श्रेष्ठ विद्या और उत्तम आचरणोंकी शिक्षा देनी चाहिये। माता-पिता सदाचारी होते हैं तो बालक भी सदाचारी होते हैं। बालकोंके सामने बड़ी सावधानीसे क्रियाके रूपमें सदाचार रखना चाहिये, तभी उनपर असर पड़ता है। आप झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार करेंगे और उनसे कहेंगे कि सत्य बोलो, अहिंसाका पालन करो, चोरी मत करो, ब्रह्मचर्य रक्खो तो इस कथनमात्रका कुछ भी असर नहीं होगा।

इसलिये उनके सामने उत्तम आदर्श रखकर उनको उसी प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये।

विधवा माताओंको चाहिये कि वे अपने जीवनको सर्वथा पवित्र, वैराग्यमय और त्यागयुक्त बनायें। ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी, हास-विलासका सर्वथा त्याग कर दें। जीवनको तपस्यामय बना लें। मन-इन्द्रियोंका संयम रक्खें। जो स्त्रियाँ ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी आदिमें रत हैं, उनका दर्शन भी न करें। उनके पास न बैठें। समझना चाहिये कि वे विषयभोगरूपी कीचड़में फँसी हुई हैं और अपने अमूल्य जीवनको नष्ट कर रही हैं। उनका सङ्ग करके अपने जीवनको नष्ट नहीं करना चाहिये। भगवान्का भजन-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना करनेमें अपना समय बिताना और निष्कामभावसे लोगोंकी शास्त्रोक्त सेवा करनी चाहिये। शरीरसे हर समय उत्तम-से-उत्तम काम लेना चाहिये।

सुहागिन माताओंका यह कर्तव्य है कि वे उन विधवा माताओंकी निःस्वार्थ भावसे सेवा करें, उनको सच्चे हृदयसे सुख पहुँचावें। विधवा माँ-बहिनको जो दुःख देता है, वह स्त्री हो या पुरुष, उसका इस लोकमें पतन होता है, निन्दा होती है और मरनेपर उसे घोर नरककी प्राप्ति होती है।

विवाह-शादी आदि राजसी कामोंमें विधवा माताओंको स्वयं ही नहीं जाना चाहिये। राजसी उत्सव-समारोहोंसे, नृत्य-गान-वाद्यादिसे दूर ही रहना चाहिये। धार्मिक विषय हो, भक्तिकी बात हो या सत्सङ्ग हो तो उसमें जानेमें कोई दोषकी बात नहीं है,

बल्कि लाभ ही है; किंतु यदि कहीं बाहर जाना हो तो चाहे वह धार्मिक काम ही क्यों न हो, अपने ससुराल या पीहरवालोंके साथ जाना चाहिये, अकेली नहीं। जो स्त्री अकेली घरसे बाहर निकलकर इधर-उधर भटकती है, उसका पतन होनेका भय है। इसलिये स्त्रियोंको कभी स्वतन्त्र नहीं घूमना चाहिये। मनुजी कहते हैं—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५। १४८)

'बाल्यावस्थामें वह पिताके अधीन रहे, युवावस्थामें पतिके वशमें रहे और यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो (बालिग) पुत्रोंके अधीन रहे। उनके (अभावमें ससुरालवालोंके अधीन होकर रहे); तात्पर्य यह कि स्त्री कभी स्वच्छन्दताका आश्रय न ले।'

स्मरण करना चाहिये कि मालिक जो पाप करता है, वह उसके अधीन रहनेवालेको नहीं लगता। जैसे कोई पति पाप करता है तो उसका फल पत्नीको नहीं भोगना पड़ता; क्योंकि वह पतिके अधीन है। किंतु स्त्री जो पाप करती है, उसका आधा भाग उसके पतिको भोगना पड़ता है; क्योंकि पति शासक है। पुरुष जो पुण्य करता है, उसका आधा स्त्रीको मिलता है; किंतु जो स्त्री पतिके अधीन नहीं रहती, उसको नहीं। जो स्त्री पतिकी सेवा करती है, पतिका साथ देती है, उसी पतिव्रताको आधा पुण्य मिलता है।

अतएव सुहागिन माता-बहिनोंको पातिव्रत-धर्मके पालनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

परम सेवासे कल्याण

संसारके प्रायः सभी प्राणी दुःखमें निमग्न हैं। दुःखके दो भेद हैं—(१) लौकिक और (२) पारलौकिक। लौकिक दुःख भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि प्राणियोंके द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, वह 'आधिभौतिक' दुःख है। वायु, अग्नि, जल, वृष्टि, देश, काल, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा आदिके अभिमानी देवताओंद्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, वह 'आधिदैविक' दुःख है। 'आध्यात्मिक' दुःख दो प्रकारका होता है—(१) आधि एवं (२) व्याधि। आधिके भी दो भेद हैं—(१) मन-बुद्धिमें पागलपन, मृगी, उन्माद, हिस्टीरिया आदि रोग तथा (२) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष, ईर्ष्या-भय, छल-कपट, अहंता-ममता आदि आध्यात्मिकविषयक हानि करनेवाले दुर्गुण। इन सबको तथा इसी प्रकारके अन्य मानसिक रोगोंको 'आधि' कहा जाता है। शरीर और इन्द्रियोंमें होनेवाले रोगोंको 'व्याधि' कहते हैं। एवं पारलौकिक दुःख है—मरनेके बाद परलोकमें या पुनः इस लोकमें आकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करना। इन सभी प्रकारके दुःखोंका सर्वथा अभाव परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उपर्युक्त सभी दुःखोंका अत्यन्त अभाव होकर सदाके लिये परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

यद्यपि परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके शरीरमें भी प्रारब्धके कारण उपर्युक्त दुःखोंकी प्राप्ति लोगोंके देखनेमें आ सकती है, तथापि वास्तवमें उसकी आत्मा सब दुःखोंसे रहित ही है। उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। एवं शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणके साथ उसकी आत्माका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता; अतः उसके प्रारब्धसे होनेवाले शरीर-सम्बन्धी दुःखोंका होना कोई मूल्य नहीं रखता।

वह परमात्माका यथार्थ ज्ञान ईश्वरकी भक्ति, सत्पुरुषोंके सङ्ग, गीतादि शास्त्रोंके स्वाध्याय, निष्काम कर्म, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदिके साधनसे होता है। इनमेंसे ईश्वर-भक्तिपूर्वक निष्काम कर्मका कुछ विषय नीचे बतलाया जाता है।

श्रीभगवान् सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें विराजमान हैं। इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की सेवा है। गीता कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको पा लेता है।'

उपर्युक्त सेवा सिद्ध पुरुषोंके द्वारा तो स्वाभाविक ही होती रहती है। साधकके लिये सिद्ध पुरुषके गुण और आचरण ही अनुकरणीय हैं। अतः साधकको उनके गुण और आचरणोंका

लक्ष्य रखकर उन अनुकरणीय सिद्ध पुरुषोंके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसे सिद्ध प्रेमी भक्तोंके लक्षण भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बतलाये हैं तथा उनके अनुसार चलनेवाले भक्तको भगवान्‌ने अपना 'प्रियतर' कहा है--

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(१२। २०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

अतः सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उनके नाम-रूपको याद रखते हुए निष्कामभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। उस सेवाके दो रूप होते हैं—(१) सेवा और (२) परम सेवा।

भूकम्प, बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड आदिसे कष्ट प्राप्त होने या रोग आदिसे ग्रस्त होने अथवा अन्य किसी कष्टके कारण जो दुखी, अनाथ और आर्त हो रहे हैं, उन स्त्री-पुरुषोंका दुःख निवृत्त करनेका और उनको सुख पहुँचानेका नाम 'सेवा' है। इस लौकिक सेवाके अनेक प्रकार हैं, जैसे—

(१) कोई बीमार--आतुर व्यक्ति जो सड़कपर पड़ा है, जिसके पास खाने-पीनेको भी कुछ नहीं है, वस्त्र भी नहीं है और स्थान भी नहीं है तथा न दवा और पथ्यका साधन ही है ऐसे व्यक्तिको अस्पतालमें भर्ती करवाकर या कहीं भी रखकर अन्न-वस्त्र

और दवा, चिकित्सा, पथ्य आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना अथवा करवा देना। इस प्रकार धनहीन गरीब अनाथ बीमारोंकी सेवा करना बहुत ही उत्तम है। अतः प्रत्येक भाईको यह सेवा-कार्य करना चाहिये। धर्मार्थ चिकित्सा-संस्थाओंमें काम करनेवाले एवं निष्काम वैद्योंको ऐसा नियम रखना चाहिये कि बीमार आदमियोंसे संस्थामें तो फीस लें ही नहीं; घरपर जाकर भी फीस न लें।

(२) किसी अग्निकाण्ड या बाढ़के कारण जिसका घर-द्वार जल गया या बह गया हो और जिसके खाने-पीने-पहननेका कोई प्रबन्ध न हो, उसका प्रबन्ध स्वयं कर देना या दूसरोंसे करवा देना।

(३) भूकम्पके कारण जिनके मकान और सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी हो, स्त्री-बाल-बच्चे दबकर मर गये हों, या स्त्रियाँ एवं बाल-बच्चे बिना स्वामीके हो गये हों, उनके खान-पान और रहने आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना या करवा देना।

(४) जिनके न माता-पिता हैं, न कोई अन्य अभिभावक हैं, ऐसे नाबालिग लड़के-लड़कियोंको अनाथालयमें या और कहीं रखकर उनके खान-पान और पढ़ाई आदिकी व्यवस्था कर देना।

(५) गरीबीके कारण यदि कोई अपनी कन्याका विवाह करनेमें असमर्थ हो तो उसे अपनी शक्तिके अनुसार सहायता देना या दिलवाना।

(६) किसी विधवा स्त्रीके खाने, पीने, पहनने आदिकी व्यवस्था न हो तो उसके खान-पान आदिकी व्यवस्था कर देना या करवा देना।

आजकल गरीब घरोंकी विधवा माता-बहिनोंको तो खान-पान और जीवन-निर्वाहका कष्ट है ही, बहुत-सी धनी घरोंकी विधवा स्त्रियोंका भी ससुराल या नैहरमें आदर नहीं है। घरवालोंका उनके प्रति सेवाभाव न होनेके कारण उनको वे भाररूप प्रतीत होती हैं। इसलिये उनका सभी जगह तिरस्कार होता है। उन विधवाओंके पास जो भी गहना या नकद रुपया होता है, उसे यदि वे ससुराल या नैहरमें जमा करा देती हैं तो कोई-कोई तो उनके रुपयों और गहनोंको हड़प ही जाते हैं। यह परिस्थिति कई जगह देखी जाती है। इसलिये माता-बहिनोंको अपना गहना बेचकर रुपया बैंकमें जमा रखना चाहिये या अच्छे डिबेंचर ले लेने चाहिये चाहे उनका ब्याज कम ही मिले।

विधवा माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि उनको अपना जीवन विरक्त पुरुषोंकी भाँति ज्ञान-वैराग्य-सदाचारमें और भजन-ध्यान आदि ईश्वरकी भक्तिमें तथा मन-इन्द्रियोंके संयमरूप तपमें बिताना चाहिये एवं नैहर और ससुरालमें सबकी निष्काम सेवा करना—जैसे घरमें रसोई बनाना, सीने-पिरोने आदिका काम करना उनके लिये परम उपयोगी है। घरका काम-धंधा किये बिना भोजन करना अनुचित है। इस प्रकार निष्काम सेवाभावसे कार्य करनेपर अन्तःकरण भी शुद्ध होता है और नैहर तथा ससुरालके लोग भी प्रसन्न रहते हैं। विधवाओंके लिये प्रधान बात है—प्रातःकाल और सायंकाल एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान और स्वाध्याय आदि करना तथा शयनके समय भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते हुए सोना

एवं काम करते समय भी उस कामको भगवान्‌का काम सम
हुए निःस्वार्थ भावसे हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए
भगवत्प्रीत्यर्थ काम करनेका अभ्यास डालना । भगवान्‌ने गी
कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(८।७

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण क
और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धि
युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

इसी प्रकार अन्य स्त्री-पुरुषोंको भी विधवा माता-बहिनोंके सा
उत्तम व्यवहार एवं उनकी सेवा करनी चाहिये; क्योंकि अपने धर्म
पालन करनेवाली विधवा स्त्रीकी सेवा दुखी, अनाथ, आतुर औ
गायकी सेवासे भी बढ़कर है । इसके विपरीत उसको कष्ट देना
महान् हानिकर है, क्योंकि दुखी विधवा स्त्रीकी दुराशिष खतरना
होती है ।

इसी तरह और भी जो किसी भी कारणसे दुखी हैं, उनक
दुःख दूर करनेका प्रयत्न करना ।

(७) गाय, बैल, साँड़ आदि जो मूक पशु चारा, पानी
स्थान आदिके अभावमें दुखी हों या रोगी और वृद्ध हो जाने
कारण जिनका पालन उनका स्वामी नहीं कर रहा हो, उनक
प्रबन्ध करना ।

इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जीवमात्रकी सेवा और रक्षा करना, उनको दुःखसे बचाकर सुख पहुँचाना—यह सब 'लौकिक सेवा' है।

यह 'लौकिक सेवा' भी अभिमान और स्वार्थका त्याग करके भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे करनेपर कर्ताके लिये 'परम सेवा' के रूपमें परिणत हो जाती है।

'परम सेवा' वह है, जो नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकते हुए मनुष्यको सदाके लिये सभी दुःखोंसे रहित करके परमात्माकी प्राप्ति करा देती है। भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके द्वारा तो यह सेवा स्वाभाविक होती रहती है, साधक पुरुष भी उन महापुरुषोंके द्वारा स्वाभाविक होनेवाली परम सेवाको साधन मानकर कर सकता है। यद्यपि किसी भी मनुष्यका कल्याण करनेकी सामर्थ्य साधकोंमें नहीं होती, फिर भी सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की आज्ञा, दया और प्रेरणाका आश्रय लेकर, कर्तापनके अभिमानसे रहित हो वह 'परम सेवा' में निमित्त तो बन ही सकता है।

इस 'परम सेवा' के भी कई प्रकार हैं। जैसे—

(१) संसारमें भटकते हुए मनुष्योंको जन्म-मरणसे रहित होनेके लिये शास्त्रके या महापुरुषोंके वचनोंके आधारपर ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदिकी शिक्षा देना।

(२) जो मरणासन्न मनुष्य गीता, रामायण आदि या भगवन्नाम सुनना चाहता हो, उसे वह सब सुनाना।

यह कार्य यज्ञ-दान, तप-सेवा, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्स स्वाध्यायकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वकी चीज है; क्योंकि ये साधन तो हम दूसरे समय भी कर सकते हैं; किंतु जो मरणा है, उसे भगवद्विषयक बातें सुनानेका काम उसके मरनेके बाद हो नहीं सकता। किसी मरणासन्न मनुष्यको जप-ध्यान, पूजा-पा सत्सङ्ग-स्वाध्याय आदि करानेसे उसका मन यदि भगवान्‌में लग तो उसका कल्याण उसी समय हो सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गीता ८ ।

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हु शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त हो है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

अतः इस प्रकार प्रयत्न करते-करते यदि एक मनुष्यका कल्याण हमारे द्वारा हो गया तो हमारा यह जन्म सफल हो ग क्योंकि मनुष्यका जन्म आत्माका कल्याण करनेके लिये ही है हम अपना कल्याण नहीं कर सके, किंतु हमारेद्वारा किसी मनुष्यका भी कल्याण हो गया तो हमारा भी यह जीवन सफल गया। हम भगवान्‌से कुछ भी नहीं माँगेंगे, तो भी भगवान् ह कल्याण ही करेंगे; क्योंकि हम यह कार्य अभिमान, स्वार्थ अहंकारसे रहित होकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे कर हैं। यदि हमारा बार-बार जन्म हो और हमें भगवान् यह सौंपें तो हमारे लिये यह मुक्तिसे भी बढ़कर होगा। इसलिये

मौका प्राप्त हो जाय तो उसे नहीं छोड़ना चाहिये। लाख काम छोड़कर यह काम सबसे पहले करना चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके अत्यन्त आतुर मनुष्यकी परम सेवासे बढ़कर मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।

(३) गीता, रामायण, भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थ; 'कल्याण', 'कल्याण-कल्पतरु', 'महाभारत' आदि धार्मिक मासिक पत्र तथा महापुरुषोंके लेख, व्याख्यान, जीवनचरित्र या उनके दिये हुए उपदेश-आदेशमय प्रवचन इत्यादि आध्यात्मिक पुस्तकोंको विवाह-द्विरागमन आदि अवसरोंपर देना-दिलाना; साधु-महात्मा, विद्यार्थी आदिको देना-दिलाना अथवा उचित मूल्यपर या बिना मूल्य लोकहितार्थ वितरण करना-कराना; ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, हाईस्कूल, कालेज, विद्यालय, पाठशाला, जेलखाना, अस्पताल और आयुर्वेदिक चिकित्सालय आदिमें उपर्युक्त आध्यात्मिक पुस्तकोंको मूल्य लेकर या बिना मूल्य वितरण करना-करवाना; दूकान खोलकर या लारियोंद्वारा, ठेलोंद्वारा या स्वयं झोलेमें लेकर शहरों, गाँवों और बाहरी बस्तियोंमें अथवा मेला आदिमें उनका प्रचार करना—यह भी एक परमार्थ-विषयकी सेवा है। यह भी यदि अभिमान और स्वार्थका त्याग करके निष्काम भावसे भगवत्प्रीत्यर्थ की जाय तो 'परम सेवा' में परिणत हो जाती है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इस प्रचार-कार्यको अपने कल्याणके—परमात्माकी प्राप्तिके साधनका रूप देकर बड़ी तत्परता और उत्साहके साथ करना चाहिये।

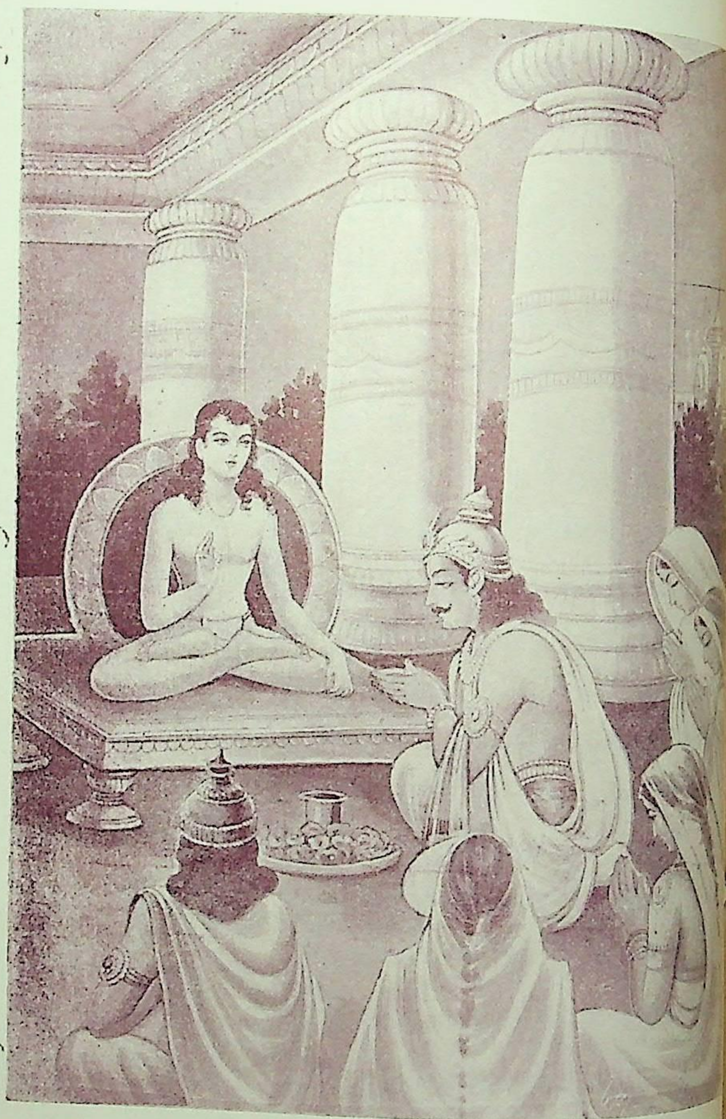
लोकसंग्रहरूप आदर्श कर्मका तत्त्व-रहस्य

श्रीभगवान् और भगवत्प्राप्त पुरुषोंके कर्म अलौकिक औ दिव्य होते हैं। उनके कर्मोंका रहस्य समझना चाहिये। उनके लिये न तो कोई कर्तव्य ही है और न कुछ प्राप्तव्य ही। उनकी सारी चेष्टाएँ केवल संसारके कल्याणके लिये ही होती हैं। अ उनकी प्रत्येक क्रियामें दिव्य अलौकिकता झलकती है। उ क्रियाओंमें न तो कर्तापन ही है और न कर्म तथा उनके फल ममता, आसक्ति और कामना ही है। अतः उनका अनुकर करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसमें तो कहना ही क है, उनकी क्रियाओंके रहस्यको समझनेपर ही मनुष्यके चित्त प्रतिक्षण प्रसन्नता और शान्ति होती रहती है। भगवान् औ भगवत्प्राप्त पुरुष कर्म करते नहीं, उनके द्वारा शास्त्रविहित क स्वाभाविक होते रहते हैं, इसीलिये उनकी क्रिया आदर्श मानी ग है। वही साधकके लिये साधन है। जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे महात्माओंके विषयमें भगवान् कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करने कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोज रहता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'



राजा जनकके द्वारा श्रीशुकदेवजीका पूजन

यद्यपि संसारमें उन महापुरुषोंके लिये कोई भी कर्म न तो उपादेय है और न हेय, फिर भी संसारके हितके लिये उनकी क्रिया शास्त्रके अनुकूल ही होती है, शास्त्रके विरुद्ध तो होती ही नहीं। उनके द्वारा जो शास्त्रानुकूल क्रिया होती है, वह आसक्ति (राग) वश नहीं, स्वाभाविक ही होती है। तथा उनके द्वारा जो शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग होता है, वह भी द्वेषबुद्धिसे नहीं, उनके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध कर्म स्वाभाविक ही नहीं होते (गीता १८। १०)। अहंता, ममता और स्वार्थका अभाव होनेके कारण उनकी सारी क्रियाएँ परम शुद्ध, अलौकिक और अनुकरणीय होती हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर पवित्र तथा अलौकिक हो जाते हैं, अतः उनके संसर्गके कारण भूमि आदि जड पदार्थ और प्राणी पवित्र हो जाते हैं। शास्त्रमें बतलाया गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा भाग्यवती च तेन॥
विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं
लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः।

(स्कन्द० माहे० कौमा० ५२। १३७ का उत्तरार्ध, १३८ का पूर्वार्ध)

'जिसका चित्त मुक्तिके मार्गस्वरूप आनन्दके समुद्र परब्रह्ममें तल्लीन एवं मग्न है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और यह पृथ्वी उसके कारण भाग्यवती हो जाती है।'

ऐसे महापुरुषके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। भगवान्‌ने उत्तरगीतामें बतलाया है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥
(१।२३)

'जो योगी ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त और कृतकृत्य हो चुका है, उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यदि कुछ कर्तव्य शेष है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है।'

इसी प्रकार भगवत्प्राप्त पुरुषके लिये कोई भी प्राप्तव्य वस्तु नहीं रहती; क्योंकि प्राप्त करने योग्य सच्चिदानन्दघन परमात्माकी उन्हें प्राप्ति हो चुकी है, अतः उनकी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ समाप्त हो चुकी हैं। वे आप्तकाम हैं। उनमें कामनाओंका अत्यन्त अभाव है। इसलिये उनका किसी भी कर्म, प्राणी या पदार्थमें किंचिन्मात्र भी प्रयोजन नहीं रहता। उनकी स्थिति परब्रह्म परमात्मामें होनेके कारण उनका अपने देहसे भी कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वे विज्ञानानन्दघन परमात्मामें नित्यतृप्त और संतुष्ट हैं, इसलिये न तो उनके लिये कोई कर्तव्य है और न प्राप्तव्य ही। किंतु जिसकी ऐसी स्थिति नहीं है, उस कल्याणकामी पुरुषको अहंता-ममतासे रहित होकर शास्त्रविहित कर्मोंका अनासक्तभावसे आचरण करना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गीता ३।१९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्म-

को भलीभाँति करता रहा; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

अतः अपना उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद और काम्यकर्मका सर्वथा परित्याग करके गीता अ० १६ श्लोक १ से ३ तकमें वर्णित उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंके संग्रहरूप कल्याणकारिणी दैवी सम्पदाका सेवन करना चाहिये तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा होनेवाली किसी भी क्रियामें ममता और आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। सदा अनासक्तभावसे वर्णाश्रमके अनुसार कर्तव्यकर्मका पालन करनेवाले पुरुषको अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, उनके द्वारा स्वाभाविक ही लोकसंग्रहके लिये कर्म होते रहते हैं। वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित सामान्य और विशेष कर्मोंका त्याग शास्त्रमें किसी भी हालतमें नहीं बतलाया गया है, वरं साधकके लिये उनको सावधानीपूर्वक करनेका शास्त्रमें विधान है एवं सिद्धके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी उसके द्वारा सावधानीपूर्वक लोकहितके वैध कर्म होते रहते हैं, जैसे राजा जनक, अश्वपति आदि अनेक महापुरुषोंके द्वारा कर्म हुए थे। भगवान्ने गीतामें कहा है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥

(३। २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम

सिद्धिको प्राप्त हुए थे, इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।

राजा जनक बहुत उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा पुरुष थे। मुनिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजीने भी उनके पास जाकर उनसे शिक्षा ग्रहण की थी। महाभारतके शान्तिपर्वमें बतलाया गया है कि एक बार श्रीशुकदेवजीने अपने पिता श्रीवेदव्यासजीसे मोक्ष-धर्मके विषयमें प्रश्न किया। श्रीवेदव्यासजीने उनको इसे जाननेके लिये जनकके पास जानेको कहा। तब वे मिथिला गये। नगरद्वारके पास पहुँचकर वे निःशंकभावसे ज्यों ही उसमें प्रवेश करने लगे, त्यों ही द्वारपालोंने उन्हें डाँटकर भीतर जानेसे रोक दिया। श्रीशुकदेवजी वहीं खड़े हो गये। उनके मनमें किसी प्रकारका क्षोभ नहीं हुआ। उस समय एक द्वारपालको अपने व्यवहारपर पश्चात्ताप हुआ। उसने मुनिको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उन्हें राजभवनकी दूसरी ड्योढ़ीमें पहुँचा दिया। वहाँ वे एक जगह बैठकर मोक्षतत्त्वका ही चिन्तन करने लगे। धूप और छाया दोनोंमें उनकी समान दृष्टि थी। फिर राजमन्त्रीने उनको तीसरी ड्योढ़ीमें ले जाकर प्रमदावनमें पहुँचा दिया। तब उनके पास पचास स्त्रियाँ जो वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत, परम सुन्दरी और नवयुवती थीं, आयीं और उन्होंने श्रीशुकदेवजीका पूजन किया तथा उन्हें स्वादिष्ट अन्नका भोजन कराया। तत्पश्चात् वे उनको प्रमदावनकी सैर कराने लगीं। उस समय वे हँसती, गाती और नाना प्रकारकी सुन्दर क्रीडाएँ करती थीं। मनके भावको जाननेवाली वे सुन्दरियाँ श्रीशुकदेवजीकी

सब प्रकारसे सेवा करने लगीं; किंतु श्रीशुकदेवजीका अन्तःकरण पूर्णतया शुद्ध था। वे इन्द्रियोंपर और क्रोधपर विजय पा चुके थे। उन्हें न हर्ष होता था न क्षोभ ही। वे संशयरहित थे और सदा कर्तव्यपालनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने सायंकालके समय हाथ-पैर धोकर संध्योपासना की। उसके बाद पवित्र आसनपर बैठकर वे मोक्षतत्त्वका ही विचार करने लगे। रात्रिके पहले पहरमें वे ध्यानस्थ ही बैठे रहे। रात्रिके दूसरे-तीसरे पहरमें उन्होंने यथोचित निद्रा ली, जब दो घड़ी रात शेष रही तभी वे उठ गये और शौच-स्नानके अनन्तर परमात्माके ध्यानमें ही निमग्न हो गये। उस समय भी वे सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं।

तदनन्तर मन्त्रियोंसहित राजा जनक श्रीशुकदेवजीके पास आये। उनको उस अवस्थामें देखकर उन्होंने उनका विधिपूर्वक पूजन किया। श्रीशुकदेवजीने राजासे कुशल-समाचार पूछा। राजाके द्वारा उनके आगमनका कारण पूछे जानेपर उन्होंने मोक्षके विषयमें प्रश्न किये। उनका राजाने यथोचित उत्तर देकर अन्तमें यही कहा—'ब्रह्मन्! आपको विवेक प्राप्त हो चुका है, आपकी बुद्धि भी स्थिर है और आपमें विषय-लोलुपताका सर्वथा अभाव है। परंतु विशुद्ध दृढ़ निश्चयके बिना कोई परमात्मभावको प्राप्त नहीं होता है। आप सुख-दुःखमें कोई अन्तर नहीं समझते। आपके मनमें लोभ नहीं है। नृत्य और गीतमें आपकी उत्कण्ठा नहीं है। किसी भी विषयके प्रति आपके मनमें राग उत्पन्न नहीं होता है। आपके लिये मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक-से हैं, अतः मैं

तथा दूसरे बुद्धिमान् पुरुष भी आपको उस अक्षय एवं अनाम परम मार्ग मोक्षमें स्थित मानते हैं । जो मोक्षका स्वरूप है, उसी आपकी स्थिति है । अब आप और क्या पूछना चाहते हैं ?'

राजा जनकका कथन सुनकर विशुद्ध अन्तःकरण श्रीशुकदेवजी एक दृढ निश्चयपर पहुँच गये और बुद्धिके द्वा आत्मामें स्थित होकर स्वयं अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार क परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो कृत हो गये एवं वहाँसे लौट आये । (देखिये महा० शान्ति० अ ३२५ से ३२७ तक)

इस आख्यानमें ज्ञानी महात्मा जनककी स्वागत-सत्कार कर प्रश्नोंके उत्तर देना आदि शास्त्रविहित कर्तव्य-पालनरूप क सावधानी एवं परम विरक्त श्रीशुकदेवजीकी शौच-स्नान, संध्योपासन कर्मोंमें तत्परता हमें लोकसंग्रहार्थ कर्मका लक्ष्य कराती है ।

इसी प्रकार राजा अश्वपतिके पास बड़े भारी कुटुम्बी औ परम श्रोत्रिय प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल उद्दालक—ये छः ऋषि ज्ञान प्राप्त करनेके लिये गये थे । रा उनका बहुत सत्कार किया और कहा—'मेरे राज्यमें न तो च चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मद्य पीनेवाला है, न परस्त्रीगामी हैं; फिर कुलटा स्त्री तो होगी ही कैसे ?* किंतु

---

* न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥
(छान्दोग्य० अ० ५ खं० ११ मं०

अग्निहोत्री और विद्वान् हैं। मैं यज्ञ करनेवाला हूँ। मैं उसमें प्रत्येक ऋत्विग्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपको भी दूँगा। आप यहाँ ठहरिये।' इसपर उन्होंने कहा—'हम तो वैश्वानर परमात्माके तत्त्वको जाननेके लिये आये हैं।' यह सुनकर राजाने सबको पृथक्-पृथक् ज्ञानका उपदेश दिया। वे सब ज्ञान प्राप्तकर अपने-अपने स्थानको लौट गये।

इन महापुरुषोंकी क्रियाएँ लोकसंग्रहके लिये ही थीं। गीतामें भी अर्जुनके प्रति भगवान् लोकसंग्रहको ही लक्ष्य करके कहते हैं। ऐसे लोकसंग्रहार्थ कर्म ज्ञानी पुरुषके द्वारा तो स्वाभाविक होते ही हैं, साधक भी उनको आदर्श मानकर उनका अनुकरण कर सकता है। लोकसंग्रह शब्दका अर्थ है लोगोंको इकट्ठा करना। भाव यह है कि संसारमें लोग जो नाना प्रकारके मत-मतान्तरोंको मानकर परमात्मासे विमुख और छिन्न-भिन्न हो रहे हैं, उन सबको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें लगाना, लोगोंके कल्याणके उद्देश्यसे उनको कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगाना और शास्त्रविहित कर्मोंको अनासक्तभावसे स्वयं करते हुए उनसे आदर्श कर्म करवाना, यही लोकसंग्रह है; क्योंकि जिस मार्गसे महापुरुष चलते हैं, वही मार्ग असली मार्ग है। महाभारतमें यक्षके प्रश्नका उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिरने कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
(महा० वन० ३१३। ११७)

'तर्ककी कहीं प्रतिष्ठा नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं

और कोई एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण मान लिया जाय। धर्मका तत्त्व गुफामें छिपा हुआ--अत्यन्त गूढ़ है, अतः जिस मार्गसे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग वास्तविक मार्ग है।

इसीलिये अपना उद्धार चाहनेवाले मनुष्य महापुरुषोंका अनुकरण करते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो भी आचरण करता है, अन्य मनुष्य-समुदाय भी वैसा-वैसा ही आचरण करता है। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

लाखों-करोड़ों मनुष्योंमें कोई एक ही परमात्माको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष होता है (गीता ७।३)। उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके कर्मोंमें स्वार्थ, आसक्ति, ममता और अभिमानका अभाव होनेके कारण उनके कर्म पवित्र और अलौकिक होते हैं, जिससे दूसरे पुरुषोंपर उनका प्रभाव पड़ता है। पद-पदपर उन कर्मोंकी विलक्षणता देखकर लोग आकर्षित होते हैं एवं उनका अनुकरण करके अपने परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये साधनमें तत्पर हो जाते हैं। उन महापुरुषोंके कर्मोंमें कहीं दिखाऊपन नहीं होता। उनके वचन भी सत्य, प्रिय, हितकर और प्रामाणिक होते हैं। अतः उनके वचनोंकी कोई अवहेलना नहीं करता। उन महात्मा पुरुषोंके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, आचरण, वाणी--सभी पवित्र और

विलक्षण होते हैं; इसलिये उनके आज्ञापालन, सेवा, नमस्कार और वार्तालाप करनेसे मनुष्य ज्ञानको प्राप्त करके मुक्त हो जाता है (गीता ४ । ३४-३५)। ज्ञानी महात्माके कर्म अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और देश-कालके अनुसार होते हैं; किंतु वे सभी वर्ण और आश्रमके मनुष्योंके कर्तव्यकर्मोंको स्वयं करके नहीं दिखला सकते हैं। अतः वे कल्याणकामी साधकोंको उनके वर्ण, आश्रम, स्वभाव और देश-कालके अनुसार उनके कर्तव्यकर्मोंको वाणीद्वारा ही बतलाया करते हैं, इसलिये उनकी आज्ञाका पालन करनेसे मनुष्य संसारसागरसे पार हो जाता है (गीता १३ । २५)।

ज्ञानी पुरुषके द्वारा शास्त्रविहित कर्मोंकी अवहेलना या त्याग नहीं होता, फिर शास्त्रविपरीत कर्म तो उनके द्वारा हो ही कैसे सकते हैं? क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो लोग भ्रष्टाचारी होकर नष्ट हो सकते हैं; किंतु महापुरुषोंकी क्रिया श्रद्धा-विश्वासपूर्वक होती हुई देखकर कोई भी मनुष्य पथभ्रष्ट नहीं हो सकता, बल्कि लोग उनके शुभ आचरणोंको देखकर उनके अनुसार सावधानीके साथ निःस्वार्थभावसे कर्म करनेमें तत्पर हो जाते हैं।

अबतक भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके कर्मोंकी पवित्रता, दिव्यता और अलौकिकता एवं उनके लिये कर्तव्य तथा प्राप्तव्यका अभाव बतलाया गया। अब भगवान्‌के विषयमें बतलाया जाता है। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
(३ । २२)

'अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है तो भी मैं शास्त्रविहित कर्ममें ही बरतता हूँ ।'

भगवान् तीनों लोकोंके रचयिता, व्यापक और संरक्षक होनेपर भी उनमें कर्तव्यका अभाव है (गीता ४ । १३) । जब मुक्त पुरुषके लिये ही कोई कर्तव्य नहीं है—'तस्य कार्यं न विद्यते' (गीता ३ । १७) तब भगवान् तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वरूप और सबके कर्तव्यका विधान करनेवाले हैं । उनके लिये तो कोई कर्तव्य हो ही कैसे सकता है । मुक्त पुरुष तो इस मर्त्यलोकमें ही निवास करता है, इसलिये यहाँ उसका कोई कर्तव्य नहीं है; किंतु भगवान् तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं । वे समस्त लोकोंमें समभावसे सदा निवास करते हैं, इसीलिये भगवान्‌ने यह बात कही कि मेरा तीनों लोकोंमें कहीं किंचिन्मात्र भी कर्तव्य नहीं है । इसी प्रकार प्राप्तव्यके विषयमें समझ लेना चाहिये । मुमुक्षु पुरुषको तो जीवन्मुक्त पद प्राप्त करना है किंतु जीवन्मुक्तको तो कुछ भी नहीं प्राप्त करना है; क्योंकि वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य प्राप्त है । तथा भगवान् तो सदा ही आप्तकाम और नित्यमुक्त हैं, सब कुछ उन्हें प्राप्त ही है; सब कुछ उनका ही है । जब उनके लिये कोई अप्राप्त वस्तु ही नहीं, तब फिर उनको कुछ भी प्राप्त करना है ही नहीं ।

इस प्रकार भगवान्‌के लिये कर्तव्य और प्राप्तव्यका अत्यन्त अभाव है, फिर भी वे हेतुरहित परम दयालु और परम प्रेमी होनेके

कारण सबके कल्याणके उद्देश्यसे उनको उन्मार्गसे बचाने और सन्मार्गमें लगानेके लिये शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करके उनके सामने आदर्श रखते हैं। भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें अहंता, ममता, आसक्ति और स्वार्थका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनके कर्म संसारका कल्याण करनेवाले परम शुद्ध, दिव्य, अलौकिक और लीलामय हैं। अतः भगवान्‌के कर्मोंका अनुकरण करनेसे और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कल्याण हो जाता है इसमें तो कहना ही क्या है। श्रद्धा और प्रेमसे उनके चरित्रोंको देख-देखकर ही मनुष्य परम पवित्र हो परमपदका अधिकारी बन जाता है। इसलिये साधक और सिद्ध सभी मनुष्योंको लोकहितके लिये लोक-संग्रहार्थ कर्मोंका निःस्वार्थभावसे आचरण करना चाहिये। जब कर्तव्य और प्राप्तव्यका अभाव होनेपर भी स्वयं भगवान् ही कर्म करते हैं तो दूसरोंकी तो बात ही क्या है? भगवान् हम लोगोंमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्म करके शास्त्रोंको आदर देते हुए उनको प्रमाणित करते हैं। उनके कर्मोंमें अत्यन्त विलक्षणता, अलौकिकता और माधुर्य भरा रहता है, इस कारण भगवान्‌के चरित्रको देखकर लोग आकर्षित हो जाते हैं और बड़े उत्साहसे कर्म करने लग जाते हैं। इससे धर्मकी स्थापना होती है जो भगवान्‌के अवतार लेनेका एक प्रधान कारण है। यदि मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् मर्यादाकी स्थापना करके स्वयं उस मर्यादामें न चलें तो बड़ी हानि होती है, इससे सृष्टिचक्रमें बड़ी भारी गड़बड़ी मच सकती है। भगवान् कहते हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

(गीता ३ । २३)

'पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बर्तूं तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ।'

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको बहुत-से मनुष्य तो साक्षात् भगवान् ही मानते थे और बहुत-से उनको उच्चकोटिके महापुरुष मानते थे । अतएव भगवान्‌के द्वारा कर्मोंका सुचारुरूपसे किया जाना संसारके लिये सभी प्रकारसे कल्याणकारक था । यदि भगवान् सावधान हुए सुचारुरूपसे कर्मोंका आचरण नहीं करते तो लोग कर्मोंको व्यर्थ समझकर कल्याणकारी कर्मोंकी अवहेलना कर देते; क्योंकि भगवान् या कोई महापुरुष जैसा आचरण करते हैं, उनके देखादेखी लोग भी वैसा ही करने लग जाते हैं । यदि किसी ज्ञानी पुरुषके द्वारा ज्ञानकी छठी, सातवीं भूमिकामें बाह्यज्ञानशून्य-से हो जानेके कारण सुचारुरूपसे कर्म नहीं होते या कोई संशयात्मा, अश्रद्धालु मनुष्य कर्मोंकी अवहेलना कर देता है अथवा कोई मूर्च्छा, तन्द्रा, हिस्टीरिया आदि आधि-व्याधिसे ग्रस्त मनुष्य कर्मोंकी अवहेलना कर देता है तो कोई भी मनुष्य उन सब कर्मोंका अनुकरण नहीं करता, इससे लोकमें कोई हानि नहीं होती; किंतु भगवान् तो इन दोषोंसे सदा ही सर्वथा रहित हैं और संसारको धर्मकी शिक्षा देनेके लिये ही उनका प्राकट्य होता है, अतएव

भगवान्‌का यह कथन है कि मैं सावधान हुआ शास्त्रविहित कल्याण-कारक कर्तव्य-कर्मका समीचीनरूपसे पालन न करूँ तो उस हालतमें मुझको भगवान् या श्रेष्ठ और आदर्श पुरुष माननेवाले मनुष्य कर्मोंको व्यर्थ समझकर त्याग देंगे, जिससे वे उन शास्त्रोक्त कल्याणमय कर्मोंके लाभसे वञ्चित रहकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे। भगवान् कहते हैं—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(गीता ३। २४)

'इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजा-को नष्ट करनेवाला बनूँ।'

अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के द्वारा यदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर दिया जाता है तो लोग कल्याणकारक कर्मोंको तो व्यर्थ समझकर त्याग बैठेंगे; किन्तु कोई भी मनुष्य कभी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। ऐसी हालतमें वे राग-द्वेष और स्वार्थपरायण मनुष्य स्वभावके वशीभूत हुए स्वार्थसिद्धिके लिये अनाचार-अत्याचार आदि पापमय तामसी कर्म करते हुए व्यर्थ प्रमादमें ही लग जायँगे। वे मनमाना आचरण करके भ्रष्टाचारमें प्रवृत्त हो जायँगे। ऐसा होनेपर वर्ण, आश्रम, जाति और समाजके विभिन्न धर्मोंमें संकरता यानी मिश्रण हो जाता है, मनुष्यत्वका नाश होकर लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं और सभी लोग स्वार्थपरायण हो एक दूसरेका विनाश करनेमें तत्पर और महान् पापाचार करनेमें लग जाते हैं, जिसके

फलस्वरूप लोकविनाशक भयंकर महामारी, अनावृष्टि, जलप्रलय, अकाल, भूकम्प आदि होकर लोगोंका विनाश होने लगता है। ये सब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होनेपर ही होते हैं। अतः भगवान् इस अव्यवस्थाको रोकनेके लिये ही अवतार लेते हैं और वास्तविक धर्मकी स्थापना करनेके लिये उत्तम-से-उत्तम आदर्श आचरण करके लोगोंको शिक्षा देते हैं।

ऊपर तीन श्लोकोंमें अपना उदाहरण देनेके बाद भगवान् जिन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, उनको भी अनासक्त भावसे कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(गीता ३। २५)

'अर्जुन ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

यहाँ ज्ञानीको अज्ञानीके कर्मोंका अनासक्तभावसे अनुकरण करनेकी बात कही गयी है। इसपर प्रश्न होता है कि वह अज्ञानी मनुष्य सात्त्विक है या राजसी या तामसी ? इसका उत्तर यह है कि वह सात्त्विक तो इसलिये नहीं है कि सात्त्विक कर्तामें तो आसक्तिका अभाव होता है; किन्तु यहाँ कर्मोंमें आसक्त पुरुषोंका वर्णन है; अतः वह सात्त्विक नहीं। तथा आसुरी प्रकृतिके तामसी अज्ञानी मनुष्योंकी क्रिया नरकमें ले जानेवाली होती है, इसलिये उनका अनुकरण विधेय नहीं होनेसे यहाँ तामसी अज्ञानीकी बात भी नहीं

है। अतः यहाँ तो उस सकामी राजसी पुरुषका कथन है जो शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये कर्म और उनके फलमें आसक्त श्रद्धालु पुरुष है; क्योंकि कर्मोंके फलमें श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण वह जिस प्रकार सुचारु-रूपसे शास्त्रविहित सकाम कर्मका अनुष्ठान करता है, दूसरा वैसा नहीं कर सकता; क्योंकि वह समझता है कि शास्त्रीय विधिमें और श्रद्धामें कमी होनेपर फल नहीं मिलेगा। ऐसे राजसी अविवेकी मनुष्यके द्वारा विधिपूर्वक होनेवाली क्रियाका अनुकरण करनेके लिये ही ज्ञानीको प्रेरणा की गयी है। इनमें प्रधान अन्तर यह है कि अज्ञानी तो कर्म करता है कर्म और उसके फलमें आसक्त होकर; किन्तु ज्ञानवान्‌की जो क्रिया होती है उसमें कर्म और कर्मफलकी आसक्तिका अत्यन्त अभाव है। अतः कल्याणकामी मनुष्यको उचित है कि ज्ञानी जो लोकसंग्रहके लिये अनासक्तभावसे कर्म करता है, उसके तो अनासक्त भावयुक्त शास्त्रोक्त कर्मका अनुकरण करे तथा इस लोक और परलोकके भोगोंकी इच्छावाले सकामी विषयासक्त श्रद्धालु मनुष्यके केवल शास्त्रविहित कर्मका ही अनुकरण करे; किंतु सकामीके भीतर जो भोगों और कर्मोंमें आसक्ति, ममता तथा कामना है, उसका अनुकरण न करे। भाव यह है कि ज्ञानी महात्मा पुरुषोंको भी लोकसंग्रहकी इच्छासे अनासक्तभावसे सकामी पुरुषकी क्रियाकी भाँति शास्त्रविहित वर्ण-आश्रमके कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

यहाँ ज्ञानीके लिये लोकसंग्रहकी इच्छा औपचारिक है। लोकमें प्रसिद्ध है कि जब कोई भी घटना होती तो उसके लिये लोग

कहते हैं—'भगवान्‌की जैसी इच्छा', किंतु वस्तुतः भगवान्‌में कोई इच्छा होती ही नहीं—यह तो केवल कथनमात्र है, समझाने लिये ही उनमें इच्छाका आरोप किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी महात्मा पुरुषमें भगवान्‌की भाँति इच्छा होती ही नहीं, केवल समझानेके लिये ही उसमें इच्छाका आरोप करके कहा जाता है; जैसे कहा जाता है कि नदीका तट गिरना चाहता है, किंतु नदी-तटमें कोई इच्छा है ही नहीं, केवल समझानेके लिये ही उसमें इच्छाका आरोप किया गया है। इसी तरह ज्ञानी महात्माके विषयमें समझना चाहिये; क्योंकि ज्ञानी महात्मा पुरुष कर्म न करे तो दूसरे सांसारिक विषयासक्त तथा साधक भ्रममें पड़कर कल्याणकारी शुभकर्मोंको भी व्यर्थ समझकर छोड़ सकते हैं और उनके लाभसे वञ्चित रह सकते हैं। इसलिये लोगोंको उनसे बचाकर कल्याणमार्गमें लगानेके उद्देश्यसे अनासक्तभावपूर्वक शास्त्र-विहित कर्मोंको स्वयं करने और दूसरोंसे करानेके लिये भगवान्‌ने प्रेरणा की है (गीता ३ । २६)।

अतएव लोककल्याणके लिये शास्त्रविहित कर्मोंको करनेसे परम लाभ है और न करनेसे महान् हानि है तथा जिनको न तो कुछ कर्तव्य है और न प्राप्तव्य ही है, ऐसे ज्ञानी महात्मा पुरुष और साक्षात् भगवान्‌के द्वारा होनेवाले कर्म परम दिव्य और अलौकिक तथा पवित्र हैं। इस प्रकार उनका तत्त्व-रहस्य समझकर हमें उनको आदर्श मानकर श्रद्धा-विश्वास और प्रेमपूर्वक, उत्साह और तत्परताके साथ निष्कामभावसे लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

प्रारब्ध और पुरुषार्थका रहस्य

कितने ही मनुष्य प्रारब्ध—भाग्यको प्रधान बताते हैं और कितने ही पुरुषार्थको। इस विषयमें हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। वास्तवमें अपने-अपने स्थानमें ये दोनों ही प्रधान हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारोंको पुरुषार्थ कहते हैं। इनमें धर्म, अर्थ, काम तो 'पुरुषार्थ' हैं और मोक्ष 'परम पुरुषार्थ' है। इन चारोंमेंसे धर्म और मोक्षके साधनमें पुरुषार्थ ही प्रधान है। इन दोनों-को जो मनुष्य प्रारब्धपर छोड़ देता है, वह इनके लाभसे वञ्चित रह जाता है, क्योंकि धर्म और मोक्षका साधन प्रयत्नसाध्य है, अपने आप सिद्ध होनेवाला नहीं है, किंतु अर्थ और कामकी सिद्धिमें प्रारब्ध प्रधान है, प्रयत्न तो उसमें निमित्तमात्र है।

प्राय: सभी मनुष्य अर्थके लिये महान् प्रयत्न करते हैं और उसके लिये पाप करनेमें भी नहीं हिचकते। फिर भी वे मनचाहा धन नहीं प्राप्त कर सकते; क्योंकि प्रारब्धके बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह जिनके पुत्र नहीं, वे पुत्रके लिये बहुत प्रयत्न करते हैं; किंतु सभीको पुत्र-लाभ नहीं होता, क्योंकि उसमें भाग्य प्रधान है।

ऊपर बतलाया गया कि मुक्ति और धर्मके पालनमें पुरुषार्थ प्रधान है। अब यह प्रश्न होता है कि पूर्वकृत कर्म यानी प्रारब्ध और संचित भी इनमें सहायक हैं या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि इनसे सहायता तो प्राप्त होती है, किंतु इनकी प्रधानता नहीं है। पूर्वमें निष्काम भावसे किये हुए कर्म और उपासनाके फलस्वरूप मनुष्यको संत-महात्माओंका सङ्ग प्राप्त होता है, किंतु उनके मिलनेपर उनके बताये साधनको सुनकर उनके अनुसार मनुष्य प्रयत्न करता है तो उसका कल्याण हो जाता है, केवल सुननेमात्रसे नहीं। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(१३।२५)

'इनसे दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे तो इस प्रकार ध्यानयोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगको न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणके अनुसार साधन करनेवाले पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

अतः पूर्वकृत कर्म यानी संचित और प्रारब्धके संस्कार अच्छे होते हैं तो वे साधकके मोक्ष-साधनमें शामिल हो जाते हैं अर्थात् जिस साधकका आठ आना साधन किया हुआ होता है उसे आठ आना ही साधन और करना पड़ता है, किंतु संचित और प्रारब्धमें भी संचितकी प्रधानता है, क्योंकि प्रारब्ध तो अपना फल देकर

शान्त हो जाता है, पर निष्कामभावसे किये हुए संचित कर्म और उपासनारूप साधनका विनाश नहीं होता। वे क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर मुक्ति ही प्रदान करते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

(गीता २ । ४० का पूर्वार्ध)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है।'

प्रायः सभी मनुष्य अर्थ और भोगकी कामना करते हैं; किंतु तीव्र कामना करनेपर भी उनकी सिद्धि नहीं होती। किंतु धर्मके पालन और ईश्वरकी प्राप्तिके लिये की हुई तीव्र इच्छासे ही कार्यकी सिद्धि हो जाती है। जो मनुष्य धर्मपालनकी तीव्र इच्छा करके विशेष प्रयत्न करता है, उस प्रयत्नसे धर्मका पालन हो जाता है। अतः कर्तव्यपालनरूप धर्ममें प्रयत्न ही प्रधान है। इसी प्रकार ईश्वरप्राप्तिकी तीव्र इच्छा करनेसे उस उत्कट इच्छाके बलसे प्रेमपूर्वक किया हुआ प्रयत्न शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थको सिद्ध कर देता है।

संसारमें किसी भी प्राणी, पदार्थ, घटना और मृत्युकी प्राप्ति इच्छापर निर्भर नहीं है। कोई मरनेकी इच्छा करे तो इच्छा करनेसे मर नहीं सकता और जीनेकी इच्छा करे तो जी नहीं सकता। इसी तरह अर्थ और कामभोगरूप पदार्थ, प्राणी एवं अनुकूल घटनाएँ इच्छा करनेसे प्राप्त नहीं होतीं, चाहे मनुष्य उनके लिये कितनी ही उत्कट इच्छा क्यों न करे; क्योंकि ये इच्छापर निर्भर नहीं हैं। किंतु परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्तिके लिये की हुई तीव्र इच्छा अवश्य सफल

हो जाती है । तीव्र इच्छा होनेसे उसका साधन श्रद्धा, प्रेम और आदरपूर्वक एवं तीव्र हो जाता है, जिससे कार्यकी सिद्धि हो जाती है । दूसरी बात यह भी है कि जड पदार्थ तो जड होनेके कारण उनकी इच्छा करनेवालेको नहीं चाहते, पर भगवान्‌को तो जो चाहता है, उसे भगवान् चाहते हैं (गीता ४ । ११)

अब यह विचार करना है कि भाग्य क्या है और प्रयत्न क्या है ? सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि जो सब पूर्वमें किये हुए कर्मोंके फल हैं, इन्हींको भाग्य या प्रारब्ध कहते हैं । इस प्रारब्ध का भोग तीन प्रकारसे होता है—अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे। दैवेच्छासे कोई रोग हो जाना, मृत्यु हो जाना, किसी खरीदे हुए पदार्थका मूल्य घट जाना, पदार्थका क्षय या विनाश हो जाना—यह सब पूर्वकृत पापकर्मका फल है । इसके विपरीत दैवेच्छासे धन आदिकी प्राप्ति होना पुण्यकर्मका फल है । यह सभी अनिच्छा-प्रारब्धभोग है।

किसी डाकू या चोरने हमारा धन लूट लिया या चुरा लिया अथवा धनके लिये हमको मार डाला या किसीने द्वेषबुद्धिसे मार डाला या किसी पशु-पक्षीने हमें चोट पहुँचा दी या साँपने डँस लिया तो यह हमारे पूर्वकृत पापोंका दुःखरूप फलभोग परेच्छासे हुआ। इसी प्रकार किसी दूसरेकी इच्छासे हमें धन, जमीन, स्त्री, पुत्र आदिकी प्राप्ति हो गयी अथवा किसीने हमें दत्तक पुत्र बनाकर सर्वस्व दे दिया तो यह हमारे पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका सुखरूप फलभोग परेच्छासे हुआ।

हमें वर्तमानमें अपनी इच्छासे किये हुए विषयोंके उपभोगसे सुख मिला या व्यापार करनेसे मुनाफा हो गया, तो यह पूर्वकृत

पुण्यकर्मका फलभोग स्वेच्छापूर्वक हुआ। इसके विपरीत जो स्वेच्छासे किये हुए प्रयत्नके फलस्वरूप हमें दुःख, धनहानि, पराजय आदि प्राप्त होते हैं, यह हमारे पूर्वमें किये हुए पापकर्मका स्वेच्छापूर्वक फलभोग है।

इन सभी फलभोगोंको प्रारब्ध (भाग्य) कहते हैं।

विचारपूर्वक किये जानेवाले क्रियमाण कर्मका नाम 'प्रयत्न' है। उसके तीन भेद हैं—शुभकर्म, अशुभकर्म और शुभाशुभ-मिश्रित कर्म। शुभकर्मका फल सुख, अशुभका फल दुःख और शुभाशुभ-मिश्रितका फल सुख-दुःख दोनोंसे मिला हुआ होता है—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

(गीता १८। १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मका तो अच्छा-बुरा और मिला हुआ—इस प्रकार तीन तरहका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

किसी कर्मको मनुष्य सकामभावसे करता है तो उसका इस लोकमें स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थोंकी प्राप्ति और परलोकमें स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप फल होता है तथा निष्कामभावसे किये हुए थोड़े-से भी कर्तव्यपालनका फल परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्ति है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता २। ४० का उत्तरार्ध)

'इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

मनुष्य कर्म करनेमें अधिकांश स्वतन्त्र है; पर फलभोगमें सर्वथा परतन्त्र है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गीता २ । ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं; इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

अतएव मनुष्यको उचित है कि निष्कामभावसे अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करे। जो किये हुए कर्मोंका फल न चाहकर कर्तव्य-कर्म करता है उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्ति मिल जाती है।

परम दयालु परम प्रेमी ईश्वरकी भक्ति—शरणागतिमें भी प्रारब्ध प्रधान नहीं है, पुरुषार्थ ही प्रधान है। ईश्वरकी प्राप्ति होती है—श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरके शरण होनेसे। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरके शरण होनेसे मनुष्य ईश्वरके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है। ईश्वर परम दयालु हैं और उनकी सभीपर अपार दया है—इस रहस्यको न जाननेके कारण ही मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिसे वञ्चित रहता है। ईश्वरकी परम कृपा होते हुए भी श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण जो अपने ऊपर ईश्वरकी दया पूर्णतया नहीं समझता है, वह ईश्वरकी दयाके रहस्यको नहीं जानता और उनकी दयासे होनेवाले परम लाभसे वञ्चित रहता है।

यदि कहें कि ईश्वरकी प्राप्ति ईश्वरकी दयासे होती है या अपने

प्रयत्नसे तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य अपने ऊपर ईश्वरकी अतिशय दया मान लेता है तो उसका साधन उच्चकोटिका होने लगता है। उच्चकोटिका साधन होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर वह ईश्वरकी परम दया और प्रेमके तत्त्वको जान जाता है, तब उसे ईश्वरकी प्राप्ति हो जाती है। हेतुरहित परम दया और परम प्रेमका नाम ही सुहृदता है। जिसमें इस प्रकारकी सुहृदता हो, वही सुहृद् है। उन ईश्वरको सुहृद् जाननेसे ईश्वरकी प्राप्तिरूप परम शान्ति मिल जाती है।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(गीता ५। २९ का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर मेरी प्राप्तिरूप परम शान्ति-को प्राप्त होता है।'

किंतु कोई मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिको भाग्यपर छोड़ देता है तो वह ईश्वरकी प्राप्तिसे वञ्चित रहता है; क्योंकि आजतक किसीको ईश्वरकी प्राप्ति अपने आप भाग्यके भरोसे नहीं हुई। ईश्वरकी प्राप्तिरूप मुक्ति सबकी अपने-आप होती तो आजतक सबकी मुक्ति हो जाती। यदि कहें कि ईश्वरकी प्राप्ति तो ईश्वरकी कृपासे होती है सो ठीक है, किंतु जो अपने ऊपर ईश्वरकी कृपा मानता है उसको ही उनकी कृपाका पूर्ण लाभ मिलता है। मनुष्य अपने ऊपर सदा विद्यमान ईश्वर-कृपाको माने बिना उस कृपाके लाभसे वञ्चित रहता है। जैसे किसी गृहस्थके घरमें पारसमणि मौजूद है, किंतु उस गृहस्थने उसे

पत्थर समझ रक्खा है तो वह उस पारससे होनेवाले लाभसे वञ्चित रहता है। यदि वह पारसको पारस जानकर उससे लोहेका स्पर्श करा देता है तो वह उसके लाभको प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार ईश्वरकी परम दया प्राणिमात्रपर है; किंतु पूर्णतया न माननेसे लोग उस परम लाभसे वञ्चित रहते हैं।

इसी प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान भी प्रारब्धसे स्वतः नहीं होता। यदि प्रारब्धसे स्वतः ही ज्ञान होता तो सबको ही हो जाता। जो मनुष्य प्रारब्धपर यों निर्भर रहता है कि प्रारब्धसे अपने आप ज्ञान हो जायगा, वह ज्ञानकी प्राप्तिसे वञ्चित ही रहता है; क्योंकि प्रारब्धसे स्वतः ही ज्ञान न तो किसीको भी आजतक हुआ है और न हो ही सकता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति तो होती है अन्तःकरणकी शुद्धिसे। अन्तःकरणकी शुद्धि होती है निष्काम कर्म करनेसे और निष्काम कर्मकी सिद्धि प्रयत्नसे होती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४।३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

ज्ञानकी प्राप्तिका दूसरा उपाय है—प्रेमपूर्वक भक्तिका साधन। भगवान्ने बतलाया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(गीता १० । ९-११)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभाव और तत्त्वको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं । उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं । हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ ।'

यह ईश्वरकी भक्ति प्रयत्नसाध्य है, यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है । जो मनुष्य अपने ऊपर ईश्वरकी दया मानकर उनके शरण हो, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरकी अनन्य भक्ति करता है, वह ईश्वरकी कृपासे ईश्वरकी प्राप्तिरूप परम पदको प्राप्त हो जाता है ।

ज्ञानकी प्राप्तिका तीसरा उपाय है—तत्त्वदर्शी ज्ञानी महात्मा पुरुषोंका सङ्ग और उनकी सेवा करना । ऐसा करनेसे भी परम पदरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है । गीतामें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
(४। ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको प्राप्त नहीं होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

ज्ञानकी प्राप्तिके जो साधन हैं उनको भी भगवान्ने गीता अध्याय १३ श्लोक ७ से ११ तक 'ज्ञान' के ही नामसे कहा है। उन ज्ञानके साधनोंसे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर मनुष्यका कल्याण हो जाता है। वे सभी साधन प्रयत्नसाध्य हैं, भाग्यसे सिद्ध होनेवाले नहीं।

इसी प्रकार भगवान्ने गीतामें अध्याय १८ श्लोक ५० से ५५ तक जो ज्ञानकी परानिष्ठाकी प्राप्तिके लिये साधन बतलाये हैं वे भी प्रयत्नसाध्य हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानकी प्राप्तिमें भी प्रारब्धकी प्रधानता नहीं है, बल्कि प्रयत्नकी ही प्रधानता है।

सदाचाररूप धर्मकी सिद्धि भी प्रयत्नसे ही होती है, प्रारब्धसे नहीं। महर्षि मनुने धर्मके चार ही लक्षण बतलाये हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २।१२)

'वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण है।'

तथा सामान्यधर्मका स्वरूप-वर्णन करते हुए मनुजीने कहा है—

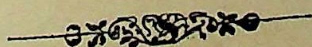
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६।९२)

'धैर्य रखना, क्षमा करना, मनको वशमें रखना, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य वचन बोलना और क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

एवं वर्णों और आश्रमोंके विशेष धर्म भी विस्तारपूर्वक मनुजीने मनुस्मृतिके तीसरेसे छठे अध्यायतक बतलाये हैं। ये सभी प्रयत्न-साध्य हैं। बिना प्रयत्नके अपने-आप भाग्यसे इनमेंसे किसी भी क्रियाकी सिद्धि नहीं हो सकती।

इसलिये यही सिद्ध हुआ कि अर्थ और कामकी प्राप्तिमें तो प्रारब्धकी प्रधानता है तथा धर्म और मोक्षकी प्राप्तिमें प्रयत्नकी प्रधानता है।



निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य

एक ब्राह्मणके लिये दान लेना और देना—दोनों कार्य ही धर्म हैं। यदि वह निष्कामभावसे करे तो ये दोनों ही उसके लिये कल्याणकारक हैं। वह किसीकी कोई वस्तु स्वीकार करता है तो ममता, आसक्ति, स्वार्थ और अभिमानसे रहित होकर उसके हितके लिये ही करता है और किसीको कुछ देता है तो उसके हितके लिये ही देता है, अतः लेना और देना दोनों ही उसके लिये हितकर हैं। यही नही, यदि दाता निष्कामभावसे देता है और ग्रहीता भी निष्कामभावसे स्वीकार करता है तो निष्कामभावके प्रभावसे दोनोंका ही कल्याण हो जाता है। यदि कहें इस प्रकार मुक्ति मिले तो सबके लिये मुक्ति कहाँसे आयेगी तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के यहाँ मुक्तिकी कोई कमी नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
(३। ११)

'(ब्रह्माजी प्रजाओंको रचकर उनसे कहते हैं—) तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें । इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग सभी परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे ।'

इसी प्रकार ही निष्कामभाव होनेसे दाता और ग्रहीता दोनोंका उद्धार हो जाता है ।

यदि मनुष्यको निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य समझमें आ जाय तो उसका व्यवहार स्वाभाविक ही उच्चकोटिका और विलक्षण हो जाता है । जब किसी भी पदार्थ, व्यक्ति या क्रियामें स्वार्थका नाम-निशान भी नहीं रहता, आसक्ति, ममता और अभिमानका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब उस मनुष्यकी प्रत्येक क्रिया उज्ज्वल और पावन हो जाती है एवं दूसरे मनुष्योंको भी वह पवित्र बना देती है।

अतः हमलोगोंको निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य समझना चाहिये । दूसरोंको सुख पहुँचाना बहुत उत्तम है, किन्तु यदि कोई अपनेको अधिक आराम पानेके उद्देश्यसे आरामका त्याग करता है तो वह त्याग निष्कामभाव नहीं है । जैसे रेलगाड़ीमें कभी दूसरोंको सोनेका आराम देनेके लिये अपनी जगह देकर हम नीचे बैठ जाते हैं, इस उद्देश्यसे कि हम यदि अपनी जगहका त्याग करेंगे तो हमारे त्यागको देखकर वह भी त्याग करेगा । यह त्याग उत्तम होनेपर भी निष्कामभाव नहीं है ।

तथा हम कभी किसी उच्च अधिकारीवर्गकी सेवा-शुश्रूषा और आदर-सत्कार करते हैं, उस समय हर प्रकारसे उनको इस उद्देश्यसे

आराम पहुँचाते हैं कि समय पड़नेपर इनसे कोई मूल्यवान् काम निकाल लेंगे; तो यह सेवा सकाम ही है ।

इसी प्रकार हम अपने किसी प्रिय मित्र, भाई-बन्धु या सम्बन्धीके साथ यात्रा कर रहे हैं तो दोनोंका खर्चा स्वयं देनेका आग्रह करते हैं कि मेरा ही खर्चा लगना चाहिये। यह सुन्दर बर्ताव देखकर दूसरा भी वैसा ही आग्रह करता है कि यह खर्चा मेरा ही लगना चाहिये । इस आग्रहमें यदि 'मेरे त्याग करनेसे दूसरेमें भी त्यागके भावकी जागृति होगी और इससे मुझको वस्तुतः त्याग नहीं करना पड़ेगा' यह उद्देश्य है तो वह भी सकाम ही है।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा प्राप्त होनेपर उनका हम त्याग तो कर रहे हैं; किंतु उसके फलस्वरूप हमको मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा अधिक मिल रहे हैं, जिनको पाकर हम मनमें प्रसन्न होते हैं तो यह भी सकामभाव ही है ।

इसलिये जो सांसारिक पदार्थोंकी कामनासे सेवा करता है उसे सांसारिक पदार्थ ही मिल सकते हैं, जो स्वर्गकी कामनासे सेवा करता है उसे स्वर्ग ही मिल सकता है तथा जो मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये सेवा करता है उसे मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा ही मिल सकती है; किंतु कल्याण तो निष्कामभावसे सेवा करनेपर ही प्राप्त हो सकता है ।

असली निष्कामभाव वह है जिसमें न तो दिखाऊपन है, न भीतरमें कोई स्वार्थ, आसक्ति या कामना ही है और सारी क्रियाएँ केवल निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये ही होती हैं । जैसे कोई

व्यक्ति अपने घरपर फल या सब्जी लेकर आया और यह कहकर कि 'हमारे लड़केके ससुरालसे ये सब वस्तुएँ आयी हैं' देनेके लिये बहुत आग्रह करता है; किंतु हम किसी प्रकार लेना स्वीकार नहीं करते तो इससे उसको दुःख होता है, उस स्थितिमें उसके संतोषके लिये कम-से-कम मात्रामें उस वस्तुको स्वीकार कर लेनेमें वस्तु लेकर भी निष्कामभाव ही है; किंतु न लेनेका अभिमान रखकर तथा 'तुम यह सब लाये ही क्यों ? तुम तो जानते ही हो कि हम किसीकी वस्तु नहीं लेते' ऐसा कहकर निष्कामभावकी ऐंठ रखते हुए उसकी वस्तु लौटा देते हैं, चाहे उसे दुःख हो, चाहे वह अपमान समझे; तो यह न लेना भी निष्कामभाव नहीं है। हाँ, जो मनसे देनेकी इच्छा तो नहीं है, किंतु सभ्यताके लिये देनेका आग्रह करता है तो उस स्थितिमें तो न लेना ही निष्काम है।

एक मनुष्य हृदयसे अनुरोध करता है कि हमसे परमार्थ विषयकी सेवाका काम लेना चाहिये तो उसका विशेष आग्रह होनेपर केवल उसके संतोषके लिये उससे लोकसेवाका काम लिया जाता है तो वह उससे काम लेना भी निष्काम है। हम किसीकी सेवा कर रहे हैं; सेवा करानेवाला हमारे संतोषके लिये ही सेवा स्वीकार कर रहा है तो हमको यह समझना चाहिये कि इसकी हमपर दया है। बल्कि 'मैं इसकी सेवा कर रहा हूँ' यह अभिमान न रखकर यह भाव रखना चाहिये कि मैं तो अपना कर्तव्य समझकर खान, पान, दवा आदिकी ही मामूली सेवा कर रहा हूँ और यह जो मेरे कल्याणके लिये मेरी सेवा स्वीकार कर रहा है, वह मेरी

बड़ी सेवा कर रहा है । इस भावसे अपनेको उसका ऋणी समझना चाहिये । अपनेको ऋणी समझना ही निष्कामभाव है । जिन पदार्थोंसे मैं सेवा करता हूँ, वे सारे पदार्थ भगवान्‌के हैं, जिन हाथोंसे सेवा करता हूँ, वे हाथ भगवान्‌के दिये हुए हैं और जिनकी सेवा करता हूँ, उन सबमें भगवान् विराजमान हैं । इस प्रकार भगवान्‌के ही पदार्थोंसे, भगवान्‌के दिये हुए हाथोंसे भगवान्‌की ही सेवा की जा रही है, यह उचित है, न्याय्य है । किंतु सेवा करते हुए भी यदि किसी प्रकारका अपनेमें अच्छेपनका अभिमान या दूसरेपर अहसान करनेका भाव आता है तो वह हमारे लिये अनुचित है । ऐसा भाव होना निष्कामभाव है ।

कोई मनुष्य हमारे दोष बतावे तो सुनकर हमको न तो क्रोध करना चाहिये और न दुःख ही; बल्कि प्रसन्न होना और अपनेपर उसका उपकार मानना चाहिये, क्योंकि यदि कोई झूठा दोष लगावे तो उससे हमारी कोई हानि नहीं हो सकती । भगवान् तो सर्वान्तर्यामी और न्यायकारी हैं, वे सब जानते हैं, वे किसीके कहनेमात्रसे हमको दण्ड नहीं देते । फिर हमको किस बातकी चिन्ता ? यदि चिन्ता करें तो भगवान्‌पर और भगवान्‌के न्यायपर हमारा विश्वास कहाँ ? यदि उसका दोष लगाना उचित है तो अपना सुधार करना चाहिये और उस दोष बतानेवालेको अपना परम हितैषी मानना चाहिये । गुरुकी भाँति उसका अपनेपर उपकार समझना चाहिये, क्योंकि वह हमारा हित करता है । इस विषयमें एक कहानी है ।

एक वैश्य था। एक दिन वह किसी महात्माके पास गया और बोला—'महाराज ! कोई मनके प्रतिकूल व्यवहार करता है तो मनमें क्रोध आता है, दुःख होता है और उस व्यक्तिके प्रति द्वेषबुद्धि होती है।' इसपर महात्माने उपदेश दिया—'यह तुम्हारी बिल्कुल गलती है। किसीके द्वारा भी किसी प्रकारकी भी जो मनके प्रतिकूल क्रिया होती है, उसको परम दयामय भगवान्‌की विशेष दया समझनी चाहिये।' यह सुनकर उसने नियम ले लिया कि कोई अपने साथ कैसा भी अनुचित या बुरा व्यवहार करे, न तो दुःख करना, न क्रोध करना और न उससे द्वेष ही करना है। उस वैश्य व्यापारीके पड़ोसमें ही एक अन्य व्यापारी रहता था। उस व्यापारीने जब यह बात सुनी तो वह उसके नियमको भंग करनेके लिये चेष्टा करने लगा। जब कभी कोई काम पड़ता, उचित हो या अनुचित, वह सदा उस वैश्यके पक्षके विपरीत ही व्यवहार करता था। किंतु वह वैश्य कभी भी न तो क्रोध करता, न दुःख मानता और न उस व्यापारीके प्रति द्वेषबुद्धि ही करता था। बहुत समयतक चेष्टा करनेपर भी उस व्यापारीको कभी सफलता नहीं मिली।

एक बार होलीके दूसरे दिन, उस व्यापारीने वैश्यसे कहा—'तुम परोपकारी हो। आज मैं अपने ससुराल जा रहा हूँ, क्या तुम यह मिठाईकी हँडिया अपने सिरपर लेकर मेरे साथ मेरे ससुराल चल सकते हो ?' वैश्यने देखा—हँडियापर स्वस्तिक चिह्न था, नाल बँधा हुआ था और ढक्कन लगा हुआ था। उसने स्वीकार कर

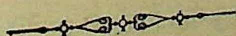
दिया कि हाँ, मैं ले जा सकता हूँ और वह हँडिया सिरपर लेकर चलने लगा। वह व्यापारी सुन्दर पोशाक पहने हुए छड़ी हाथमें लेकर वैश्यके पीछे-पीछे चलने लगा। उस हँडियामें मल-मूत्र-और कीचड़ भरा हुआ था। बाजारके बीचमें आते ही व्यापारीने छड़ीसे उस हँडियाको फोड़ डाला। फिर क्या था। मल-मूत्र और कीचड़ उस वैश्यके बदनपर सब ओर बहने लगा। उस समय व्यापारी उस वैश्यको उत्तेजित करनेके लिये हँसा और बोला—'देख, तेरी क्या दुर्दशा है।' यह देख-सुनकर वैश्य भी हँसने लगा। व्यापारीने कहा—'मूर्ख! तू क्या हँसता है?' वैश्यने उत्तर दिया—'मैं ईश्वरकी और आपकी दयाको देखकर हँसता हूँ। मुझे जो दुःख और क्रोध नहीं हुआ, यह आपकी बड़ी भारी दया है। जैसे गुरु शिष्यको ध्यान रखकर योग्य बनाता है वैसे ही आपने मुझपर दया की है और योग्य बनाया है। आपके उपकारका मैं ऋणी हूँ।' यह सुनकर उस व्यापारीका हृदय बदल गया और वह वैश्यके चरणोंमें गिरकर रोने लगा। कुछ देर बाद उसने वैश्यसे कहा—'मैं बड़ा अपराधी हूँ। इस अपराधके कारण मुझको यमराज घोर नरकमें डालेंगे।' वैश्य बोला—'यदि आपके द्वारा मेरा अनिष्ट होता या मुझे दुःख होता तब तो यमराज आपको नरकमें डालते। मै तो इसे अपना उपकार मानता हूँ, ऐसी परिस्थितिमें यमराजकी सामर्थ्य नहीं है कि वे आपको नरकमें डालें।' वैश्यका जो यह भाव है, यह निष्कामभाव है।

अतएव हमको हरेक क्रिया करते समय सबके हितके उद्देश्यसे यही भाव रखना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान्‌की

आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के ही लिये भगवान्‌का ही काम कर रहा हूँ। अथवा मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान्‌के हाथमें मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रियकी बागडोर है; अतः भगवान् ही मुझसे करवा रहे हैं और जो कुछ हो रहा है, भगवान्‌की इच्छाके अनुसार ही हो रहा है।

जब ऐसा भाव हो जाता है तब उसकी यह कसौटी समझ लेनी चाहिये कि उसके द्वारा कभी कोई शास्त्रविरुद्ध कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि जहाँ भगवान् करवाते हैं वहाँ वे स्वयं अपने नियमके विपरीत कैसे करायेंगे? यदि विपरीत कार्य होता है तो समझ लेना चाहिये कि उसमें भगवान्‌का हाथ नहीं है, कामनाका हाथ है (देखें गीता ३। ३७)। जैसे जो गुरुके ऊपर ही निर्भर है उस छोटे बच्चेको गुरु अक्षर-ज्ञान करानेके समय उसका हाथ पकड़कर उसके हाथसे कलमद्वारा अक्षर लिखवाते हैं, उसमें कभी भूल नहीं हो सकती। वह जब गुरुके बिना स्वयं ही लिखने लगता है, तभी न जाननेके कारण भूल होती है। इसी प्रकार जहाँ अज्ञान है, कामना है, वहीं शास्त्रविपरीत कार्य हो सकते हैं; किंतु जहाँ कामनाका अभाव है, यानी पूर्ण निष्कामभाव है और भगवान्‌पर निर्भरता है वहाँ शास्त्रविपरीत कार्य कभी हो ही नहीं सकता।

इसलिये हमें उपर्युक्त प्रकारसे निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य समझकर स्वार्थ, अभिमान, ममता, आसक्तिका सर्वथा परित्याग करते हुए पूर्ण निष्कामभावसे ही अपने समस्त शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। इससे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकता है।



सत्यकी महिमा

एक सत्यवादी धर्मात्मा राजा थे। उनके नगरमें कोई भी साधारण मनुष्य बिक्री करनेके लिये बाजारमें अन्न, वस्त्र आदि कोई वस्तु लाता और वह वस्तु यदि सायंकालतक नहीं बिकती तो उसे राजा खरीद लिया करते थे। लोकहितके लिये राजाकी यह सत्य प्रतिज्ञा थी। अतः सायंकाल होते ही राजाके सेवक शहरमें भ्रमण करते और किसीको कोई वस्तु लिये बैठे देखते तो वे उससे पूछकर और उसके संतोषके अनुसार कीमत देकर उस वस्तुको खरीद लेते थे।

एक दिनकी बात है। स्वयं धर्मराज ब्राह्मणका वेष धारण करके घरकी टूटी-फूटी व्यर्थकी चीजें, जो बाहर फेंकने योग्य कूड़ा-करकट थीं, एक पेटीमें भरकर उन सत्यवादी धर्मात्मा राजाकी परीक्षा करनेके लिये उनके नगरमें आये और बिक्रीके लिये बाजारमें बैठ गये, किंतु कूड़ा-करकटको कौन लेता? जब सायंकाल हुआ, तब राजाके सेवक नगरमें सदाकी भाँति घूमने लगे। नगरमें बेचनेके लिये लोग जो वस्तुएँ लाये थे, वे सब बिक चुकी थीं। केवल ये ब्राह्मण अपनी पेटी लिये बैठे थे। राजसेवकोंने इनके पास जाकर पूछा—'क्या आपकी वस्तु नहीं बिकी?' उन्होंने उत्तर दिया—'नहीं'।

राजसेवकने पुनः पूछा—'आप इस पेटीमें बेचनेके लिये क्या चीज लाये हैं? और उसका मूल्य क्या है?' ब्राह्मणने कहा—'इसमें दारिद्र्य (कूड़ा-करकट) भरा हुआ है। इसका मूल्य है एक हजार रुपये।' यह सुनकर राजसेवक हँसे और उन्होंने कहा—'इस कूड़ा-करकटको कौन लेगा; जिसका एक पैसा भी मूल्य नहीं है?' ब्राह्मणने कहा—'यदि इसे कोई नहीं लेगा तो मैं इसे वापस अपने घर ले जाऊँगा।' राजसेवकोंने तुरंत राजाके पास जाकर इसकी सूचना दी। इसपर राजाने कहा—'उन्हें वस्तु वापस न ले जाने दो। मूल्य जो कुछ कम-से-कम हो सके, उन्हें संतोष कराकर वस्तु खरीद लो।'

राजसेवकोंने आकर ब्राह्मणसे उस पेटीके दो सौ रुपये मूल्य कहा, किन्तु ब्राह्मणने एक हजारसे एक पैसा भी कम लेना स्वीकार नहीं किया। राजसेवकोंने पाँच सौ रुपयेतक देना स्वीकार कर लिया; परंतु ब्राह्मणने इन्कार कर दिया। तब राजसेवकोंमेंसे कुछ व्यक्ति उत्तेजित होकर राजाके पास आये और बोले—'महाराज! उनकी पेटीमें दारिद्र्य (कूड़ा-करकट) भरा हुआ है, एक पैसेकी भी चीज नहीं है और पाँच सौ रुपये देनेपर भी वे नहीं दे रहे हैं। ऐसी परिस्थितिमें आपको उनकी वस्तु नहीं खरीदनी चाहिये।' राजाने कहा—'नहीं, हमारी सत्य प्रतिज्ञा है, हम सत्यका त्याग कभी नहीं करेंगे, इसलिये ब्राह्मणको, वे जो मांगें, देकर उस वस्तुको खरीद लो।' यह सुनकर राजसेवक राजाके इस आग्रहको देखकर हँसे और लौट आये। उन्होंने निरुपाय होकर ब्राह्मणको एक

हजार रुपये दे दिये और उनकी पेटी ले ली। ब्राह्मण रुपये ले चले गये और राजसेवक पेटीको राजाके पास ले आये। राजाने उस दारिद्र्यसे भरी पेटीको राजमहलमें रखवा दिया।

रात्रिमें जब शयनका समय हुआ, तब राजमहलके द्वारसे वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित एक बहुत सुन्दर युवती निकली। राजा बाहर बैठकमें बैठे हुए थे। उस स्त्रीको देखकर राजाने पूछा—'आप कौन हैं? किस कार्यसे आयी हैं? और क्यों जा रही हैं?' उस स्त्रीने कहा—'मैं लक्ष्मी हूँ। आप सत्यवादी धर्मात्मा हैं, इस कारण मैं सदासे आपके घरमें निवास करती रही हूँ, पर अब तो आपके घरमें दारिद्र्य आ गया है। जहाँ दारिद्र्य रहता है वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती। इसलिये आज मैं आपके यहाँसे जा रही हूँ।' राजा बोले—'जैसी आपकी इच्छा।'

थोड़ी देर बाद राजाने एक बहुत ही सुन्दर युवा पुरुषको राजमहलके दरवाजेसे निकलते देखा तो उससे पूछा—'आप कौन हैं? कैसे आये हैं और कहाँ जा रहे हैं?' उस सुन्दर पुरुषने कहा—'मेरा नाम दान है। आप सत्यवादी धर्मात्मा हैं, इस कारण सदा मैं आपके यहाँ निवास करता रहा हूँ। अब जहाँ लक्ष्मी गयी है, वहीं मैं जा रहा हूँ; क्योंकि जब लक्ष्मी चली गयी, तब आप दान कहाँसे करेंगे?' तब राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

उसके बाद फिर एक सुन्दर पुरुष निकलता दिखायी दिया। राजाने उससे भी पूछा—'आप कौन हैं? कैसे आये हैं और कहाँ जा रहे हैं?' उसने कहा—'मैं यज्ञ हूँ। आप सत्यवादी धर्मात्मा हैं,

अतः आपके यहाँ मैं सदासे निवास करता रहा । अब आपके यहाँसे लक्ष्मी और दान चले गये तो मैं भी वहीं जा रहा हूँ, क्योंकि बिना सम्पत्तिके आप यज्ञका अनुष्ठान कैसे करेंगे ?' राजा बोले—'बहुत अच्छा ।'

तदनन्तर फिर एक युवा पुरुष दिखलायी दिया । राजाने पूछा—'आप कौन हैं ? कैसे आये और कहाँ जा रहे हैं ?' उसने कहा—'मेरा नाम यश है । आप सत्यवादी धर्मात्मा हैं, अतः मैं आपके यहाँ सदासे रहता आया हूँ, किंतु आपके यहाँसे लक्ष्मी, दान. यज्ञ सब चले गये तो उनके बिना आपका यश कैसे रहेगा ? इसलिये मैं भी वहीं जा रहा हूँ, जहाँ वे गये हैं ।' राजाने कहा—'ठीक है ।'

तत्पश्चात् एक सुन्दर पुरुष फिर निकला । उसे देखकर उससे भी राजाने पूछा—'आप कौन हैं, कैसे आये और कहाँ जा रहे हैं ?' उसने कहा—'मेरा नाम सत्य है । आप धर्मात्मा हैं, अतः मैं सदा आपके यहाँ रहता आया हूँ, किंतु अब आपके यहाँसे लक्ष्मी, दान, यज्ञ, यश—सब चले गये तो मैं भी वहीं जा रहा हूँ ।' राजाने कहा—'मैंने तो आपके लिये ही इन सबका त्याग किया है, आपका तो मैंने कभी त्याग किया नहीं, इसलिये आप कैसे जा सकते हैं ? मैंने लोकोपकारके लिये यह सत्य प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि कोई भी व्यक्ति मेरे नगरमें बिक्री करनेके लिये कोई वस्तु लेकर आयेगा और सायंकालतक उसकी वह वस्तु नहीं बिकेगी तो मैं उसको खरीद लूँगा । आज एक ब्राह्मण दारिद्र्य लेकर बिक्री करने आये जो

एक पैसेकी भी चीज नहीं, किंतु सत्यकी रक्षाके लिये ही मैंने विक्रेता ब्राह्मणको एक हजार रुपये देकर उस दारिद्र्य (कूड़ा-करकट) को खरीद लिया। तब लक्ष्मीने आकर कहा कि आपके घरमें दारिद्र्य-का वास हो गया, इसलिये मैं नहीं रहूँगी। इसी कारण मेरे यहाँसे लक्ष्मी आदि सब चले गये। ऐसा होनेपर भी मैं आपके बलपर डटा हुआ हूँ।' यह सुनकर सत्यने कहा—'जब मेरे लिये ही आपने इन सबका त्याग किया है, तब मैं नहीं जाऊँगा।' ऐसा कहकर वह राजमहलमें वापस प्रवेश कर गया।

थोड़ी ही देर बाद 'यश' लौटकर राजाके पास आया। राजाने पूछा—'आप कौन हैं और क्यों आये हैं?' उसने कहा—'मैं वही यश हूँ। आपमें सत्य विराजमान है और जहाँ सत्य रहता है वहीं मैं रहता हूँ, क्योंकि चाहे कोई कितना ही यज्ञकर्ता, दानी और लक्ष्मीवान् क्यों न हो; किंतु बिना सत्यके वास्तविक कीर्ति नहीं हो सकती। इसलिये जहाँ सत्य है, वहीं मैं रहूँगा।' राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

तदनन्तर यज्ञ आया। राजाने उससे पूछा—'आप कौन हैं और किसलिये आये हैं?' उसने कहा—'मैं वही यज्ञ हूँ, जहाँ सत्य रहता है, वहीं मैं रहता हूँ, चाहे कोई कितना ही दानशील और लक्ष्मीवान् क्यों न हो, किंतु बिना सत्यके यज्ञ शोभा नहीं देता। आपमें सत्य है, अतः मैं यहीं रहूँगा।' राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

तत्पश्चात् दान आया। राजाने उससे भी पूछा—'आप कौन

हैं और कैसे आये हैं ?' उसने कहा—'मैं वही दान हूँ। आपमें सत्य विराजमान है और जहाँ सत्य रहता है वहीं मैं रहता हूँ; क्योंकि कोई कितना ही लक्ष्मीवान् क्यों न हो, बिना सद्भावके दान नहीं दे सकता। आपके यहाँ सत्य है, इसलिये मैं यहीं रहूँगा।' राजा बोले—'बहुत अच्छा।'

इसके अनन्तर लक्ष्मी आयी। राजाने पूछा—'आप कौन हैं और क्यों आयी हैं ?' उसने कहा—'मैं वही लक्ष्मी हूँ। आपके यहाँ सत्य विराजमान है। आपके यहाँ यश, यज्ञ, दान भी लौट आये हैं। इसलिये मैं भी लौट आयी हूँ।' राजा बोले—'देवि ! यहाँ तो दारिद्र्य भरा हुआ है, आप कैसे निवास करेंगी ?' लक्ष्मीने कहा—'राजन् ! जो कुछ भी हो, मैं सत्यको छोड़कर नहीं रह सकती।' राजा बोले—'जैसी आपकी इच्छा।'

तदनन्तर वहाँ स्वयं धर्मराज उसी ब्राह्मणके रूपमें आये। राजाने पूछा—'आप कौन हैं और कैसे आये हैं ?' धर्मराज बोले—'मैं साक्षात् धर्म हूँ, मैं ही ब्राह्मणका रूप धारण करके एक हजार रुपयेमें आपको दारिद्र्य दे गया था। आपने सत्यके बलसे मुझ धर्मको जीत लिया। मैं आपको वर देनेके लिये आया हूँ, बतलाइये, मैं आपका कौन-सा अभीष्ट कार्य करूँ ?' राजाने कहा—'आपकी कृपा है। मुझको कुछ भी नहीं चाहिये। आप जिस प्रकार सदा करते आये हैं, उसी प्रकार करते रहिये।'

इस कल्पित दृष्टान्तसे यह सिद्ध हो गया कि जहाँ सत्य है, वहाँ सब कुछ है। वहाँ कभी सम्पत्ति, दान, यज्ञ, यशकी कमी भी

हो जाय तो मनुष्यको घबराना नहीं चाहिये। यदि सत्य कायम रहेगा तो ये सभी आप ही लौट आयेंगे और ये न आयें तो भी कोई हानि नहीं, उसका परम कल्याण है। अतः कल्याणकामी पुरुषोंको सत्यका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि निष्कामभावसे उसका अवश्य दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये।

सत्य—यथार्थ भाषण, सद्गुण और सदाचारका नाम ही सत्य है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(१७। २६-२७)

'सत्—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभाव (परमात्माके अस्तित्व) में और श्रेष्ठभाव (सद्गुण) में प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्म (सदाचार) में भी सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति (निष्ठा) है वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ (भगवदर्थ) कर्म तो निश्चय ही 'सत्' ऐसे कहा जाता है।'

किसी कविकी यह उक्ति प्रसिद्ध है—

बंदा सत नहिं छाँड़िये सत छाँड़े पत जाय।
सतकी बाँधी लच्छमी फेरि मिलैगी आय॥



साधनको साध्यसे भी अधिक आदर देना चाहिये

परमात्माकी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सब साधनोंको परमात्माकी प्राप्तिसे बढ़कर आदर देना चाहिये। साधनमें विशेष आदरबुद्धि होनेपर साधन तेज होता है। हमलोग साधनको जितना आदर देना चाहिये, उतना नहीं देते। इसीसे साधन शिथिल रह जाता है और सफलता दूर बनी रहती है। महर्षि पतञ्जलिजीने आदरपूर्वक किये गये साधनको ही उच्चकोटिका बतलाया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (योगदर्शन १। १३)

'उन अभ्यास-वैराग्यमेंसे स्थितिके लिये यत्न करनेका नाम 'अभ्यास' है।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
(योगदर्शन १। १४)

'किंतु वह अभ्यास लंबे समयतक, निरन्तर तथा आदर-सत्कार-पूर्वक सेवन करनेसे दृढभूमि होता है।'

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें परम श्रद्धासे साधन करनेवाले अपने साधक भक्तोंको सर्वोत्तम बतलाते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(१२। २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

जहाँ परम श्रद्धा होती है, वहाँ आदर-सत्कार तो अपने-आप ही होने लगता है।

अतः श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादि शास्त्रोंमें परमात्माकी प्राप्तिके जो अनेक साधन बतलाये गये हैं और गीतामें भी ज्ञानयोग,* भक्तियोग,†

* तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(गीता ५ । १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

† भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११ । ५४-५५)

'परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा तो इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

कर्मयोग * और ध्यानयोग† एवं ब्रह्मयज्ञ, संयमयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, प्राणायामरूप यज्ञ ‡ आदि नामोंसे जो अनेक प्रकारके साधन बतलाये गये हैं, उन साधनोंको विशेष आदर देना चाहिये।

बहुत-से साधक कहा करते हैं कि हम साधन तो करते हैं, किंतु हमें सफलता प्राप्त नहीं होती। उनका कथन सत्य है, पर उनके सफलता प्राप्त न होनेका कारण यही है कि वे साधनको आदरपूर्वक निष्कामभावसे नहीं करते। अधिकांश साधकोंकी दृष्टि साधनके फलकी ओर रहती है, इस कारण तथा श्रद्धाकी कमीके कारण साधन आदरपूर्वक नहीं होता, इसीसे वे जैसा फल चाहते हैं वैसा देखनेमें नहीं आता। इसीसे साधनमें उत्साह नहीं होता और निराशा उत्पन्न होकर शिथिलता आ जाती है। अतएव मनुष्यको

---

* योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(गीता २। ४८)

'धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व ही योग कहलाता है।'

† ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
(गीता १३। २४ का पूर्वार्ध)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं।'

‡ गीता अध्याय ४ श्लोक २४, २७, २८, २९।

उचित है कि वह आदरपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करे, फलकी ओर न देखे; क्योंकि मनुष्यका कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें नहीं। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(२। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

इस निष्काम सेवाके विशद स्वरूपको स्पष्ट समझनेके लिये एक कहानी लिखी जाती है—किसी देशमें एक परम भक्त तथा तत्त्वज्ञानसम्पन्न महात्मा राजा थे। उनकी ख्याति सर्वत्र फैली थी। रामू नामक एक कहार था। उसके मनमें राजाके दर्शनकी इच्छा उत्पन्न हुई और इस उद्देश्यसे वह युक्ति सोचकर अपने मित्र गोपाल कहारके पास आया। गोपाल कहार उक्त महाराज साहबके दीवानके पेशकारके यहाँ नौकरी करता था। रामू आकर उसके चरणोंमें गिर पड़ा और बोला—'तुम धन्य हो।' गोपालने कहा—'भैया! तुम मेरे पैर क्यों छूते हो? हम तो मित्र हैं।' रामू बोला—'भाई! तुम नहीं जानते क्या? यहाँके महाराजसाहब परम ज्ञानी एवं परम भक्त महापुरुष हैं। तुमको उनके दीवानके पेशकारके यहाँ नौकरी करनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया। इसीसे तुम मेरे पूज्य हो। मुझको भी तुम यहाँ रखवा दो।' इसपर गोपालने पेशकारजीसे पूछा। पेशकार-

को एक नौकरकी और आवश्यकता थी, अतः उसे रख लिया गया। जब महीना समाप्त हुआ, तब पेशकारने गोपाल और रामू दोनोंके वेतनके दस-दस रुपये मासिकके हिसाबसे बीस रुपये गोपालको ही दे दिये। गोपालने अपना नियमित वेतन ले लिया। किंतु रामूने नहीं लिया और उसने अपने मित्र गोपालसे कहा—'भाई! मैं वेतनके लिये तो यहाँ आया नहीं हूँ, मुझे उनकी सेवाका सुअवसर मिल गया, यही मेरे लिये बड़ा वेतन है।' दूसरा महीना बीतनेपर जब पेशकार फिर उसी प्रकार बीस रुपये देने लगे, तब गोपालने लेनेसे इन्कार कर दिया और कहा—'मेरे मित्र रामूने गत महीनेके रुपये भी नहीं लिये थे, अतः वे दस रुपये मेरे पास ही हैं। उन रुपयोंको आप मेरे इस महीनेका वेतन समझ लें।'

तब पेशकारने रामूको बुलवाया और वेतन लेनेके लिये आग्रह किया, किंतु उसने बिल्कुल अस्वीकार कर दिया—'मैं आपके यहाँ रुपयोंके लिये नहीं रहता हूँ। आपकी सेवा ही मेरे लिये वेतनसे बढ़कर लाभ है। आप तो जानते ही होंगे कि महाराजसाहब ज्ञानी, महात्मा, परम भक्त और महापुरुष हैं; आप उनके दीवानके पेशकार हैं। हम लोगोंको तो आपके दर्शन और सेवाका सुअवसर बड़े भाग्यसे ही प्राप्त हुआ है, इससे बढ़कर और वेतन क्या होगा?' पेशकारने पूछा—'तब तुम बिना वेतनके किस उद्देश्यसे काम करते हो?' रामूने उत्तर दिया—'इस उद्देश्यसे करता हूँ कि आपकी सेवा करते-करते कभी दीवानसाहबके भी दर्शन हो जायँगे, जिन्हें महाराजसाहबके खास मन्त्री होनेका सौभाग्य प्राप्त है।' पेशकारने कहा—

'दीवानसाहबका दर्शन तो मैं तुम्हें कल ही करवा दूँगा।' रामू बोला—'आपकी बड़ी दया है।' पेशकारने फिर कहा—'कल तुम आठ बजे दीवानसाहबके दफ्तरमें मेरे लिये चाय और जल ले आना।' रामूने वैसा ही किया।

रामू वहाँ जाकर मन्त्रमुग्धकी भाँति दीवानसाहबकी ओर चुपचाप देखता रहा। तब दीवानसाहबने पेशकारसे पूछा—'यह कौन है और क्यों आया है?' पेशकारने कहा—'आज मैं चाय पीकर नहीं आया, इसलिये यह चाय लेकर आया है। यह अपना नौकर है।' दीवानसाहबके आज्ञा देनेपर पेशकारने चाय पी ली। रामू जूँठा गिलास, लोटा आदि माँजने लगा और दीवानसाहबके जूतोंको साफ करने लगा तथा इधर-उधर कहीं कूड़ा दीखा तो उसे बटोरने लगा। ये सब काम करते हुए उसकी दृष्टि निरन्तर दीवानसाहबपर रही। यह देखकर दीवानने पेशकारसे कहा—'यह नौकर बहुत अच्छा है, बिना कहे ही सारा काम करता है, इसका क्या वेतन है?' पेशकार बोला—'यह बहुत आग्रह करनेपर भी वेतन नहीं लेता।' तब दीवानने रामूको बुलाकर पूछा—'तुम बिना वेतन लिये इस प्रकार सेवाका कार्य किस उद्देश्यसे करते हो?' रामूने कहा—'आपके दर्शनके उद्देश्यसे। आज मेरा बड़ा ही सौभाग्य है, जो मुझे आपके दर्शन प्राप्त हो गये।' दीवानने पुनः कहा—'मेरे दर्शनसे क्या लाभ है भैया?' रामूने उत्तर दिया—'आपके महाराजसाहब बड़े ही महात्मा, ज्ञानी, भगवद्भक्त और महापुरुष हैं। आप उनके दीवान हैं। आपके दर्शनसे भी मनुष्य पवित्र हो जाता है।'

दीवानने कहा—'ऐसी ही बात है तो फिर तुम हमारे यहाँ ही रह जाओ।' उसने उत्तर दिया—'यह तो मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात होगी !' फिर दीवानने पेशकारसे कहा—'इस नौकरको हम अपने यहाँ रखना चाहते हैं।' पेशकारने कहा—'मैं आपको इससे भी अच्छा दूसरा नौकर दे दूँगा।' दीवानने कहा—'नहीं, हम इसे ही रखेंगे।' ऐसा कह उसको अपने पास रख लिया।

जब रामूको सेवा करते बहुत दिन हो गये, तब दीवानसाहबने उससे कुछ रुपये घर भेजनेके लिये आग्रह किया। पर उसने स्पष्ट-रूपसे अस्वीकार कर दिया और कहा—'आपकी कृपासे घरपर कोई कमी नहीं है। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि मैं रुपयोंके लिये आपके यहाँ नहीं रहता। आपकी सेवा ही मेरे लिये परम लाभ है, क्योंकि आप महाराजसाहबके निजी मन्त्री हैं और महाराजसाहब परम ज्ञानी, परम भक्त, महात्मा पुरुष हैं।' दीवानसाहबने पुनः अत्यन्त आग्रहपूर्वक कहा—'हमारे संतोषके लिये ही भेजना चाहिये।' किंतु उसने बिलकुल स्वीकार नहीं किया। तब दीवानसाहबने पूछा—फिर तुम क्यों मेरी सेवा करते हो?' उसने कहा—'आपकी सेवा करते-करते कभी महाराजसाहबके भी दर्शन हो जायँगे—इसलिये करता हूँ।' दीवानसाहब बोले—'महाराजसाहबका दर्शन तो मैं तुम्हें कल ही करवा दूँगा। कल दोपहरमें एक बजे महाराजसाहबके दरबारमें मुझे जल पिलानेके लिये गिलास लेकर चले आना।' 'बहुत अच्छा' कहकर उसने वैसा ही किया। वह दूसरे दिन ठीक समयपर जलका गिलास लेकर पहुँचा और मन्त्रमुग्धकी भाँति

महाराजसाहबकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखने लगा। महाराजसाहबकी दृष्टि उसपर पड़ी। उन्होंने दीवानसे पूछा—'यह कौन है? क्यों आया है?' दीवानने कहा—'सरकार! मैं आज शीघ्रतामें बिना ही जल पीये आ गया था, अतः यह मुझे जल पिलाने आया है। मेरे यहाँ काम करता है।' महाराजसाहबकी अनुमतिसे दीवानने जल पी लिया। रामू वहाँ था ही, उसका वदन भगवान्‌की कृपासे बड़ा ही सुन्दर था और आज तो वह महाराजके दर्शन पाकर हर्ष-गद्‌गद हो रहा है। उसके मुखपर आनन्दकी अमित रेखाएँ छा रही थीं। महाराज उसकी गतिविधिकी ओर देखते रहे। पता नहीं, क्यों उनका आकर्षण हो गया। रामू चुपचाप गिलास माँजने लगा, जूते साफ करने लगा, इधर-उधर सफाईमें लग गया। पर उसके नेत्रभ्रमर महाराजके मुख-कमलपर ही लगे रहे। तब महाराजसाहबने दीवानसे कहा—'यह लड़का तो बहुत अच्छा मालूम होता है, बिना कहे ही काम करता है और बड़ी सफाई तथा व्यवस्थासे सब काम कर रहा है। बुद्धिमान् भी है। इसको क्या वेतन देते हो?' दीवान बोले—'सरकार! यह बहुत आग्रह करनेपर भी वेतन लेता ही नहीं।' यह सुनकर महाराजको बहुत आश्चर्य हुआ और उन्होंने रामूको पास बुलाकर पूछा—'भैया! तुम बिना वेतन लिये इतनी तत्परतासे किस उद्देश्यसे सेवा करते हो?' रामूने उत्तर दिया—'सरकार! श्रीमान्‌के दर्शनके उद्देश्यसे। आज श्रीमान्‌के मङ्गलमय दर्शन पाकर मैं कृतकृत्य हो गया।' महाराजसाहबने कहा—'जब ऐसी बात है, तब तुम हमारे ही यहाँ रहो।' यह सुनकर रामूको बहुत हर्ष हुआ और वह बोला—'इससे बढ़कर मेरे लिये परम लाभ और क्या होगा। सरकार! मुझे

श्रीमान्‌की चरणसेवाका सौभाग्य मिल जाय तब तो मेरा जीवन ही सफल हो जाय ।' तब महाराजसाहबने दीवानसे कहा—'इस नौकरको हम अपनी सेवामें रखना चाहते हैं ।' दीवानको रामू बहुत प्रिय था । वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे; अतः उन्होंने कहा—'मैं दूसरा अच्छा नौकर आपको दे दूँगा ।' किंतु महाराजने पुनः रामूके लिये ही अपनी प्रबल इच्छा प्रकट की । दीवान तो सम्मत होते ही । रामूको महाराजसाहबके यहाँ सहज ही स्थान मिल गया ।

रामू महाराजसाहबकी सेवा बड़े ही उल्लास, श्रद्धा, दक्षता, प्रेम और उत्साहके साथ बड़ी लगनसे करने लगा । महाराजसाहब उसकी सेवासे संतुष्ट हो गये । उन्हें यह अनुभव होने लगा कि ऐसी सेवा कोई नौकर तो कर ही नहीं सकता । अपना सत्-पुत्र भी नहीं कर सकता । महाराजसाहब प्रसन्न होकर उसे सेवाके बदले बहुत बड़ी संख्यामें पुरस्कार देने लगे, कुछ धनराशि घरपर भेज देनेके लिये भी उन्होंने बहुत आग्रह किया । किंतु रामूने नम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए कहा—'सरकार ! श्रीमान्‌की कृपासे घरपर सब कुछ है । मैं धनराशिके लिये श्रीमान्‌की चरण-सेवा नहीं करता हूँ । श्रीमान्‌की सेवारूप परम लाभ ही मेरे लिये महान् पुरस्कार है । श्रीमान् महात्मा, ज्ञानी, परम भक्त और महापुरुष हैं । श्रीमान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्शसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है । फिर सेवाकी तो बात ही क्या है । मैं तो श्रीमान्‌के दर्शनसे ही कृतकृत्य हो चुका हूँ । अब तो श्रीमान्‌ने सेवाका सौभाग्य दे दिया । इसके अतिरिक्त अब और क्या पाना शेष रह गया । मैं तो कृतार्थ हो चुका श्रीमान् !'

महाराजसाहब बोले—'मेरे संतोषके लिये जो तुम्हारी इच्छा हो मुझसे माँग लो।' महाराजसाहबने सोचा कि 'यह अधिक-से-अधिक राज्य भी माँग लेगा तो कोई हर्ज नहीं, यह मेरे पुत्रकी जगह रहेगा।' रामूने उत्तरमें कहा—'श्रीमान्! आप देनेका इतना आग्रह करते हैं तो कृपा करके यह निश्चयपूर्वक कह दें कि न तो श्रीमान् कभी मुझे अलग करेंगे और न श्रीमान् ही कभी मुझसे अलग होंगे।' महाराजसाहबने गद्गद होकर कहा—'भैया! मुझे स्वीकार है, स्वीकार है!'

तदनन्तर रात्रिमें जब महाराजसाहब अन्तःपुरमें पधारने लगे, तब रामू भी उनके पीछे-पीछे जाने लगा। राजाने कहा—'तुम कहाँ जाते हो?' रामू बोला—'जहाँ श्रीमान् रहेंगे वहीं तो मैं रहूँगा, क्योंकि श्रीमान् मुझे यह वर दे चुके हैं।' महलमें पहुँचकर राजाने रानीसे कहा—'लो, यह तुम्हारे लिये मैं सुपुत्र लाया हूँ।' रानी बहुत ही प्रसन्न हुई, क्योंकि उनके संतान नहीं थी। अब वे उसीको अपना लड़का मानने लगीं। वह बालक भी राजा-रानीको ही पिता-माता समझकर उनकी खूब सेवा करने लगा।

एक दिन राजाने रामूसे प्रस्ताव किया कि हम वनमें जाकर एकान्तमें रहेंगे। तुम यहाँ रहकर राज्य करो। पर उसने अस्वीकार कर दिया और कहा—'श्रीमान्‌ने मुझको वर दिया है कि न कभी मुझे श्रीमान् अलग करेंगे और न श्रीमान् ही कभी अलग होंगे। यदि श्रीमान् वनमें जायँगे तो मैं भी श्रीमान्‌के साथ ही रहूँगा।' महाराजसाहब बोले—'हम दोनों वनमें चले जायँगे तो फिर राज्य

कौन सँभालेगा ?' लोभशून्य त्यागमूर्ति रामूने कहा—'राज्य दीवान-साहबको दे दीजिये ।' राजाने उसका निष्कामभाव देखकर राज्यमें रहना ही स्वीकार कर लिया और कहा—'मैं तुमको युवराजपदपर अभिषिक्त करना चाहता हूँ ।' रामूने कहा—'राज्यपदपर तो श्रीमान् ही रहिये । इसके लिये तो मुझे क्षमा करनी होगी । इसके सिवा मुझे श्रीमान् जो भी आज्ञा करेंगे, मैं सब तरहसे उसका पालन करूँगा ।'

फिर महाराजसाहबने कहा—'बहुत-से सरकारी कागजोंपर मुझे नित्य अपनी स्वीकृति देनेके लिये हस्ताक्षर करने पड़ते हैं, मैं थक जाता हूँ, यह काम तुम कर दिया करो ।' महाराजकी प्रसन्नताके लिये रामूको यह स्वीकार करना पड़ा । राजाने राजसभामें घोषणा कर दी कि आजसे इसकी सही मेरी सही समझी जायगी ।

तत्पश्चात् एक दिन राजाने उससे कहा—'राजसभामें मुझे नित्य जाना पड़ता है । मेरा शरीर अब अशक्त हो गया । अतः वह काम भी तुम ही कर लिया करो ।' उनका आग्रह होनेपर उस कार्यको भी वह करने लगा । वह राजसभामें जाकर वहाँ सब काम देखने तथा स्वीकृति प्रदान करनेके लिये कागजोंपर हस्ताक्षर करने लगा । युवराजपद न लेकर भी वह महाराजसाहबके आज्ञानुसार सब कार्य करने लगा ।

उस दिन वह दीवानसाहबके पहुँचनेके पहले ही राजसभामें चला गया । जब दीवानसाहब राजसभामें प्रवेश कर रहे थे, तब रामू उनके चरणोंमें गिर गया । दीवानने कहा—आप युवराज हैं, आपको

ऐसा नहीं करना चाहिये ।' वह बोला—'मैं तो आपके जूठे बरतन माँजनेवाला आपके चरणोंका सेवक हूँ ।' दीवानने कहा—'अब आप युवराजपदको प्राप्त हो गये हैं, ऐसा न कहिये।' रामू बोला—'यह सब तो आपकी कृपा है । मैं तो आपका सेवक ही रहा हूँ और सेवक ही रहूँगा ।' ऐसा कह वह दीवानसाहबका हाथ पकड़कर राज-सिंहासनकी ओर ले जाने लगा । दीवानने कहा—'यह तो आपके लिये है, मैं तो इस सिंहासनका सेवक हूँ ।' यों कह वे राजसिंहासन-को नमस्कार करके आगे नहीं बढ़े, अपने स्थानपर ही रुक गये।

इसके बाद जब रामूने पेशकारको दूरसे आते देखा तो उसने उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया । पेशकार बहुत ही संकोचमें पड़ गया और बोला—'राजकुमारसाहब ! आप यह क्या करते हैं, यह क्या करते हैं ?' रामूने कहा—'मैं तो आपके जूठे बरतन माँजनेवाला आपके चरणोंका सेवक हूँ !' पेशकारने कहा—'भगवान्‌की कृपासे अब आप राज्यके स्वामी हैं। आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये ।' रामूने कहा—'यह सब आपकी कृपाका फल है। आपका तो मैं सेवक ही रहा और सेवक ही हूँ ।' ऐसा कह रामू पेशकारको भी हाथ पकड़कर राजसिंहासनपर ले जाने लगा। पेशकार बोला—'मैं राजसिंहासनपर कैसे बैठ सकता हूँ । वह तो महाराजसाहबका सिंहासन है । आप ही उसके अधिकारी हैं, मैं नहीं ।' किंतु रामू उसको आदरपूर्वक खींचने लगा । तब दीवान-साहबने रोककर कहा—'इस स्थानपर तो हम भी नहीं जा सकते, फिर यह बेचारा कैसे जा सकता है । अतः आपको आग्रह नहीं करना चाहिये ।' पेशकार वहीं रुक गया ।

एक दिन पेशकारका नौकर, रामूका मित्र गोपाल आया तो उसको देखकर रामू दौड़ पड़ा और उसके चरणोंमें जा गिरा। गोपालने बहुत संकोचमें पड़कर कहा—'यह आप क्या कर रहे हैं! मैं तो एक तुच्छातितुच्छ चाकर हूँ।' रामू बोला—'यह सब आपकी ही कृपा है। आपका तो मैं छोटे भाईकी भाँति मित्र ही रहा और मित्र ही हूँ।' यों कह रामू गोपालको खींचकर सिंहासनपर बैठानेके लिये ले जाने लगा; पर वह कैसे जाता, वह अपने स्थानपर ही रुक गया।

यह एक दृष्टान्त है। इसको अध्यात्मविषयमें यों समझना चाहिये—यहाँ ज्ञानी महात्मा परम भक्त महापुरुष राजासाहबको परमात्मा, दीवानसाहबको अधिकारी भगवत्प्राप्त पुरुष, पेशकारको उच्चकोटिका साधक एवं पेशकारके नौकरको साधक पुरुषोंका सेवक समझना चाहिये। राजसभाको भगवान्‌का परम धाम और रामू कहारको निष्काम प्रेमी विनयी सेवकके रूपमें उच्चकोटिका साधक भक्त समझना चाहिये। रामू कहारकी क्रमशः एकके बाद एक होनेवाली उन्नतिको—उसके आगे बढ़नेको साधनकी क्रमोन्नति और उसे युवराजपद प्राप्त होनेको ही परमपदकी प्राप्ति होना समझना चाहिये।

इस दृष्टान्तसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जिस प्रकार उस रामूने अपने लौकिक गृहस्थ-निर्वाहके लिये उपयोगी धनराशिको भी ठुकरा दिया और सब क्रियाओंके फलस्वरूप प्राप्त हुए युवराजपदका भी आदर नहीं किया, वरं अपने लिये पेशकारकी सेवा प्राप्त होना भी महान् सौभाग्य समझा, इसी प्रकार हमलोगोंको भगवद्-

भक्तिरूप साधनमें सांसारिक प्रलोभनोंको ठुकराकर भगवान्‌के दासानुदासकी भी सेवाको आदर देना चाहिये । जैसे रामूने दीवानसाहबको आदर दिया, उसी प्रकार हमें भगवान्‌के परम भक्त पुरुषोंका विशेष आदर करना चाहिये । फिर साक्षात् भगवान्‌का आदर करनेकी तो बात ही क्या है ? और जैसे रामूने महाराजसाहबका आदर किया, उसी प्रकार निष्कामभाव और विनयपूर्वक भगवान्‌का सबसे बढ़कर आदर करना चाहिये । जैसे रामू कहार युवराज-पदपर स्थित होकर भी दीवान और पेशकारका विशेष आदर करता रहा और केवल उनके साथ ही नहीं, उनके नौकरके साथ भी उसका पहले-जैसा ही मित्रताका भाव रहा, वैसे ही हमें जिनके सम्बन्धसे परमपदकी प्राप्ति हो, उन अपनी सहायता करनेवालोंके उपकारको कभी नहीं भूलना चाहिये; उनको पूज्यभावसे अपने हृदयमें स्थान देना चाहिये और सदा उनका आदर करना चाहिये; क्योंकि उच्चकोटिके पुरुष सदा सबका आदर करते हैं । भगवान् भी सम्मानके योग्य होकर भी स्वयं मान नहीं चाहते, दूसरोंको ही मान देते हैं—

'अमानी मानदो मान्यः ।'

(महा० अनुशासन० १४९ । ९३ का प्रथम चरण)

'भगवान् मान्य होनेपर भी स्वयं अमानी हैं और दूसरोंको मान प्रदान करते हैं ।' इसलिये हमें भी स्वयं मान न चाहकर दूसरोंको ही मान देना चाहिये ।

उपर्युक्त रामू कहारके दृष्टान्तसे साररूपमें विनय, प्रेम और निष्कामभावयुक्त आदर्श सेवाकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और जीवनमें उसका अनुकरण करना चाहिये ।

यह है फलकी ओर दृष्टि न रखकर कर्तव्य-पालन करते रहना। इससे भी बढ़कर वह है जहाँ साध्यकी अपेक्षा भी साधनको ही विशेष आदर दिया जाता है। शास्त्रोंमें मुक्तिके लिये स्त्रियोंको पातिव्रत-धर्मका पालन और पुरुषोंको माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवा करना सर्वोत्तम साधन माना गया है।

पातिव्रत-धर्मके विषयमें स्त्रियोंको पद्मपुराणके सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें नरोत्तम ब्राह्मणकी कथाके प्रसङ्गमें वर्णित 'शुभा' नामकी पतिव्रताका तथा पद्मपुराणके भूमिखण्डके अ० ४१ से ५८ तक वर्णित कृकलवैश्यपत्नी 'सुकला' पतिव्रताका आख्यान देखना चाहिये।

माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवाके विषयमें श्रीमनुजीने बतलाया है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीँल्लोकान् विजयेद् गृही।
(मनु० २। २३०, २३२ का पूर्वार्ध)

'माता, पिता और आचार्य—ये ही तीनों भूः, भुवः और स्वः लोक हैं। ये ही तीनों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम हैं। ये ही तीनों ऋक्, यजुः और सामवेद हैं तथा ये ही तीनों दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय अग्नि हैं। इन तीनोंकी सावधानीपूर्वक सेवासे गृहस्थी मनुष्य तीनों लोकोंको जीत लेता है।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(मनु० २। २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कर्तव्य समाप्त हो जा
है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता । यही साक्षात् प
धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं ।'

सुना गया है कि दक्षिणमें पुण्डलीक नामके एक माता-पिता
भक्त हुए हैं । उन्होंने जब माता-पिताकी सेवाका प्रभाव और माहात्म्
समझा, तब वे अनन्य भावसे अपने माता-पिताकी सेवा करने लगे
वे बादमें माता-पिताके साथ पण्ढरपुरमें जाकर रहने लगे थे।
प्रातःकाल उठकर शौच-स्नान करके माता-पिताकी सेवा किया कर
थे । माता-पिताको शौच-स्नान कराकर अपने हाथसे भोजन बना
खिलाया करते थे और उनके भोजन करनेपर भोजन करते थे
उनके जूँठे बरतन माँजते, उनको पहननेके लिये सुन्दर वस्त्र दे
और सोनेके लिये बढ़िया शय्या—पलंग और बिछौने दिया कर
थे । उनके चरण दबाना, पानी पिलाना, पंखा करना आदि ऋतु
अनुकूल हर प्रकारसे वे माता-पिताको सुख पहुँचाया करते थे।
प्रकार माता-पिताकी सेवाके ही परायण रहते थे ।

एक दिन स्वयं भगवान् उनसे मिलनेके लिये आये और उन
पीछे खड़े हो गये । भगवान्‌ने कहा—'पुण्डलीक ! मैं भगवान्
हूँ । तुमसे मिलनेके लिये आया हूँ ।' पुण्डलीकने इशारेसे चुप रह
को कहकर बताया कि मेरे माता-पिता दोनों मेरी जाँघोंपर सिर र
सोये हैं; ये जग जायँगे । आप चुप रहिये । माता-पिताके ज
बाद मैं मिलूँगा । आप बैठिये । ऐसा कह उन्होंने भगवान्
आसनके लिये एक ईंट अपने पीछे रख दी । भगवान् बोले—

तुमसे मिलने आया और तुमको मुझसे मिलनेका अवकाश ही नहीं है ?' पुण्डलीकने कहा—'मैंने तो आपको बुलाया नहीं। आप असमयमें क्यों पधारे ? आपको समय देखकर आना चाहिये था।' भगवान् बोले—'पुण्डलीक ! तुम माता-पिताके भक्त हो। इसलिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ।' तब पुण्डलीकने कहा—'क्या माता-पिताकी सेवाका इतना प्रभाव है, जो आपको बिना बुलाये आना पड़ा।' भगवान् बोले—'हाँ, माता-पिताकी सेवाका तो ऐसा ही प्रभाव है।' तब पुण्डलीकने कहा—'जब ऐसा प्रभाव है, तब आप ही बतलाइये, मैं माता-पिताकी सेवाको छोड़कर आपसे कैसे मिलूँ ? आप कुछ काल प्रतीक्षा करें।' तब भगवान् प्रसन्न होकर उसके सम्मुख आ गये और बोले—'तुमने माता-पिताकी सेवाको मुझसे भी बढ़कर समझा, इसलिये मैं तुम्हारे इस कार्यको देखकर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारी इच्छा हो सो वर माँगो।' पुण्डलीकने यही वर माँगा—'मेरा माता-पिताकी सेवामें परम अचल श्रद्धा-प्रेम बना रहे।' भगवान्‌ने 'तथास्तु'—'ऐसा ही हो'—कहकर पुण्डलीकको वर प्रदान किया।

जिस प्रकार मातृ पितृ-भक्त पुण्डलीकने माता-पिताकी सेवारूप साधनको परमात्माकी प्राप्तिरूप साध्यसे भी अधिक आदर दिया, इसी प्रकार हमलोगोंको ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि साधनोंको परमात्माकी प्राप्तिसे भी अधिक आदर देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि परमात्माकी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उनमेंसे हम जो भी साधन करें, उसे अतिशय श्रद्धा, प्रेम और विनयपूर्वक निष्काम तथा

गुप्तभावसे निरन्तर कर्तव्य समझकर करें, उसके फलकी ओर क
ताकें भी नहीं। यदि अपने साधनमें कमी हो तो उसकी सँभाल त
पद-पदपर करनी चाहिये।

यदि हम ज्ञानयोगका साधन कर रहे हैं तो हमें उचित है कि ज्ञानयोगके साधन जो कुछ विस्तारसे गीता अ० १८ श्लोक ५० से ५५ तक बतलाये गये हैं, उनपर दृष्टि डालकर विचार करें। यदि अपने साधनमें उनमेंसे किसी अङ्गकी कमी हो तो उसकी पूर्तिके लिये विशेष जोर लगाना चाहिये। किंतु उस साधनका फल जो परमात्मा की प्राप्ति है, उसकी ओर ध्यान नहीं रखना चाहिये।

इसी प्रकार भक्तियोगके साधकको समझना चाहिये। गीताके बारहवें तथा पंद्रहवें अध्यायमें भक्तियोगका साधन बतलाकर उस भक्तियोगीके लिये भगवान्‌ने सोलहवें अध्यायमें दैवी-सम्पदाके लक्षण बतलाये हैं। इसलिये भक्तियोगीमें दैवी-सम्पदाके लक्षण अवश्य होने चाहिये। भगवान्‌ने गीता अ० ९ श्लोक १३-१४ में कहा भी है-

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'कुन्तीपुत्र! दैवी-प्रकृतिके आश्रित महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षर-स्वरूप जानकर अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढ़निश्चयवाले भक्त-जन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्ति

के लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ।'

अतः भक्तियोगीको गीता अ० १६ श्लोक १-२-३ में बतलाये हुए दैवी-सम्पदाके लक्षणोंको देखकर अपनेमें जिन लक्षणोंकी कमी हो, उसकी पूर्ति करनी चाहिये और फलकी ओर न देखकर अपने साधनमें संलग्न रहना चाहिये ।

कर्मयोगीके लिये तो कर्मोंको करना ही प्रधान बतलाया गया है, किंतु वे कर्म निष्कामभावसे होने चाहिये । यदि कहीं निष्काम-भावमें कमी हो तो उसकी पूर्ति करनी चाहिये, फलकी ओर दृष्टि नहीं रखनी चाहिये । कर्मयोगके विषयमें गीता अ० २ श्लोक ४० से ७२ तक तथा गीता अ० ३ सम्पूर्ण एवं इन सबका सार जो गीतातत्त्वविवेचनी टीकामें अ० ३ श्लोक २९ का ३० वें श्लोकके साथ सम्बन्ध बतलाते हुए दिखलाया गया है उसे समझकर तत्परता-पूर्वक साधन करना चाहिये । इसी प्रकार अन्य सब साधनोंके विषयमें समझना चाहिये ।

यदि साधक किसी भी प्रकारका साधन करते हुए उस साधन-के फलको तो नहीं चाहता, किंतु यह समझता है कि साधनका फल तो भगवान् स्वयं ही देंगे अथवा साधन करनेसे उसका फल अपने-आप प्राप्त होगा तो विचार करनेपर पता लगता है कि यह भी कर्म-फलका हेतु होनेके कारण फलकी सूक्ष्म वासना ही है । अतः इस प्रकारकी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये, वरं अपने साधनको अपना परम कर्तव्य समझकर ही करना चाहिये ।

निष्कामताके लिये भक्त प्रह्लादका चरित्र साधकोंके लिये बड़ा ही उत्तम आदर्श है। वे भगवान्‌की भक्तिमें ही अत्यन्त तल्लीन थे। एक दिन हिरण्यकशिपुने पूछा—'प्रह्लाद ! इतने दिनोंमें तुमने गुरुजीसे जो शिक्षा प्राप्त की है, उसमेंसे जो तुमको सबसे बढ़कर अभीष्ट हो, वह हमें सुनाओ।' इसपर प्रह्लादने उत्तर दिया—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३-२४)

'भगवान् विष्णुके नाम, गुण, लीला आदिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा और वन्दना तथा उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनभाव—इस प्रकार यदि भगवान्‌के प्रति समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति की जाय तो मैं उसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ।'

प्रह्लादजीकी यह बात सुनते ही क्रोधके मारे हिरण्यकशिपुके ओठ फड़कने लगे और फिर वह कहने लगा—'दैत्यो ! इसे यहाँसे बाहर ले जाओ और किसी भी उपायसे मार डालो; क्योंकि यह स्वजनका बाना पहनकर मेरा कोई शत्रु ही आया है।' यों कहकर उसने प्रह्लादको बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे कुचलवाया, विषधर साँपोंसे डँसवाया, पहाड़की चोटीसे नीचे डलवाया, विष पिलवाया, खाना बंद करवा दिया, समुद्रमें डलवाया, आँधीमें छुड़वा दिया तथा पर्वतों-

के नीचे दबवा दिया और धधकती आगमें जलवाया आदि-आदि; किंतु इनमेंसे किसी भी उपायसे उन्हें वह न मार सका। प्रह्लादजी-का चित्त उन मन-वाणीके अगोचर सर्वात्मा समस्त शक्तियोंके आधार परब्रह्म परमात्मामें लगा हुआ था। इसलिये उनके ऊपर किये हुए सारे प्रहार निष्फल हो गये। यद्यपि हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादको मारनेके लिये अनेक प्रयत्न किये गये, जिनका विस्तृत वर्णन भागवत स्क० ७ अ० ५ में और विष्णुपुराण अंश १ अ० १७-१८ में आता है; किंतु उन्होंने कहीं भी अपनेको बचानेके लिये या अपने अन्य किसी कार्यके लिये भगवान्‌से याचना नहीं की। जब भगवान्‌ने नृसिंहरूपमें प्रकट होकर हिरण्यकशिपुको मार डाला, तब उन्होंने प्रह्लादसे कहा—'प्रह्लाद! मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मुझसे वर माँग लो।' इस प्रकार प्रलोभनमें डालने-वाले वरोंके द्वारा प्रलोभित किये जानेपर भी भगवान्‌के अनन्यप्रेमी भक्त प्रह्लादने उनकी इच्छा नहीं की; बल्कि वरदान माँगनेको भक्तिमें विघ्न समझकर यही कहा—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। ४ का उत्तरार्ध)

'प्रभो! आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला केवल बनिया है।'

'मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। जैसे राजा और उनके सेवकोंका प्रयोजनको लेकर स्वामी-सेवक का सम्बन्ध रहता है, वैसा आपका और मेरा सम्बन्ध नहीं है।

इसलिये वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ स्वामिन् ! यदि आप मुझे मेरा अभिलषित वर देना चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो,—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥
(श्रीमद्भा० ७।१०।७)

'क्योंकि हृदयमें किसी प्रकारकी भी कामनाका उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति, सत्य——ये सब-के-सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। तथा जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहनेवाली कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त होनेके योग्य हो जाता है।'

भक्त प्रह्लादका कैसा उत्तम निष्कामभाव है ! जिस प्रकार प्रह्लादजीने निष्कामभावसे भगवान्‌की भक्ति की, इसी प्रकार हमलोगोंको भी, हम जो भी साधन करें उसमें उच्चकोटिका निष्कामभाव रखना चाहिये।

इस प्रकार जो साधक निष्कामभावपूर्वक साधन करता है, साधनके फलकी ओर दृष्टि न डालकर, अपना कर्तव्य समझकर साधन करता है और साध्यकी अपेक्षा भी साधनको विशेष आदर देता है, उसका साधन बहुत शीघ्र उत्तरोत्तर तीव्र होने लगता है और वह शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सर्वधर्मपरित्यागका रहस्य

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे ये चार बातें कही हैं—

(१) तू सम्पूर्ण धर्मोंका मुझमें त्याग कर दे।

(२) तू केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा।

(३) मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

(४) तू शोक मत कर।

अब यहाँ इनमेंसे प्रत्येकपर क्रमशः विचार किया जाता है।

१. तू सम्पूर्ण धर्मोंका मुझमें त्याग कर दे

यहाँ 'सर्वधर्मान्परित्यज्य'का अर्थ 'सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर' किया जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि भगवान्ने गीता ६। १ में 'अनाश्रितः कर्मफलम्' कहकर यह आदेश दिया ही है। किंतु इस प्रकरणमें उससे और भी विशेषता है। १८ वें अध्यायके ५६ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।' इस प्रकार यहाँसे

शरणागतिका प्रकरण प्रारम्भ करके भगवान् ५७ वें श्लोकमें मुख्यतया अर्जुनको आज्ञा देते हैं—'अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ।' अतः इस प्रकरणके अनुसार 'सर्वधर्म' का अर्थ है 'सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्म' और 'परित्यज्य' का अर्थ है 'उन सब कर्मोंको सब ओरसे (अच्छी प्रकार) भगवान्में अर्पण करके ।' सब ओरसे सब कर्मोंको भगवान्में अर्पण करनेकी विधि गीता ९ । २७ में बतलायी गयी है, जिसका फल ९ । २८ में भगवान्की प्राप्ति होना बतलाया गया है । इसलिये १८ । ५७ के कथनानुसार 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का अर्थ 'सब शास्त्रविहित कर्मोंको भगवान्में अर्पण करना' अधिक युक्तिसंगत है ।

कितने ही विद्वानोंका कथन है कि 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' कहकर भगवान्ने स्वरूपसे समस्त धर्मोंका त्याग बतलाया है । किंतु ऐसा अर्थ युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि अर्जुनने भगवान्की आज्ञासे युद्ध ही किया, सर्वथा स्वरूपसे कर्मोंका त्याग नहीं किया । दूसरे महानुभाव कहते हैं कि 'अपने कर्तव्य-कर्मोंको करता हुआ उसमें अकर्तृत्वबुद्धि रखे'—यही इस पदका आशय है । पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा कथन ज्ञानयोग (सांख्ययोग) की दृष्टिसे सम्भव है, किंतु यहाँ प्रकरण भक्तियोगका है । कारण, भगवान्ने इससे पूर्व १८ । ६५ में यह स्पष्ट कहा है कि 'तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर ।'

२. तू केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा

एक भगवान्की शरणमें जाना क्या है ? भगवान्ने अर्जुनको १८ । ६५ में जो आदेश दिया है, वही शरणका प्रकार है; क्योंकि यहाँ 'शरण' का वही अर्थ लेना चाहिये, जो भगवान्ने गीतामें लिया हो । गीता ९ । ३२ में भगवान् कहते हैं—'अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हो, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ।' यहाँ भगवान्ने शरणका महत्त्व और फल तो कहा, किंतु शरणका स्वरूप नहीं बतलाया । अतः ९ । ३४ में शरणका स्वरूप बतलाते हुए शरण आनेके लिये अर्जुनको आदेश देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ।'

ठीक यही आधा श्लोक १८ । ६५ में ज्यों-का-त्यों है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि १८ । ६५ में अनन्य शरणका स्वरूप बतलाकर १८ । ६६ में भगवान्ने अपनी शरणमें आनेके लिये अर्जुनको आदेश दिया है ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि १८ । ६५ में जो बात कही गयी है, वह अनन्यभक्तिकी है या अनन्यशरणकी ? इसका उत्तर यह है कि अनन्यभक्ति और अनन्यशरण एक ही वस्तु है; क्योंकि

गीतामें जहाँ अनन्यभक्तिका स्वरूप बतलाया गया है, वहाँ शरण उसके अन्तर्गत आ जाती है और जहाँ शरणका वर्णन है, वहाँ अनन्यभक्ति उसके अन्तर्गत आ जाती है। जैसे गीता ११।५४ में अनन्यभक्तिका माहात्म्य बतलाकर ५५ में उसका स्वरूप बतलाते हुए यही कहा है—

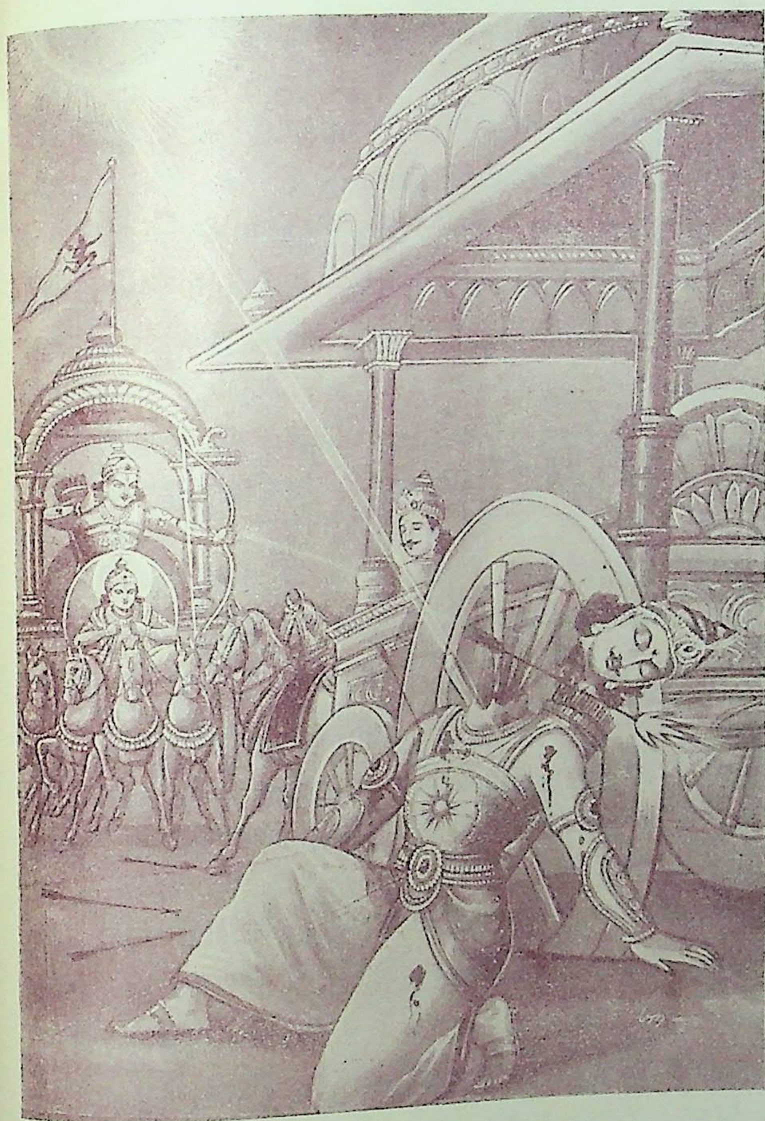
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

यह 'अनन्यभक्ति'का वर्णन करते हुए जो 'मत्परमः'—'मेरे परायण' कहा गया है, इससे शरणागतिके भावको भक्तिके अन्तर्गत बतलाया गया है।

इसी प्रकार ९।३४ में 'अनन्यशरण'का स्वरूप बतलाते हुए भगवान्‌ने 'मद्भक्तः' कहकर भक्तिको शरणागतिके अन्तर्गत कह दिया है। अतएव अनन्यभक्ति और अनन्यशरण एक ही वस्तु हैं।

यह अनन्यशरणका विषय बहुत ही गोपनीय है। इसलिये यह भगवान्‌के परम रहस्यकी बात भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुन-जैसे परम अधिकारी प्रेमी भक्तको ही कही गयी है तथा इसे अपात्रको बतलानेके लिये भगवान्‌ने निषेध किया है (गीता १८। ६७)। एवं पात्रको कहनेके लिये प्रेरणा करते हुए उसको



भगवान्‌की आज्ञानुसार अर्जुनके द्वारा कर्णका वध

बतलानेका फल और उसकी महिमाका वर्णन भी किया है (गीता १८ । ६८-६९) ।

इसके सिवा भगवान्‌ने गीतामें जो कुछ भी आदेश दिया है, उसका पालन करना भी भगवान्‌की अनन्यशरण है; क्योंकि गीता २ । ७ में अर्जुनने भगवान्‌के शरण होकर अपना कर्तव्य पूछा, उसपर भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर सारे संसारके हितके लिये गीता-शास्त्रका वर्णन किया । उपदेश देनेके पश्चात् वे अर्जुनसे पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥

(गीता १८ । ७२)

'हे पार्थ ! क्या इस (गीता-शास्त्र) को तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?'

इसके उत्तरमें अर्जुनने कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

(गीता १८ । ७३)

'हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है; अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।'

गीता २ । ७ में अर्जुनने जो कहा था कि मैं किंकर्तव्यविमूढ हो गया हूँ, उसीको लक्ष्य कराते हुए अब यहाँ वे कहते हैं—'नष्टो

मोह:' मैं अब किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हूँ, मेरा वह मोह दूर हो गया है।

भगवान्‌ने पूछा था—'तुमने मेरा उपदेश एकाग्रचित्त होकर सुना है न ?' इसपर अर्जुन कहते हैं—'स्मृतिर्लब्धा'—मैंने सब उपदेश सुना है और वह सब मुझे याद है किन्तु 'त्वत्प्रसादात्'—यह सब मेरी महत्ता नहीं है, आपकी कृपा है।

भगवान्‌ने ४। ४२ में अर्जुनसे कहा था कि 'तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेक-ज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो।' उसीका संकेत करते हुए अर्जुन यहाँ कहते हैं—'स्थितोऽस्मि गतसंदेह:' तथा 'करिष्ये वचनं तव।' 'मैं अब उस संशयसे रहित हो गया हूँ,' एवं अब आपने जो कुछ कहा और कहेंगे, वही करूँगा।' इस प्रकार अर्जुनने उत्तर देकर भगवान्‌ने जैसा कहा था, वैसा ही किया।

इस विषयमें हमें महाभारतके कर्ण-वध-प्रसङ्गपर ध्यान देना चाहिये। जब वीर कर्णके रथका पहिया पृथ्वीमें धँस गया, तब वह तुरंत रथसे उतर पड़ा और अपनी दोनों भुजाओंसे पहियेको ऊपर उठानेका प्रयत्न करने लगा। उस समय उसने अर्जुनकी ओर देखकर कहा—'महाधनुर्धर कुन्तीकुमार! दो घड़ी प्रतीक्षा करो, जिससे मैं इस फँसे हुए पहियेको पृथ्वीतलसे निकाल लूँ। अर्जुन! जो केश खोलकर खड़ा हो, युद्धसे मुँह मोड़ चुका हो, ब्राह्मण हो, हाथ जोड़कर शरणमें आया हो, हथियार डाल चुका हो,

प्राणोंकी भीख माँगता हो, जिसके बाण, कवच और दूसरे-दूसरे आयुध नष्ट हो गये हों, ऐसे पुरुषपर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शूरवीर शस्त्रोंका प्रहार नहीं करते। पाण्डुनन्दन ! तुम लोकमें महान् शूरवीर और सदाचारी माने जाते हो ! युद्धके धर्मोंको जानते हो। वेदान्तका अध्ययनरूपी यज्ञ समाप्त करके तुम उसमें अवभृथ-स्नान कर चुके हो। तुम्हें दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है। तुम अमेय आत्मबलसे सम्पन्न तथा युद्धस्थलमें कीर्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी हो। अतः महाबाहो ! जबतक मैं इस फँसे हुए पहियेको निकाल रहा हूँ, तबतक तुम रथारूढ़ होकर भी मुझ भूमिपर खड़े हुएको बाणोंकी मारसे व्याकुल मत करो, क्योंकि यह धर्म नहीं है।'*

तब रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने कर्णसे कहा—'राधानन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि अब यहाँ तुम्हें धर्मकी बात याद आ रही है। प्रायः यह देखनेमें आता है कि नीच मनुष्य विपत्तिमें पड़नेपर दैवकी ही निन्दा करते हैं, अपने किये हुए कुकर्मोंकी नहीं। कर्ण ! जब वनवासका तेरहवाँ वर्ष बीत जानेपर भी तुमने पाण्डवोंका राज्य उन्हें वापस नहीं दिया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?† जब तुमलोगोंने भीमसेनको जहर मिलाया हुआ अन्न खिलाया और उन्हें सर्पोंसे डँसवाया था,

* देखिये महाभारत कर्णपर्व अ० ९० ।

† वनवासे व्यतीते च कर्ण वर्षे त्रयोदशे ।
न प्रयच्छसि यद् राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥
(महा० कर्ण० ९१ । ४)

लाक्षाभवनमें सोये हुए कुन्तीकुमारोंको जब तुमने जलानेका प्रयत्न कराया था, रजस्वला द्रौपदीको भरी सभामें बुलवाकर जब तुमने उसका उपहास किया और उसकी ओर निकटसे देखा था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? एवं जब युद्धमें तुम बहुत-से महारथियोंने मिलकर बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेरकर मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?* यदि उन अवसरोंपर यह धर्म नहीं था तो आज भी यहाँ सर्वथा धर्मकी दुहाई देकर तालु सुखानेसे क्या लाभ ? सूत ! अब तुम यहाँ धर्मके कितने ही कार्य क्यों न कर डालो, जीते-जी तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता ।'

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी बातोंको सुनकर कर्णने लज्जासे अपना सिर झुका लिया । उससे कुछ भी उत्तर देते नहीं बना । उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! कर्ण जबतक रथपर नहीं चढ़ जाता तबतक ही अपने बाणद्वारा उसका मस्तक काट डालो ।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर अर्जुनने भगवान्‌की उस आज्ञाको सादर शिरोधार्य किया और महान् दिव्यास्त्रसे अभिमन्त्रित अञ्जलिक नामक उत्तम बाणके द्वारा कर्णका सिर काट डाला ।† यद्यपि उस समय शस्त्ररहित पृथ्वीपर खड़े हुए कर्णके धर्मयुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुन बाण चलानेमें हिचकिचा रहा था; फिर

---

* यदाभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः ।
परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥
(महा० कर्ण० ९१ । ११)

† देखिये महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय ९१ ।

भी भगवान्‌के वचनोंको सुनकर उसका सारा संकोच और संदेह निवृत्त हो गया, जिससे उसने निःशङ्क होकर कर्णपर बाणका प्रहार करके उसका सिर काट गिराया।*

इसी प्रकार प्रत्येक भक्तका कर्तव्य भगवदाज्ञापालन ही है। इसीका नाम भगवच्छरणागति है। भगवदाज्ञाके सामने अन्य किसी धर्मको न मानना 'सर्वधर्मपरित्याग' है। ईश्वराज्ञा और धर्मशास्त्रमें

---

* वास्तवमें अर्जुनका कर्णपर बाण चलाना अधर्म नहीं था, क्योंकि आततायीको किसी प्रकार भी मारना धर्मशास्त्रमें न्याय्य बताया गया है और कर्ण आततायी था।

वसिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥
(३। १९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों आततायी हैं।'

तथा मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
(८। ३५०-३५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचारे ही मार डालना चाहिये। आततायीके मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं लगता।'

विरोध-सा प्रतीत होनेपर भगवदाज्ञा ही मुख्य माननीय है, क्योंकि धर्मका तत्त्व गहन है, साधारण पुरुष उसका निर्णय नहीं कर सकता।

भगवान्‌की शरण जाना—यह उत्तम रहस्यकी बात है, जिसे भगवान्‌ने अर्जुन-जैसे परमभक्तके प्रति ही कहा है। भगवान् उस शरणागतिकी महिमा बतलाते हुए स्वयं कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(गीता १८।६४)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा।'

गीतामें भगवान्‌ने गुह्य, गुह्यतर और सर्वगुह्यतम—इस तरह तीन प्रकारकी बातें बतलायी हैं। दूसरे अध्यायके ४० वें श्लोकसे आरम्भ करके तीसरे अध्यायके अन्ततक जिस कर्मयोगका वर्णन किया है, उसको भगवान्‌ने 'गुह्य' उपदेश बतलाया है। वे कहते हैं—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

(गीता ४।३)

'तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग (जिसको मैंने सृष्टिके आदिमें सूर्यसे कहा था, किंतु जो बहुत कालसे पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया था) आज मैंने तुमसे कहा

है, क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है ।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मयोगका विषय उत्तम होते हुए भी 'गुह्य' (गोपनीय) ही है, किंतु ईश्वरकी भक्ति 'गुह्यतर' है, जिसका वर्णन भगवान्‌ने १८ । ६२-६३ में किया है । वहाँ 'गुह्य'——कर्मयोगसे ईश्वर-भक्तिको 'गुह्यतर' बतलाया गया है ।

इसपर यह प्रश्न होता है कि जब ईश्वरकी भक्तिको 'गुह्यतर' कह दिया, तब १८ । ६५-६६ में भी तो ईश्वरकी भक्तिका ही वर्णन है, फिर उसमें सर्वगुह्यतमत्व क्या है ? इसका उत्तर यह है कि वहाँ भगवान्‌का 'वह ईश्वर मैं ही हूँ' इस रहस्यमय बातको प्रकट करके यह कह देना कि तू मुझमें मनवाला हो, एक मेरी ही शरणमें आ जा——यही 'सर्वगुह्यतमत्व' है । यदि कहें कि जब १८ । ६५-६६ में कही हुई बात ही सर्वगुह्यतम है तो ९ । ३४ के पूर्वार्द्धमें भी तो यही बात कही गयी है; फिर वहाँ उसे सर्वगुह्यतम क्यों नहीं बतलाया गया ? तो इसका उत्तर यह है कि वहाँ भी उसे 'गुह्यतम' और 'राजगुह्य' कहकर 'सर्वगुह्यतम' ही बतलाया गया है । भगवान्‌ने कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

(गीता ९ । १-२)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञान-सहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसे जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा। यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।'

इस प्रकार नवें अध्यायमें वर्णित उपदेशको, जिसके उपसंहार (९।३४) में शरणागतिका आदेश है, परम गोपनीय और सब विद्याओंका राजा बतलाया गया है। इसलिये वह सर्वगुह्यतम उपदेश है।

यहाँ एक बात और ध्यान देनेकी है। भगवान्‌ने १८।६१ में ईश्वरकी व्यापकताका तत्त्व बतलाकर ६२ में उसकी शरणमें जानेकी बात कही और ६३ में 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्' अर्थात् यह 'ज्ञान' मैंने तुझसे कह दिया—इस प्रकार इसका नाम 'ज्ञान' बतलाया। इसमें केवल निराकारकी शरणागतिका विषय है, इसलिये इसे केवल 'ज्ञान' और 'गुह्यतर' ही कहा है। किन्तु नवें अध्यायमें वर्णित उपदेशको 'विज्ञानसहित ज्ञान' और 'सर्वगुह्यतम' 'राजगुह्य' बतलाया है। वहाँ प्रथम श्लोकमें विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके ९।४ में निराकारका, ९।२६ में साकारका और ९।१८ में निराकार-साकार सर्वरूपका वर्णन करते हुए यह कहा कि वह सब मेरा ही स्वरूप है। इसी प्रकार सातवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें समग्र स्वरूपका वर्णन सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने अपने परम प्रेमी भक्त अर्जुनके प्रति दूसरे श्लोकमें यही कहा कि

'मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता।' फिर १९ वें श्लोकमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस समग्र रूपको जाननेवाले महात्माको अतिदुर्लभ बतलाया एवं अन्तमें समग्र रूपकी उपासनाका वर्णन करते हुए कहा कि 'जो पुरुष अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण—सब कुछ मैं ही हूँ।' इसीको 'विज्ञानसहित ज्ञान' कहा। अतएव यह सिद्ध हुआ कि सगुण-निर्गुण साकार-निराकाररूप समग्र भगवान्‌का ज्ञान ही 'विज्ञानसहितज्ञान' है और इस विज्ञानसहित ज्ञानको जानकर उनकी सब प्रकारसे शरण ग्रहण करना ही 'सर्वगुह्यतम' है।

यहाँ १८। ६४ में 'मे परमं वचः भूयः शृणु;—मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन' यों कहकर भी भगवान्‌ने यही अभिप्राय व्यक्त किया है कि मैंने नवें अध्यायमें जो बात कही थी, उसी परम रहस्यमयी बातको मैं फिर तुमसे कहता हूँ। तथा 'मे दृढं इष्टः असि', 'तू मेरा अतिशय प्रिय है'—यों कहकर यह बतलाया है कि तू मेरा अत्यन्त प्यारा भक्त है, अतः तू अधिकारी पुरुष है। वहाँ नवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें भी 'अनसूयवे' कहकर यह स्पष्ट कर दिया था कि तुम्हारी मेरे गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं है। अतः तुम अधिकारी पुरुष हो। ऐसे परम प्रेमी अधिकारी भक्त अर्जुनसे ही भगवान् यह सर्वगुह्यतम रहस्य कहते हैं कि 'तुम एक मेरी ही शरणमें आ जाओ।'

३ मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

अर्जुनने पहले अध्यायमें कहा था कि 'जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा (१ । ३६) तथा यह बड़े ही आश्चर्य और शोकका विषय है कि हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं (१ । ४५) ।' इस प्रकार अर्जुनके मनमें जो पाप लगनेकी आशङ्का थी, उसकी निवृत्तिके लिये ही भगवान्‌ने २ । ३८ में यह कहा था कि 'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा । इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ।'

अब भगवान् यहाँ १८ । ६६ में कहते हैं कि यदि तू पाप समझता है तो तू सब धर्मोंका मुझमें त्याग करके मेरी शरणमें आ जा, मैं गारंटी देता हूँ कि तू जिन-जिन कर्मोंमें पाप समझता है, उन सभी पापोंसे मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा ।

४. तू शोक मत कर

मोहके कारण अर्जुनको बन्धु-बान्धवोंके वध करनेके विषयमें शोक हो रहा था, उसीकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायमें उसको उपदेश दिया । वहाँ भगवान्‌ने कहा—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

(गीता २ । ११)

'अर्जुन ! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंकी-सी बातें कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

यदि तू इन सबके शरीरोंकी ओर विचार करके शोक करता है तो उन शरीरोंके लिये शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २। २८)

'अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; ऐसी स्थितिमें शोक क्या करना है।'

अतः स्वभावतः नाशवान् होनेके कारण शरीरोंके लिये शोक करना व्यर्थ है। यदि आत्माकी दृष्टिसे विचार करें, तो भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २। २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है, न मरता है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह

अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

(गीता २। २४-२५)

'क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है, यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है, इससे हे अर्जुन! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।'

अतः आत्माके लिये भी शोक करना सर्वथा अयुक्त है। यही उपदेश भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ताराको दिया था—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥

(राम० किष्किन्धा० १०। २-३)

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि शरीर या आत्मा, किसीके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है!

यदि तू कहे कि शरीरसे आत्माका वियोग होनेके विषयमें मैं शोक करता हूँ तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २। २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

यदि कहें कि पुराने वस्त्रोंके त्याग और नये वस्त्रोंके धारण करनेमें तो मनुष्यको सुख होता है, किंतु पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहण करनेमें तो क्लेश होता है, अतः यहाँ यह उदाहरण समीचीन नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें यानी मृत्यु और जन्ममें अज्ञानी मनुष्यको ही दुःख होता है और अज्ञानी तो बालकके समान है। धीर, विवेकी और भक्तको शरीर-परित्यागमें दुःख नहीं होता। भगवान्ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

श्रीरामचरितमानसमें भी लिखा है कि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करके वालीने उसी प्रकार देहका त्याग कर दिया था, जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका त्याग कर देता है यानी मृत्युके दुःखका उसे पता ही नहीं लगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग ।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग ॥
(राम० किष्किन्धा० १०)

पुराने वस्त्रोंके त्याग और नये वस्त्रोंके धारण करनेमें भी हर्ष उन्हींको होता है, जो नये-पुराने वस्त्रके तत्त्वको जानते हैं। छः महीने या सालभरके बच्चेकी मा जब उसके पुराने गंदे वस्त्रको उतारती है, तब वह बालक रोता है और नया स्वच्छ वस्त्र पहनाती है, तब भी वह रोता है किंतु माता उसके रोनेकी परवा न करके उसके हितके लिये वस्त्र बदल ही देती है। इसी प्रकार भगवान् भी जीवके हितके लिये उसके रोनेकी परवा न करके उसकी देहको बदल देते हैं। अतः यह उदाहरण यहाँ समीचीन है।

इस प्रकार भगवान्ने बतलाया कि शरीर, आत्मा या शरीरसे आत्माके वियोग—किसीके लिये भी शोक करना उचित नहीं। दूसरे अध्यायके इन्हीं वचनोंका संकेत करके भगवान्ने यहाँ १८। ६६ में अपने प्रभावका दिग्दर्शन कराते हुए अर्जुनको सर्वथा शोक-रहित हो जानेके लिये आश्वासन दिया है कि 'तू शोक मत कर।'

भक्तों और ज्ञानियोंके लिये भी शास्त्रविहित कर्मोंकी परम आवश्यकता

जिन मनुष्योंको शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है और जिनकी शास्त्रोंपर श्रद्धा नहीं है, वे अज्ञ मनुष्य भक्ति अथवा ज्ञानका बहाना बनाकर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं; किंतु श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणोंमें शास्त्रोक्त कर्मोंका त्याग किसीके लिये भी नहीं बतलाया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८।५)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्यकर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये ज्ञानी पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।'

इतना ही नहीं, भगवान्ने इसके लिये यहाँतक कह दिया है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

(गीता १८ । ६)

'इसलिये हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये । यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।'

शास्त्रविहित निष्कामकर्मके बिना तो ज्ञानयोगकी सिद्धि भी सुगमतासे नहीं होती—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।

(गीता ५ । ६ का पूर्वार्ध)

'हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना तो संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग होना भी कठिन है ।'

तथा भक्तियोगमें भी भगवदर्पण किया हुआ कर्म परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला बताया गया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(गीता ९ । २७-२८)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन

करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे । इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे समर्पणयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ।'

अतः ज्ञानयोगी और भक्तियोगी दोनोंके लिये ही शास्त्रविहित कर्मोंकी अत्यन्त आवश्यकता है । फिर इसमें तो कहना ही क्या है कि कर्मयोगीके लिये कर्म अत्यावश्यक है; क्योंकि उसका तो कर्मयोग कर्म किये बिना सिद्ध ही नहीं हो सकता—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

(गीता ३ । ४ का पूर्वार्ध)

'कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य निष्कर्मताको यानी योग-निष्ठाको नहीं प्राप्त होता ।'

इसीलिये योगको प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्य निष्काम कर्म-का आचरण करते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

(गीता ६ । ३ का पूर्वार्ध)

'योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है ।'

ज्ञानयोगकी सिद्धि भी कर्मोंके त्यागसे नहीं हो सकती । भगवान् कहते हैं—

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

(गीता ३ । ४ का उत्तरार्ध)

'केवल कर्मोंके त्यागमात्रसे मनुष्य सिद्धि यानी ज्ञाननिष्ठाको नहीं प्राप्त होता ।'

इसलिये किसी भी दृष्टिसे कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं। कितने ही लोग आसन लगाकर बैठ जाते हैं और परमात्माके ध्यानके बहाने भोली-भाली जनताको ठगते हैं । उनके केवल ऊपरी आसन लगानेके ढंगको देखकर ही भ्रममें पड़कर उनके चंगुलमें नहीं फँसना चाहिये । जो बाहरी इन्द्रियोंको समेटकर भीतरसे विषयोंका चिन्तन करते हैं, उनको तो भगवान्‌ने दम्भाचारी बतलाया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

(गीता ३ । ६)

'जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोक-कर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ।'

कितने ही लोग भक्तिका बहाना लेकर कहते हैं कि 'भक्तको कोई भी कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, भक्तिके प्रभावसे उसके सब कार्य स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं' तथा वे संध्या-गायत्री, यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं। वे यह नहीं समझते कि भक्तिके बहाने शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करने-से मनुष्य पतित हो जाता है । श्रीनारदपुराणमें बतलाया गया है—

नोपास्ते यो द्विजः संध्यां धूर्तबुद्धिरनापदि ।
पाखण्डः स हि विज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥
यस्तु संध्यादिकर्माणि कूटयुक्तिविशारदः ।
परित्यजति तं विद्यान्महापातकिनां वरम् ॥
(ना० पू० २७ । ६७-६८)

'जो धूर्त बुद्धिवाला द्विज आपत्तिकाल न होनेपर भी संध्योपासन नहीं करता, उसे सब धर्मोंसे भ्रष्ट एवं पाखण्डी समझना चाहिये । जो कपटपूर्ण झूठी युक्ति देनेमें चतुर होनेके कारण संध्या आदि कर्मोंको अनावश्यक बताते हुए उनका त्याग कर देता है, उसे महापातकियोंका सिरमौर समझना चाहिये ।'

यः स्वधर्मं परित्यज्य भक्तिमात्रेण जीवति ।
न तस्य तुष्यते विष्णुराचारेणैव तुष्यति ॥
सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥
तस्मात् कार्या हरेर्भक्तिः स्वधर्मस्याविरोधिनी ।
सदाचारविहीनानां धर्मा अप्यसुखप्रदाः ॥
स्वधर्महीना भक्तिश्चाप्यकृतैव प्रकीर्तिता ।
(ना० पू० १५ । १५३—१५६)

'जो स्वधर्मका परित्याग करके भक्तिमात्रसे जीवन धारण करता है, उसपर भगवान् विष्णु संतुष्ट नहीं होते । वे तो धर्माचरणसे ही संतुष्ट होते हैं । सम्पूर्ण आगमोंमें आचारको प्रथम स्थान दिया गया है । आचारसे धर्म प्रकट होता है और धर्मके स्वामी साक्षात् भगवान् विष्णु हैं । इसलिये स्वधर्मका विरोध न करते हुए श्रीहरिकी भक्ति करनी चाहिये । सदाचारशून्य मनुष्योंको धर्म भी

सुख देनेवाले नहीं होते। स्वधर्मपालनके बिना की हुई भक्ति भी नहीं की हुईके समान ही कही गयी है।'

हरिभक्तिपरो वापि हरिध्यानपरोऽपि वा।
भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात् पतितः सोऽभिधीयते॥
(ना० पू० ४। २४)

'भगवान् श्रीहरिकी भक्तिमें तत्पर तथा श्रीहरिके ध्यानमें लीन होकर भी जो अपने वर्णाश्रमोचित्त आचारसे भ्रष्ट हो, उसे पतित कहा जाता है।'

वेदो वा हरिभक्तिर्वा भक्तिर्वापि महेश्वरे।
आचारात् पतितं मूढं न पुनाति द्विजोत्तम॥
(ना० पू० ४। २५)

'द्विजश्रेष्ठ ! वेद, भगवान् विष्णुकी भक्ति अथवा शिव-भक्ति भी आचारभ्रष्ट मूढ़ पुरुषको पवित्र नहीं करती।'

इसलिये भक्तिमार्गपर चलनेवाले मनुष्यको कभी भूलकर भी शास्त्रविहित उत्तम आचरणोंका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो ईश्वर-भक्ति शास्त्रविहित सदाचार-पालनपूर्वक की जाती है, वही प्रशंसनीय और कल्याणकारिणी है। श्रीनारदपुराणमें बतलाया गया है—

ज्ञानलभ्यं परं मोक्षमाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः।
यज्ज्ञानं भक्तिमूलं च भक्तिः कर्मवतां तथा॥
(ना० पू० ३३। २७)

'तत्त्वार्थका विचार करनेवाले पुरुष कहते हैं कि परम मोक्ष

ज्ञानसे ही प्राप्त हो सकता है। उस ज्ञानका मूल है भक्ति और भक्ति प्राप्त होती है अपने कर्तव्यकर्मोंका आचरण करनेवालोंको।'

तथा—

सदाचारपरो विप्रो वर्द्धते ब्रह्मतेजसा।
तस्य विष्णुश्च तुष्टः स्याद् भक्तियुक्तस्य नारद॥
(ना० पू० ३। ७८)

'नारदजी! सदाचारपरायण ब्राह्मण अपने ब्रह्मतेजके साथ वृद्धिको प्राप्त होता है। उस सदाचारी भक्तिसम्पन्न पुरुषपर भगवान् विष्णु बहुत प्रसन्न होते हैं।'

ब्रह्माजीने यज्ञादि कर्मोंकी और प्रजाकी रचना करके मनुष्यों-को कर्म करनेके लिये विशेषरूपसे आज्ञा दी है एवं उन शास्त्रविहित कर्मोंको न करनेवालेको चोर बतलाया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
(गीता ३। १०—१२)

'प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित फलभोग प्रदान करनेवाला हो। तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको

उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याण (मुक्ति) को प्राप्त हो जाओगे। यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको दिये बिना स्वयं भोगता है, वह चोर ही है।'

इतना ही नहीं, भगवान्‌ने उसे पापायु, इन्द्रियाराम और व्यर्थ-जीवन बतलाया है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गीता ३। १६)

'हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।'

यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करके जो अपने इच्छानुसार चलता है, उसकी भगवान्‌ने निन्दा की है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिका त्याग कर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही।'

अतएव जो मनुष्य अपनेको ज्ञानी-महात्मा बताकर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं, वे बेसमझीके कारण गलती करते हैं; क्योंकि—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
(गीता ३ । २० का पूर्वार्ध)

'जनकादि ज्ञानियोंने आसक्तिरहित कर्मके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की है ।'

भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ अर्जुनको यह आदेश दिया है कि तू मेरा भक्त है, इसलिये लोकसंग्रहकी ओर दृष्टिपात करके अर्थात् संसारके हितके लिये भी तुझे कर्म करना ही चाहिये—

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।
(गीता ३ । २० का उत्तरार्ध)

यही नहीं, भगवान् अपना उदाहरण देकर भी वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
(गीता ३ । २२--२४)

'हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म ही करता हूँ; क्योंकि पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान हुआ कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं शास्त्रविहित कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

अतः ज्ञानी पुरुषोंको भी संसारके हितकी दृष्टिसे कर्म अवश्य ही करने चाहिये। अज्ञानी और ज्ञानीके कर्मोंमें अन्तर केवल इतना ही है कि अज्ञानी सकाम मनुष्य कर्मोंमें आसक्त होकर कर्म करते हैं और ज्ञानियोंको अनासक्त भावसे कर्म करने चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(गीता ३। २५)

'हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए (सकाम) अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि जो मनुष्य ज्ञानी बनकर यह कहता है कि मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है और यों कहकर जो कर्मोंकी अवहेलना करता है, वह वास्तवमें ज्ञानी ही नहीं है। श्रीनारद-पुराणमें बताया गया है—

यः स्वाचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदान्तगोऽपि वा ।
स एव पतितो ज्ञेयो यतः कर्मबहिष्कृतः ॥

(ना० पू० ४ । २३)

'जो छहों अङ्गोंसहित वेदों और उपनिषदोंका ज्ञाता होकर भी अपने वर्णाश्रमोचित आचारसे गिरा हुआ है, उसीको पतित समझना चाहिये; क्योंकि वह धर्म-कर्मसे भ्रष्ट हो चुका है ।'

अतः जो भगवान्‌के भक्त हैं, उनको तो शास्त्रविहित कर्मोंको अवश्य ही करना चाहिये । यदि भक्त ही शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देगा तो फिर शास्त्रविहित कर्मोंको करेगा ही कौन ? भक्तके लिये तो निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्मोंको करना श्रेयस्कर है । मुनिवर श्रीसनकजीने नारदसे कहा है—

स्वाचारमनतिक्रम्य हरिभक्तिपरो हि यः ।
स याति विष्णुभवनं यद् वै पश्यन्ति सूरयः ॥

(ना० पू० ४ । २०)

'जो अपने वर्णाश्रमोचित आचारका उल्लङ्घन न करता हुआ ही भगवान्‌की भक्तिमें तत्पर है, वह ही उस वैकुण्ठधाममें जाता है, जिसका दर्शन ज्ञानी भक्तोंको ही सुलभ होता है ।'

स्वाश्रमाचारयुक्तस्य हरिभक्तिर्यदा भवेत् ।
न तस्य त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्त्यजनन्दन ॥

(ना० पू० ४ । ३१)

'नारदजी ! अपने वर्ण और आश्रमके आचारका पालन करनेमें लगे हुए पुरुषको यदि भगवान् विष्णुकी भक्ति प्राप्त हो जाय तो तीनों लोकोंमें उसके समान दूसरा कोई नहीं है ।'

अतः—

वेदोदितानि कर्माणि कुर्यादीश्वरतुष्टये ।
यथाश्रमं त्यक्तुकामः प्राप्नोति पदमव्ययम् ॥

(ना० पू० ३ । ७६)

'कर्मफल-त्यागके इच्छुक पुरुषको तो भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये वेद-शास्त्रोंद्वारा बताये हुए आश्रमानुकूल कर्मोंका अनुष्ठान करना ही चाहिये, इसीसे वह अविनाशी पदको प्राप्त होता है ।'

श्रीमद्भागवतमें श्रीनारदजीने महाराज युधिष्ठिरके प्रति वर्णाश्रम-धर्मका वर्णन करनेके पश्चात् यही कहा है—

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः ।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ् नरः ॥

(७ । १५ । ६७)

'महाराज ! भगवद्भक्त मनुष्य वेदमें कहे हुए इन कर्मोंके तथा अन्यान्य शास्त्रविहित स्वकर्मोंके अनुष्ठानसे घरमें रहते हुए भी भगवान्‌की परम गतिको प्राप्त करता है ।'

तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी भक्त उद्धवके प्रति कहा है—

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः ।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १८ । ४७)

'मैंने तुम्हें जो यह सदाचाररूप वर्णाश्रमियोंका धर्म बतलाया है, यदि इस धर्मानुष्ठानमें मेरी भक्तिका समावेश हो जाय तो इससे (शीघ्र ही) परम कल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ।'

श्रीविष्णुपुराणमें महाराज सगरके प्रति महात्मा और्वके वचन हैं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः ॥
(३ । ८ । ९)

'जो वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाला है, वही मनुष्य परम पुरुष श्रीविष्णुकी आराधना कर सकता है, उनको संतुष्ट करनेका और कोई मार्ग नहीं है ।'

क्योंकि शास्त्रविहित कर्म करनेवाले मनुष्योंपर भगवान् प्रसन्न होते हैं । जो शास्त्रोक्त कर्मोंका त्याग कर देते हैं और भगवान्‌की प्राप्ति चाहते हैं, उनको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती; बल्कि उनसे तो भगवान् बहुत दूर रहते हैं । किन्तु जो शास्त्रविहित उत्तम आचरण करते हुए भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वे ही उनको प्राप्त करते हैं । श्रीनारदपुराणमें बताया गया है—

वेदप्रणिहितो धर्मो वेदो नारायणः परः ।
तत्राश्रद्धापरा ये तु तेषां दूरतरो हरिः ॥
(ना० पू० ४ । १७)

'धर्मका प्रतिपादन वेदमें किया गया है और वेद साक्षात् परम पुरुष नारायणका स्वरूप है; अतः वेदोंमें जो अश्रद्धा रखनेवाले हैं, उन मनुष्योंसे भगवान् बहुत ही दूर हैं ।'

वर्णाश्रमाचाररताः सर्वपापविवर्जिताः ।
नारायणपरा यान्ति यद् विष्णोः परमं पदम् ॥
(ना० पू० २७ । १०६)

'वर्ण और आश्रमसम्बन्धी धर्मके पालनमें तत्पर एवं सारे पापों-से रहित नारायणपरायण भक्त ही भगवान् विष्णुके परम धामको प्राप्त होते हैं ।'

वर्णाश्रमाचाररता भगवद्भक्तिलालसाः ।
कामादिदोषनिर्मुक्तास्ते सन्तो लोकशिक्षकाः ॥

(ना० पू० ४ । ३४)

'जो वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके पालनमें तत्पर, भगवद्भक्तिके सच्चे अभिलाषी तथा काम, क्रोध आदि दोषोंसे मुक्त हैं, वे ही सम्पूर्ण लोकोंको शिक्षा देनेवाले संत हैं ।'

कितने ही लोग गीतामें कहे हुए 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस भगवद्वाक्यका आश्रय लेकर यज्ञ, दान, तप, सदाचार आदि शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देते हैं, किन्तु उपर्युक्त भगवद्वाक्यका अर्थ 'शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भगवान्‌की शरण लेना' नहीं है । यदि इसका यही अर्थ होता तो अर्जुन भी अपने क्षत्रियधर्म युद्ध आदिको त्यागकर और वनमें जाकर अकर्मण्य हो भगवान्‌की भक्ति करता; किन्तु अर्जुनने ऐसा नहीं किया । प्रत्युत सम्पूर्ण गीताका उपदेश करनेके पश्चात् भगवान्‌ने जब अर्जुनसे पूछा—'पार्थ ! क्या इस गीताशास्त्रको तूने एकाग्र-चित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?' (गीता १८ । ७२) तब इसके उत्तरमें अर्जुनने यही कहा—'अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है । अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा—'करिष्ये वचनं तव' (गीता

१८ । ७३) । इसपर भगवान्‌ने अर्जुनसे युद्ध कराया। और अर्जुनने युद्ध ही किया । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि सारे कर्म करते हुए ही उनको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये। यही बात भगवान्‌ने गीता १८ । ५७ में कही है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

यहाँ वर्णित 'सब कर्मोंको मनसे मुझमें त्यागकर मेरे परायण होना' और १८ । ६६ में वर्णित 'सम्पूर्ण धर्मोंको (मुझमें) त्यागकर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जाना' दोनों एक ही बात है ।

इसलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का यह अर्थ करना कि 'सब धर्मोंको स्वरूपसे छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा'—सर्वथा अनुचित है ।*

मनुष्य सर्वथा कर्मका त्याग कर भी नहीं सकता; क्योंकि कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३ । ५) । अपने स्वभावके अनुसार मनुष्यको बाध्य होकर कर्म करना ही पड़ता है (गीता १८ । ६०) । इसलिये कर्मोंको स्वरूपसे न छोड़कर कर्मोंके फलका एवं आसक्ति, ममता और अभिमानका त्याग करना चाहिये; इसीसे मनुष्यको परम शान्ति मिलती है (गीता २ । ७१) ।

---

* इस विषयमें विस्तारसे जाननेके लिये इसी पुस्तकमें दिये हुए 'सर्वधर्मपरित्यागका रहस्य' शीर्षक लेखको देखना चाहिये ।

ब्राह्मी स्थिति

संसारमें क्रियाकी अपेक्षा भाव बलवान् है। इसलिये अपना जो भाव है, उसको उत्तरोत्तर खूब बढ़ाना चाहिये। कैसा भी पापी और नीच क्यों न हो, यदि मरनेके समय भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उच्च कोटिका निष्काम भाव हो जाय तो उसका निश्चित कल्याण हो जाता है। परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाय, तब तो कहना ही क्या है। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(२।७२)

एषा—ऊपर जो बतलायी गयी है, वह ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपमें जो स्थिति है, वह ब्राह्मी स्थिति। इसको प्राप्त होकर मनुष्य फिर मोहको प्राप्त नहीं हो सकता। अन्तकालमें भी यह स्थिति हो जाय तो फिर वह निर्वाणब्रह्मको अर्थात् सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परमात्माको प्राप्त हो जाता है। वह ब्राह्मी स्थिति कैसी बतलायी गयी है?—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
(२ । ६९)

जो सारे भूतोंकी निशा—रात्रि है, उसमें संयमी जागता है । अभिप्राय यह है कि उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें संयमी—मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें किये रखनेवाला पुरुष जागता है, वह उस परमात्माके स्वरूपका अनुभव करता है । इससे अन्य जो विषयासक्त संसारी मनुष्य सोये हुए हैं यानी सोये हुएके समान हैं, उन लोगोंको इस बातका ज्ञान नहीं है कि परमात्मा क्या चीज है, परमात्माका स्वरूप कैसा है । अतः वे सोये हुएके तुल्य हैं । जैसे गाढ़ निद्रामें सोये हुए पुरुषको बाहरका कोई ज्ञान नहीं रहता, इसी प्रकार जो अज्ञान-निद्रामें सोया हुआ है वह परमात्म-विषयक ज्ञानसे सर्वथा शून्य है ।

'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।'

जिस संसारके विषयभोगोंमें संसारी मनुष्य जागते हैं यानी संसारके विषयभोगोंका अनुभव करते हैं, वह ज्ञानी मुनिकी रात्रि है । जैसे रात्रिके शयनके समयमें गाढ़ निद्रावाले पुरुषको बाह्य संसारका ज्ञान नहीं रहता । इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित होनेपर समाधिस्थ ज्ञानी मुनिको संसारका ज्ञान नहीं रहता । अभिप्राय यह है कि जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें यह सृष्टि नहीं रहती । जो परमात्मामें तन्मय हो जाता है, उसीमें तन्मय होकर उसको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें संसारका सर्वथा

अभाव हो जाता है। जैसे गाढ़ निद्रामें शयन करते हुए पुरुषके लिये इस संसारका अभाव हो जाता है, ऐसे ही ज्ञानीकी दृष्टिमें यह सृष्टि नहीं रहती; फिर भी जबतक शरीर है, तबतक प्रारब्धके अनुसार उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा कर्म हो भी सकते हैं; किंतु उस पुरुषका उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता (गीता ४ । १९) । इस प्रकारकी जो स्थिति है, वह अन्तकालमें भी हो जाय तो वह पुरुष निर्वाण ब्रह्मको अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसलिये हरेक माता-बहिनोंको और भाइयोंको उस परमात्मामें अपनी गाढ़ स्थिति हो, इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। किंतु इससे मनुष्यको यह भरोसा नहीं रखना चाहिये कि मरनेके समयमें ही अपना भाव ठीक कर लेंगे। प्रथम तो मरनेतककी जोखिम उठाना मूर्खता है। फिर मरनेके समयमें अपने अधिकारकी बात नहीं रहती कि हम अपनी स्थितिको उच्च कोटिकी बना लें। यह भाव तो अपने मनमें रखनेका है कि यदि अचानक मृत्यु निकट आ जाय तो उस समय सावधानीपूर्वक अपनी स्थितिको परमात्मामें कर लेना चाहिये। शरीरका क्या भरोसा है ? देखा जाता है कि क्षणमात्रमें ही हार्ट फेल होकर मनुष्यकी अचानक मृत्यु हो जाती है। उसको यह थोड़े ही पता रहता है कि मैं अभी मरनेवाला हूँ। ऐसी घटना यदि हमलोगोंको प्राप्त हो तो क्या आश्चर्य है। यह शरीर तो क्षणभङ्गुर और नाशवान् है ही। कालका कोई भरोसा नहीं है। इसलिये मनुष्यको पहलेसे ही सावधान होकर रहना चाहिये। यह नियम है कि मृत्युके समय जिस-जिस भावसे भावित होकर मनुष्य जाता है, उसी-उसी भावको

प्राप्त होता है (गीता ८ । ६) । इसलिये हर समय परमात्माकी स्मृति रखनी चाहिये । भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

यहाँ सब कालमें स्मरण करना मुख्य है और युद्ध करना गौण है । इसलिये निष्कामभावसे हर समय भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये ।

हर क्रियामें अपना भाव सदा उच्च कोटिका (निष्काम) रखना चाहिये । कोई चाहे भक्तिका साधन करे, चाहे योगका, उसमें भाव उत्तम होनेसे ही उसका कल्याण हो सकता है । एक भाई यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है, सेवा करता है, पूजा करता है, जप करता है, संयम करता है, जो कुछ भी साधन करता है, पर सकामभावसे करता है तो उसका जो फल मिलेगा, उससे उसकी कामनाकी सिद्धि ही हो सकती है; सो भी यदि भगवान् उसके लिये उसमें हित समझेंगे तब । हित न समझनेपर भी देवता लोग भले ही उसकी कामनाकी पूर्ति कर दें, पर भगवान् तो उसका हित समझेंगे, तभी उसकी कामनाकी पूर्ति करेंगे । भगवान् सब प्रकारसे हमलोगोंकी रक्षा करते रहते हैं । किसी भी प्रकारसे इसका

परम हित हो, वही चेष्टा भगवान्‌की रहती है। इसलिये हमलोगोंको प्रत्येक शुभ क्रियामें उच्च कोटिका अर्थात् निष्कामभाव बनाना चाहिये।

भगवान्‌की और शास्त्रोंकी तो हमलोगोंपर दया है ही तथा सत्-शास्त्र हमलोगोंको सुगमतासे मिल भी रहे हैं एवं महात्माओंकी भी दया है ही, वे तो सदा ही सबका हित चाहते हैं। केवल अपनी ही—अपने आपपर दयाकी कमी है। इसलिये अपना भाव उच्च कोटिका बनाना चाहिये। अपनी सारी ही क्रिया शास्त्रोक्त और निष्कामभावसे होनी चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अपना भाव उच्च कोटिका हो जायगा तो क्रिया तो अपने आप ही उच्च कोटिकी होने लगेगी। जब हमारा निष्कामभाव हो जायगा, तब हमारे द्वारा होनेवाली सारी ही क्रियाएँ निष्काम समझी जायँगी। बाहरसे देखनेमें कोई क्रिया दूसरोंको सकाम भी प्रतीत हो तो कोई हानि नहीं; वास्तवमें जो निष्काम है, वह निष्काम ही है, वह बड़े उच्च कोटिका भाव है।

निष्कामका अभिप्राय यह है कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थसे सर्वथा रहित होना अर्थात् किसी भी प्रकारसे, किसीसे भी किंचिन्मात्र भी अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा न रखना। बाहरमें कोई व्यक्ति यदि हमारी न्याययुक्त सेवा करना चाहता है और उसको उसके सुखके लिये, उसके संतोषके लिये हम स्वीकार भी कर लेते हैं तो यह भी हमारा निष्कामभाव ही है। निष्कामभावका रहस्य हमलोग समझते नहीं हैं। यदि निष्कामभावके तत्त्व और रहस्यको समझ जायँ तो साधनकालमें भी इतनी शान्ति और प्रसन्नता—आनन्द रहता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है।

निष्कामभाव होना कठिन है, यह बात कहीं नहीं छिपी है। आप खूब ध्यान देकर देखें कि हमें यह क्यों कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें निष्कामके रहस्यको हमलोग समझे नहीं हैं, इसीसे यह कठिन प्रतीत होता है; क्योंकि हमलोगोंके हृदयमें, मनमें, वाणीमें, अणु-अणुमें सकामभाव छाया हुआ है। जब हृदयमें निष्कामभाव होता है और उसके अनुसार उसकी क्रिया होती है, तब उस क्रियाको देखकर दूसरे लोग भी मुग्ध हो जाते हैं कि देखो यह कैसा स्वार्थरहित परोपकारी है, यह कैसा निष्कामी पुरुष है। दूसरे लोग तो उसकी क्रियासे केवल अनुमान ही करते हैं, वे वास्तवमें भावको समझते नहीं हैं। वे बाहरकी क्रियामें स्वार्थ नहीं देखते हैं, इसीसे उसको निष्काम मानते और समझते हैं; किंतु जिसके हृदयमें वस्तुतः निष्कामभाव होता है, उसके चित्तमें जैसे समुद्रमें लहरें आती हैं, वैसे ही स्वाभाविक ही शान्तिकी, आनन्दकी और ज्ञानकी लहरें उठा करती हैं।

जो मनुष्य संसारमें निष्कामभावका केवल दिखाऊ बर्ताव करता है, वह वास्तवमें निष्काम नहीं है; बल्कि दिखावटी झूठा निष्काम भाव तो एक प्रकारसे कलङ्क है। वह प्रकारान्तरसे सकामभाव ही है; वह कहीं-कहीं तो दम्भका रूप धारण कर लेता है, जो पतनका हेतु हो जाता है। जब वास्तवमें हृदयमें कोई भी कामना नहीं रहती तब उसे प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

(गीता २ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकार-रहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है।'

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(गीता २।७०)

'जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा-वाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं।'

निष्कामी पुरुष अपने निष्कामभावसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार उस परमात्माके स्वरूपमें जो स्थिति होती है, वही ब्राह्मी स्थिति कही जाती है। ऐसी ब्राह्मी स्थितिवाला पुरुष किस प्रकारसे परमात्मामें स्थित होता है, उसके लिये समुद्रकी उपमा देकर भगवान् कहते हैं कि जैसे समुद्र 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्'—अपने आपमें ही जलके द्वारा परिपूर्ण है और अपनी महिमामें अचल स्थित है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित होकर जिसको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है, वह उन विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपसे परिपूर्ण है और अपनी महिमामें अचल स्थित है। ब्रह्मकी ही महिमा

उसकी अपनी महिमा है, इसलिये वह अपनी महिमामें अचल है। जैसे समुद्र अपनी महिमामें अचल स्थित है, ऐसे ही वह है। समुद्रमें सारी नदियोंका जल प्रवेश करता है, किंतु वह विचलित नहीं होता, उसमें किसी प्रकारका विकार भी नहीं होता। सारी नदियोंका जल प्रविष्ट होनेपर भी न तो कोई उसमें वृद्धि होती है और न कोई क्षोभ ही होता है। इसी प्रकार जो परमात्माके स्वरूपमें स्थित है, वह प्रारब्धके अनुसार संसारके सारे भोगों—पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी विचलित नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्ममें स्थित है और उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके आनन्दसे परिपूर्ण है तथा उसीमें अचल स्थित है। जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है अर्थात् जो परमात्मामें स्थित होकर परमात्मामें ही तन्मय हो चुका है, उसके ज्ञानका, शान्तिका, आनन्दका पार नहीं है, वस्तुतः वह स्वयं ही ज्ञानमय, शान्तिमय, आनन्दमय है। संसारके विषयभोगोंकी कामनावाले पुरुषको कभी शान्ति नहीं मिलती। इससे समझना चाहिये कि परमात्मविषयक जो शान्ति, आनन्द और ज्ञान है, वह कितना उच्च कोटिका है।

मनुष्यको साधनकालमें भी परमात्मविषयक अत्यन्त विलक्षण शान्ति, आनन्द और ज्ञान मिलता है; तब जो उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसके लिये तो कहना ही क्या है? अतएव इस रहस्यको जान लेनेपर निष्काम होकर परमात्माके स्वरूपमें नित्य निरन्तर स्थित रहना, यह कोई बहुत कठिन नहीं है। हमलोगोंको जो कठिन प्रतीत होता है, उसका कारण यह है कि हमलोग उसके तत्त्व, रहस्य और भावको समझे नहीं हैं। वस्तुतः यह जो

संसार दिखायी देता है, इससे हमारे आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, केवल माना हुआ सम्बन्ध है। इसके साथ वस्तुतः सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है ? यह संसार तो जड है और आत्मा चेतन है। चेतन और जडकी एक जाति नहीं। इसलिये जड और चेतनका वास्तविक सम्बन्ध कभी हो ही नहीं सकता।

संसारके किसी पदार्थका त्याग करनेपर हम कहते हैं कि हमने अमुक वस्तुका त्याग कर दिया, किंतु जब उपर्युक्त बात समझमें आ जाती है, तब यह जान पड़ता है कि हमने यथार्थमें कोई त्याग नहीं किया है। दूसरोंकी चीजको जो हमने अपनी मान रक्खा था कि यह चीज है और हमारी है, केवल इस मान्यताका त्याग किया है। यह वास्तवमें न्याय ही है। उस मान्यताको पकड़े रहनेमें तो प्रत्यक्ष ही हमारा पतन है और वास्तवमें तो वह चीज है ही नहीं, बिना हुए ही प्रतीत होती है और यदि यह मान भी ले कि वह है तो उसको अपनी मानना तो बिल्कुल ही अज्ञता है। दूसरोंकी चीजको अपनी न मानकर जब हम दूसरोंकी मान लेते हैं, तब हमें प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है।

चोर किसी दूसरेकी चीजको अपनी मान बैठता है और उसपर अपना अधिकार जमा लेता है तो उसको घोर दण्ड मिलता है। इसी प्रकार संसारकी चीजोंको जो अपनी मान बैठता है, वह भी एक प्रकारसे चोर ही है और उसको दण्ड होना भी उचित ही है। इस बातको खूब समझ लेना चाहिये। उदाहरणके लिये मान लें, मेरे पास लाख रुपये हैं और मैं सत्तर सालकी उम्रका हो गया

हूँ तो यह तो है ही नहीं कि मैं सैकड़ों वर्षतक जीता ही रहूँगा। अतः अपने शरीर-निर्वाहके लिये कम-से-कम जितने रुपयोंकी आवश्यकता हो, उतने रखकर शेषको मैं परमात्माके ही काममें लगा दूँ तो यह सर्वथा उचित है। हरेक मनुष्यके लिये यही बात होनी चाहिये। साथ ही यह सोचना चाहिये कि यदि मैं दस वर्ष और जीऊँ और दो हजार रुपये सालाना अपने शरीरके लिये लगाऊँ तो बीस हजार रुपये पर्याप्त हैं। इसलिये अस्सी हजारको रोककर रखना मूर्खता ही नहीं, एक प्रकारसे चोरी ही है; क्योंकि यह असलमें दूसरोंके स्वत्वपर अपना अधिकार जमाना है।

दूसरे, यदि हम यह कहें कि यह चीज तो है किंतु मेरी नहीं है, भगवान्‌की है; तो फिर जब भगवान्‌के काममें लगानेका मौका आये, तब उसे आँख मूँदकर लगा देना चाहिये। वास्तवमें जिसका यह भाव है, उसको रुपये लगानेमें उत्तरोत्तर प्रसन्नता होनी चाहिये। परंतु यदि भगवान्‌की सेवामें रुपया लगाते समय मनमें चिन्ता, शोक, भय होता है या उसमें रुकावट होती है तो समझना चाहिये कि उसका भाव ठीक नहीं है; क्योंकि जिस चीजको हम अपनी नहीं मानते हैं, वह जिस मालिककी चीज है, उसको दी जानेमें तो हमें प्रसन्नता ही होनी चाहिये। कोई अमानतके रूपमें पाँच हजार रुपयेका गहना हमारे पास रख जाय तथा वह वापस आकर हमसे अपना गहना माँगे और उसकी चीज हम उसे सौंप दें तो हमें कितनी प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार चित्तमें जब यह अनुभव हो जाता है कि यह भगवान्‌की चीज है, मैं केवल इसकी रक्षा या

सेवा कर रहा हूँ, तब यदि वह चीज भगवान्के काममें लग जाती है तो उसे बड़ी भारी प्रसन्नता होती है। मन भी हल्का हो जाता है। यह बात बिल्कुल प्रत्यक्ष है। आप करके देख सकते हैं।

वास्तवमें ये संसारके जो कुछ भी पदार्थ हैं, सब भगवान्के हैं। हमारा कोई भी अधिकार नहीं कि हम अपने स्वत्वसे अधिक वस्तुओंको रोक रक्खें। यह तो एक साधारण न्याययुक्त बात है। किंतु जो उच्च कोटिका साधक है, उसकी तो बात ही निराली है। उसके लिये तो संसारके सभी विषय-भोग मल-मूत्रके समान हैं। हम जब मल-मूत्रका त्याग करते हैं, तब क्या कोई गर्व करते हैं कि हमने बड़ा त्याग किया है? बल्कि उसके त्यागसे यह सोचकर प्रसन्नता और सुख होता है कि विकार निकल गया। इसी प्रकार संसारके इन विषय-भोगरूप पदार्थोंके त्यागसे सुख होना चाहिये। कोई भी आकर जब हमसे कहता है कि हमारी इस वस्तुको आप धरोहररूपमें रख लें तो उसे हम मनसे रखना नहीं चाहते; किंतु किसीके भलेके लिये अथवा संकोचमें पड़कर हमें वह चीज रखनी पड़ती है और फिर जब स्वयं वह आकर अपनी वस्तुको माँग लेता है तब उसको वह वस्तु हम इस भावसे देते हैं कि मानो सिरपरसे उसका ऋण उतर गया। यह धरोहर भी एक प्रकारसे सिरपर ऋण ही है।

ये संसारकी ऐश्वर्य, धन, मकान आदि जो वस्तुएँ हैं, इनमेंसे कोई भी वस्तुतः हमारी नहीं है। औरोंकी तो बात ही क्या, यह शरीर भी हमारा नहीं है। गम्भीरतासे विचारें तो ये सभी पदार्थ

और शरीर वास्तवमें परमात्माके हैं, या यों कहें कि प्रकृतिके हैं। यह बात प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि जो मनुष्य मरकर चला जाता है, उसका यह स्थूल शरीर हमारे देखते-देखते जलकर भस्म हो जाता या कब्रमें मिट्टी हो जाता है और प्रकृतिमें मिल जाता है। फिर यह शरीर हमारा कैसे हुआ ? जब शरीर ही हमारा नहीं है, तो अन्य वस्तुएँ तो हमारी हो ही कैसे सकती हैं ? शरीर हमारा होता तो हम इसको साथ लेकर जाते। यह किसी प्रकार भी हमारे साथ नहीं जा सकता। ऐसी परिस्थितिमें हम शरीरसे जितना अधिक-से-अधिक पारमार्थिक लाभ उठा लें वह हमारा है। इस शरीरमें यदि रोग हो जाय तो भी हमें उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, बल्कि परमात्माकी भक्तिका और ज्ञानका साधन उत्तरोत्तर तेज करना चाहिये, क्योंकि जब मनुष्य मरता है तो प्रायः बीमार होकर ही मरता है, अतः अन्तसमय अधिकांशमें बीमारी होनेकी सम्भावना रहती है। ऐसी परिस्थितिमें, बीमारीमें तो हमें साधनको विशेष तेज करना चाहिये। पता नहीं, यही बीमारी हमारे इस शरीरका अन्त करनेवाली हो।

इसी प्रकार जितने भी संसारके पदार्थ हैं, सभी नाशवान् और क्षणभंगुर हैं। हम यदि अपने खानेके लिये अन्न और पहननेके लिये वस्त्र अधिक मात्रामें इकट्ठा करके रोक रखते हैं तो यह हमारी अनधिकार चेष्टा है। संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबपर सबका समान भावसे अधिकार है। जो मनुष्य अपने अधिकारमें अधिक वस्तुओंका संग्रह करके उनको अपने भोगके काममें लाना चाहता है या अपने कुटुम्बके लिये रोककर रखना चाहता है, वह अज्ञ है। उसे यह समझना चाहिये कि जिन वस्तुओंपर वास्तवमें

सबका समान भावसे हक है, हमें क्या अधिकार है कि हम अपने हिस्सेसे अधिक उन वस्तुओंपर अपना अधिकार जमावें। हाँ, यदि संसारके हितके लिये आप अधिकार जमाते हैं तो भले ही आप किसी राज्यपर अधिकार जमा लें, चाहे सारे ब्रह्माण्डपर भी अधिकार जमा लें, उसमें कोई दोष नहीं है। यदि आपके हृदयमें यह भाव है कि यह वस्तु हमारी नहीं है, जगज्जनार्दनकी है, इससे हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, हम इसमें केवल निमित्तमात्र हैं, हम यथायोग्य प्रभुकी सेवामें लगानेके लिये केवल ट्रस्टीकी भाँति इसकी रक्षा और सँभाल करनेवाले हैं, तो यह बहुत उत्तम बात है। परंतु इस रक्षाके भावमें भी रक्षकपनका अभिमान नहीं आना चाहिये। यह समझना चाहिये कि इसके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, वह केवल निमित्तमात्र है और यों निश्चय करके हर समय चित्तमें बड़ी उदारता रखनी चाहिये। कोई भी योग्य अधिकारी ग्राहक मिल जाय यानी सेवा करानेवाला मिल जाय तो यह समझना चाहिये कि इनकी मुझपर बड़ी भारी कृपा है जो मुझको पवित्र करके संसारसे उद्धार करनेके लिये मुझसे सेवा लेनेके लिये पधारे हैं, भगवान् इनको भेजकर मुझसे सेवा ले रहे हैं, इनके द्वारा भगवान् अपनी चीज मुझसे सँभाल रहे हैं, मेरे पास यह चीज अमानतकी तरह रखी थी, भगवान्‌की चीज भगवान्‌की सेवामें लग गयी, यह बहुत अच्छी बात है और यदि हम यह समझ लेते हैं कि स्वयं भगवान् ही हमसे सेवा लेनेके लिये पधारे हैं तब तो और भी उत्तम बात है, क्योंकि उस समय हमें अतिशय प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द होता है। यह समझकर हमें हर समय उपर्युक्त भावसे सेवा करनी चाहिये कि यह भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌की सेवामें लग जाय और इसके लिये सदा सहर्ष प्रस्तुत रहना चाहिये।

यदि हम इन वस्तुओंको अपनी मानकर यहाँ छोड़कर चले जायँगे तो आगे जाकर हमको घोर दण्ड मिलेगा। ये चीजें भी हमारे किसी काममें नहीं आयेंगी। न मालूम, इनका कौन मालिक होगा। सरकार मालिक होगी या अन्य कोई। कुछ भी पता नहीं है। कोई भी हो, इनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। इसलिये जबतक हम जीवित हैं, तभीतक अपनेको सँभाल लेना चाहिये। वस्तुमात्रसे अपना अधिकार उठा लेना चाहिये, अपनेको भगवान्‌के सामने निर्दोष बना लेना चाहिये।

जीवन रहेगा तो धन, मकान या कुटुम्बके भरोसे थोड़े ही रहेगा, वह तो भगवान्‌की कृपाके ही भरोसे रहेगा। यथार्थमें यों मानना भी अपने जीवनके लिये भगवान्‌का आसरा लेना है, अतः सकाम भाव है। किंतु उस चोरीसे तो यह भाव भी बहुत श्रेष्ठ है। दूसरोंके—जगज्जनार्दनके धनपर अपना अधिकार जमाना तो प्रत्यक्ष चोरी है। दुनियामें जितना भी है, वह सब दूसरोंका धन है यानी सबके हिस्सेका है। चाहे उसे भगवान्‌का समझें, जनताका समझें या प्रकृतिका समझें। अर्थात् भक्तियोगकी दृष्टिसे भगवान्‌का, कर्मयोगकी दृष्टिसे जनताका और ज्ञानयोगकी दृष्टिसे प्रकृतिका समझें। किस भी हालतमें वह हमारा नहीं है। इसलिये किसी भी धनके ऊपर, किसी भी शरीरके ऊपर या किसी भी ऐश्वर्यपर हम यदि अपना अधिकार जमाते हैं, तो वह हमारी अनधिकार चेष्टा और बड़ी भारी अज्ञता है। यदि हम इन पदार्थोंपर अपना अधिकार कायम करके मर जायँगे तो

चोरको जो दण्ड होता है, वही हमें भी प्राप्त होगा। यह बात सर्वथा युक्तिसंगत तथा शास्त्रसंगत है। अतः अकाट्य है।

अतएव इस बातको ध्यानमें रखकर हमें संसारकी वस्तुओंसे तथा शरीरसे अपना माना हुआ अधिकार हटा लेना चाहिये तथा परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये। परमात्माके स्वरूपमें अचल निरन्तर नित्य स्थितिमें यह अनुचित अधिकार बड़ा बाधक है। इसमें हमारा मन फँसा है, यही मरनेके समय महान् दुःख देता है। इसी कारण हमारा चित्त संसारमें अटक जाता है, जिससे हमारी दुर्गति होती है। जीते हुए भी दुर्गति और मरनेके समय भी दुर्गति। अतः विशेष ध्यानपूर्वक यह विचार करना चाहिये कि 'मेरा इससे क्या सम्बन्ध है, क्यों मैं अपने गलेमें फाँसी लगाकर अपना अहित कर रहा हूँ।' जब यह बात समझमें आ जायगी, तब स्वतः ही शरीर और संसारसे सम्बन्धविच्छेद हो सकता है। फिर यह प्रत्यक्ष हो सकता है कि मेरा इससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मेरी यही जिम्मेवारी है कि मैं इसको जल्दी-से-जल्दी परमात्माकी सेवामें लगा दूँ। तभी मेरी जिम्मेवारी दूर होती है अर्थात् मैं सब ऋणोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता हूँ। इसलिये जिन पदार्थोंपर अपना अधिकार है तथा जिनमें ममता और अभिमान है, उनपरसे शीघ्र-से-शीघ्र अधिकार तथा ममता-अभिमान उठाकर परमात्माकी शरण हो जाना चाहिये; परमात्माके स्वरूपमें अपनी स्थिति कर लेनी चाहिये। परमात्माके स्वरूपमें जो स्थिति है, वही ब्राह्मी स्थिति है और ब्राह्मी स्थितिका फल ही परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति है।

गीताके अनुसार स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीतके लक्षण तथा आचरण

वास्तवमें जीवन्मुक्त महापुरुषोंके व्यवहारका वर्णन वाणीद्वारा प्रकट करना असम्भव-सा है। उनके व्यवहारके रहस्यको साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है; उसका वर्णन करनेमें न तो मेरा अधिकार है और न योग्यता ही है, तथापि अपने मित्रोंकी प्रेरणासे, गीतादि शास्त्रोंके आधारपर अपनी साधारण बुद्धिसे जो कुछ समझमें आया है उसे पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ।

जीवन्मुक्त महापुरुषोंका व्यवहार, उनका निजी स्वार्थ एवं राग-द्वेष और अहंकार न रहनेके कारण केवल लोकहितार्थ ही हुआ करता है। उनके आचरण संसारमें प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं, उनके आचरणोंमें पाप और स्वार्थकी गन्ध भी नहीं रहती, उनकी प्रत्येक क्रियामें परम उपदेश भरा रहता है। मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण आदि समस्त पदार्थोंमें; पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य और देवादि समस्त प्राणियोंमें; तथा सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय आदि समस्त भावोंमें और समस्त कर्मोंमें सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा उनका समभाव रहता है। उनके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें स्वार्थ, अहंकार, राग, द्वेष, विषमता और भयका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण उनकी सारी क्रियाएँ साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा विलक्षण, परम पवित्र और दिव्य हुआ

करती हैं । उनके आचरणोंमें किसी प्रकारका लेशमात्र भी दोष नहीं रहता । उनके अन्तःकरणमें समभाव, प्रसन्नता, परम शान्ति और ज्ञान—ये सब नित्य-निरन्तर अविच्छिन्न और अपार रहते हैं । यह सब होते हुए भी वास्तवमें वे महापुरुष इस त्रिगुणमयी माया और उसके कार्यरूप शरीरादिसे सर्वथा अतीत होते हैं । अतः उनको न तो प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियके वियोगमें हर्ष होता है और न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है । यदि ऐसे महापुरुषोंको किसी भी प्रकारका कोई भारी दुःख पहुँचाया जाय, तो भी वे महापुरुष अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होते ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें परमपदकी प्राप्तिको भगवान्‌ने कहीं ब्रह्मनिर्वाण, सनातन ब्रह्म और ब्रह्मकी प्राप्तिके नामसे; कहीं आत्यन्तिक सुख, अनन्त सुख, अक्षय सुख और उत्तम सुखकी प्राप्तिके नामसे; कहीं अविनाशी शाश्वतपद, परम गति, परमधाम, परम दिव्य पुरुष, परम सिद्धि, संसिद्धि, शान्ति, परम शान्ति, निर्वाणपरमशान्ति, शाश्वत शान्ति, अव्यक्त, अक्षर, अमृत, परमस्थान, शाश्वतस्थान, मद्भाव, मम साधर्म्य, परम और अपनी प्राप्ति इत्यादिके नामसे कहा है ।

उस परमपदको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण गीता अध्याय १४ के अन्तमें गुणातीतके नामसे, अध्याय १२ के अन्तमें भक्तके नामसे और अध्याय २ के अन्तमें स्थितप्रज्ञके नामसे भगवान्‌ने बतलाये हैं; इनके सिवा अन्यान्य अध्यायोंमें भी योगी, युक्त और ज्ञानी आदिके नामसे जीवन्मुक्तकी स्थितिका संक्षिप्त वर्णन आया है । ये सभी परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषके लक्षण हैं ।

गीतापर भलीभाँति विचार करनेसे मालूम होता है कि अध्याय २ में श्लोक ५५ से ७२ तक स्थितप्रज्ञके नामसे कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बताये गये हैं।

अध्याय १२ में श्लोक १३ से १९ तक भक्तियोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बताये गये हैं।

एवं अध्याय १४ में श्लोक २२ से २५ तक ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बताये गये हैं।

इन तीनों स्थलोंको सामने रखकर उनपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि इनमेंके बहुत-से लक्षण और आचरण एक-दूसरेमें मिलते-जुलते-से ही हैं; क्योंकि परमात्माको प्राप्त होनेके पश्चात् सबकी स्थिति एक ही हो जाती है, इसलिये उनके लक्षण और आचरण भी प्रायः एक-से ही हुआ करते हैं। तथापि प्रकृति (स्वभाव) और साधनकालके अभ्यास तथा वर्णाश्रमके भेदसे गुण और आचरणोंमें किसी-किसी स्थलमें भिन्नता भी आ जाती है, पर वह शास्त्रानुकूल ही होती है। भगवान्‌ने भी कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गीता ३। ३३)

'सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा।'

सभी प्रकारके साधनोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुष परम पवित्र और साधारण मनुष्योंसे बहुत उत्तम होते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषोंकी प्रकृति साधनकालमें ही शुद्ध हो जाती है। अतः सभी प्रकारके जीवन्मुक्त महापुरुषोंके आचरण शास्त्रसम्मत, आदर्शरूप पवित्र और सर्वथा दिव्य होते हैं।

कर्मयोगीके लिये तो फलासक्तिरहित कर्मोंका करना ही योगकी सिद्धिमें हेतु बतलाया गया है (गीता ६ । ३)। इसलिये उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार होना स्वाभाविक ही हो जाता है और कर्मोंके विस्तारसे उसमें फँसाव होकर बन्धन हो जानेका डर रहता है। अतएव उसके लिये मन-इन्द्रियोंके निग्रह एवं काम-क्रोध, राग-द्वेष, ममता और परवा आदिके त्यागपर विशेष जोर दिया गया है। भक्ति-योगके साधकके लिये इन बातोंपर इतना जोर नहीं दिया गया। उसके लिये तो सर्वकर्म भगवान्‌के समर्पण करके भगवत्स्मरण करने-पर विशेष जोर दिया गया है। इस प्रकार करनेसे भगवान्‌की दयासे उपर्युक्त सारे दोष अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं और ज्ञानमार्गसे चलनेवाले पुरुष तो सारे कर्म और सारे विकार प्रकृतिपर छोड़ देते हैं, अपनेसे उनका सम्बन्ध ही नहीं रखते; इस कारण उनके बाहरी कर्मोंका विस्तार नहीं भी हो सकता।

कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषमें, परमात्मा-की प्राप्तिके उत्तरकालमें भी, कर्मोंका बाहुल्य रह सकता है। उसके द्वारा स्वार्थ, आसक्ति, अहंकार आदिके बिना ही केवल लोकसंग्रहार्थ स्वाभाविक कर्मोंकी क्रियाएँ विस्तारपूर्वक भी होती हैं और उसमें उसकी महिमा है। भगवान्‌ने भी कहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

'जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ।'

वे ममता, अहङ्कार, कामना आदिसे रहित हुए संसारमें विचरते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है ।'

क्योंकि साधनकालमें ही कर्मयोगीके साधनमें मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक राग-द्वेष और स्वार्थके बिना केवल कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए कर्म ही उसकी स्थितिको बढ़ाकर परमात्माका साक्षात्कार करानेमें हेतु होते हैं ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो वशमें

की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

पूर्वमें भी इस प्रकार साधन करके जनकादि परमपदको प्राप्त हो चुके हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥
(गीता ३।२०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे, इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।'

इस कारण सिद्धावस्थाको प्राप्त होनेके बाद भी उन पुरुषोंद्वारा बहुलतासे कर्म हो सकते हैं। ऐसे पुरुषमें रागद्वेषादि अवगुणोंका सर्वथा अभाव होनेके कारण, कर्मोंकी बहुलता होनेपर भी, उनके द्वारा किये हुए कर्मोंमें कोई दुराचारिता नहीं आ सकती; क्योंकि दुराचारिताका मूल कारण राग-द्वेषादि अवगुण ही हैं। अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोधको ही पापाचरणमें हेतु बताया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३।३७)

'हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मोंकी बहुलता स्थितिमें बाधक नहीं है, राग-द्वेष और काम-क्रोधादि अवगुण ही बाधक हैं और इनका उन महापुरुषोंमें सर्वथा अभाव होता है । स्वार्थ और राग-द्वेषको छोड़कर किये हुए कर्म ही कर्मयोगके साधकके लिये भगवत्प्राप्ति करानेवाले हैं और सिद्धोंकी शोभा बढ़ानेवाले हैं ।

शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंमें जो अनिवार्य हिंसादि दोष हुआ करते हैं, वे दुराचार नहीं हैं (गीता १८ । ४८); एवं ऐसे हिंसादि दोष फलेच्छा, राग-द्वेष और अहङ्कारसे रहित मनुष्यको दूषित नहीं कर सकते (गीता १८ । १७) ।

यद्यपि परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषको कर्म करने या न करनेसे कोई अपना प्रयोजन नहीं रह जाता, तथापि लोगोंको उन्मार्गसे बचाने और सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये ही उनके द्वारा निषिद्ध कर्मोंका त्याग और विहित कर्मोंका आचरण हुआ करता है । मोहसे कर्मोंको छोड़ बैठनेवाला अज्ञानी वास्तवमें त्यागी नहीं है (गीता १८ । ७); परन्तु उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाला महापुरुष ही वास्तवमें बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है ।

भगवान्‌ने कहा है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥
(गीता १८ । १०-११)

'हे अर्जुन ! जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित ज्ञानवान् और सच्चा त्यागी है; क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंको त्याग देना शक्य नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही सच्चा त्यागी है, यह कहा जाता है ।'

भक्तियोगद्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए महापुरुषमें परमेश्वरकी प्राप्तिके उत्तरकालमें भी सभी मनुष्योंके साथ दया और प्रेमका भाव अधिक व्यक्त हुआ करता है; क्योंकि उसके साधनकालमें ही ईश्वर-विषयक श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और शरण आदि भावोंकी बहुलता उसकी स्थितिको बढ़ाकर परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु हुआ करती है; इससे उसका स्वभाव अत्यन्त कोमल हो जाता है और उसे सभी प्राणियोंमें अपने स्वामी आराध्यदेवको विराजमान देखनेका अभ्यास हो जाता है ।

उसमें कोमलता, क्षमा और सुहृदता आदि गुणोंकी बहुलता होनेके कारण न्याय प्राप्त होनेपर भी उसके द्वारा किसी जीवको दण्ड दिया जाना कठिन-सा हो जाता है । इस कारण उससे किसी भी जीवको उद्वेग नहीं होता और अन्य जीवोंद्वारा अनुचित कष्ट दिये जानेपर भी वह स्वयं उद्वेगवान् नहीं होता और उनसे वह न्यायपूर्वक भी बदला लेना नहीं चाहता ।

भगवान्ने भी कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

(गीता १२ । १३-१५)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है।

'तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष-अमर्ष*, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है।'

दया, प्रेम और क्षमा आदि सद्गुणोंसे उसका अन्तःकरण प्रभावित हो जानेके कारण, वह अपने साथ बुरा बर्ताव करनेवालेको भी प्रेमपूर्वक उसके हितकी चेष्टाओंद्वारा उसके अन्तःकरणमें साधुभाव उत्पन्न करते हुए ही शिक्षा देनेका प्रयत्न किया करता है।

---

* दूसरेकी उन्नतिको देखकर संताप होनेका नाम 'अमर्ष' यानी ईर्ष्या है।

नीतिकी आवश्यकता पड़नेपर भी साम और दामसे ही काम लेनेका उसका स्वभाव हो जाता है। दण्ड और भेदनीतिका प्रयोग प्रायः उसके द्वारा नहीं हो सकता।

उसकी प्रत्येक क्रियामें ईश्वरभक्ति, श्रद्धा, स्वार्थत्याग, चतुरता, कोमलता, विनय, प्रेम, दया और चित्तकी प्रसन्नता आदि भाव विशेषरूपसे झलकते रहते हैं; क्योंकि साधनकालमें इन भावोंसे ही उसकी स्थिति बढ़कर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, अतः उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है।

ऐसे महापुरुषकी सभी क्रियाएँ भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार समस्त प्राणियोंको अभयदान देते हुए ही हुआ करती हैं।

दूसरोंका सत्कार करना और उनको मान-बड़ाई देना उसका साधारण स्वभाव हो जाता है। ऐसे महापुरुषके मन और बुद्धि निरन्तर भगवान्‌में ही समर्पित रहते हैं। अतः उसके जीवनका अधिक समय भगवान्‌के भजन, ध्यान, गुणानुवाद और सेवा आदिमें ही लगता है।

उसके द्वारा कर्मयोगीकी भाँति व्यावहारिक कर्मोंका विस्तार होना कठिन है, क्योंकि अहर्निश भगवच्चिन्तनका स्वभाव हो जानेके कारण साधनकालमें ही उसकी रुचि लौकिक कर्मोंसे हट-सी जाती है। आवश्यकतानुसार सब कुछ करते हुए भी ऐसे महापुरुषोंकी स्थिति निरन्तर परमेश्वरमें ही रहती है। भगवानने कहा भी है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।'

ज्ञानयोग (सांख्ययोग) द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषमें ज्ञान, वैराग्य, उपरामता, निरहङ्कारता आदि गुणोंकी प्रधानता होनेके कारण एवं दृश्य-संसारमें अनित्यबुद्धि होनेसे, उसके द्वारा शास्त्रविहित लौकिक और धार्मिक कर्मोंका भी विस्तार प्रायः कम होता है।

वर्णाश्रमके अनुसार जीविकानिर्वाह आदिके आवश्यक कर्म भी उसके द्वारा कर्तृत्वाभिमानके बिना होते हुए-से प्रतीत होते हैं, क्योंकि साधनकालमें भी उसका ऐसा ही अभ्यास रहता है कि समस्त कर्म प्रकृतिद्वारा ही किये हुए हैं, इन्द्रियाँ ही अपने-अपने अर्थोंमें वर्तती हैं, गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, मेरा इन कर्मोंसे, भोगोंसे, शरीरसे और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। भगवान्‌ने कहा भी है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(गीता ५। ८-९)

'हे अर्जुन! तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता

हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें वर्त रही हैं, इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

(गीता ३। २८)

'हे महाबाहो! गुणविभाग* और कर्मविभागके† तत्त्वको‡ जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

(गीता १४। १९)

'हे अर्जुन! जिस कालमें द्रष्टा अर्थात् समष्टिचेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता, अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं,§ ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप

---

*† त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है।

‡ उपर्युक्त 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग' से आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है।

§ त्रिगुणमयी मायासे उत्पन्न हुए अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें विचरना ही गुणोंका गुणोंमें बर्तना है।

मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

ममता-अहंकारादि विकारोंका अत्यन्त अभाव और परिग्रहका त्याग, एकान्तदेशका सेवन, मन-इन्द्रियोंका संयम, सांसारिक मनुष्योंसे, सर्व पदार्थोंसे और कर्मोंसे वैराग्य और उपरामता, निरन्तर विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित रहना उसके मनका स्वाभाविक धर्म-सा हो जाता है, क्योंकि साधन-कालमें भी उसने ऐसा ही अभ्यास किया है। भगवान्‌ने भी कहा है—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
(गीता १८।५२)

'जो एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला और निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला है।'

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गीता १८।५३)

'वह अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित होनेका पात्र होता है।' इस कारण उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं हो सकता।

इस तरहसे तीनों प्रकारके महापुरुषोंके आचरण परम पवित्र,

दिव्य और अलौकिक होते हैं। ऐसे महापुरुषोंके आचरणको ही शास्त्रकारोंने सदाचारके नामसे कहा है और बारंबार उनका अनुकरण करनेके लिये जोर दिया है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। ११)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

राजा युधिष्ठिरने भी यक्षके पूछनेपर ऐसे पुरुषोंको लक्ष्य बनाकर ही कहा था—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(महा० वन० ३१३। ११७)

'धर्मके विषयमें तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न रूपसे कथन करती हैं तथा ऋषि-मुनि भी कोई एक नहीं हुआ है, जिससे उसीके मतको प्रमाणस्वरूप माना जाय, धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है। अर्थात् धर्मकी गति अत्यन्त गहन है, इसलिये (मेरी समझमें) जिस मार्गसे कोई महापुरुष गया हो, वही मार्ग है अर्थात् ऐसे महापुरुषका अनुकरण करना ही धर्म है।'

अतः मनुष्यमात्रको उचित है कि ऐसे महापुरुषोंके आचरण-

को आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेके लिये अर्थात् अपने जीवनको उन्हींके-जैसा बनानेके लिये विशेष प्रयत्न करें।

प्र०—ज्ञानीके प्रारब्ध कर्म नष्ट होते हैं या नहीं ?

उ०—परमात्माको प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुषके वास्तवमें प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(गीता ४।३७)

'हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है।'

तथापि व्यावहारिक दृष्टिसे यह माना जाता है कि ज्ञानीके प्रारब्धकर्म रहते हैं, इसीसे उसका शरीर बना रहता है, प्रारब्धकर्म अपना फल भुगताकर ही समाप्त होते हैं इत्यादि। किंतु कर्मका फल जाति, आयु और भोग बताया गया है। उनमें जन्मरूप फल तो हो ही चुका, आयु समयपर अपने आप खतम हो ही जायगी, रही भोगकी बात, सो सुख, दुःखका भोक्ता प्रकृतिस्थ पुरुषको ही माना गया है (गीता १३।२१), शुद्ध आत्मामें भोक्तापन नहीं है। ज्ञानीकी स्थिति परब्रह्म परमात्मामें हो जाती है। अतः उसे सुख-दुःखकी प्राप्ति नहीं बन सकती। सुतरां यही सिद्ध हुआ कि प्रारब्धका भोग केवल लोकदृष्टिसे ही ज्ञानीको होता हुआ-सा प्रतीत होता है, वास्तवमें ज्ञानीका शरीरसे और प्रारब्धकर्मसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

सुख-दुःखादिकी प्राप्तिके हेतु जो खान-पान, रोग-पीड़ादि

हैं, वे सब शरीरमें होते हुए भी ज्ञानीको उसकी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते। वह सदा निर्विकार रहता है, हर्ष-शोकादिसे सर्वथा रहित हो जाता है। श्रुतिमें भी कहा है— 'हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १ । २ । १२) अर्थात् वह हर्ष और शोकको छोड़ देता है । 'तरति शोकमात्मवित्' (छान्दोग्य० ७ । १ । ३), अर्थात् आत्मवेत्ता शोकसे तर जाता है । वास्तवमें हर्ष-शोकका होना ही प्रारब्धका फल है, उससे ज्ञानी पार हो जाता है, स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्ति और विनाशमें उसको किञ्चिन्मात्र भी हर्ष-शोक नहीं होता, क्योंकि उसने साधनकालमें ही शरीर और स्त्री-पुत्र-गृहादिमें अहंता, ममता और आसक्तिके अभाव तथा समभावका अभ्यास किया है (गीता १३ । ९)। हर्ष-शोक होनेमें राग-द्वेष, अहंता-ममता आदि दुर्गुण ही कारण हैं । इनके अभावके अभ्याससे साधनकालमें ही हर्ष-शोक आदि विकार प्रायः क्षीण हो जाते हैं, फिर सिद्धावस्थामें तो अहंता-ममता आदिका अत्यन्त अभाव हो जानेसे हर्ष-शोक आदि विकारोंका होना असम्भव ही है ।

संसारमें भी यह बात देखी जाती है कि जिन स्त्री-पुत्रोंमें या गृह आदि समस्त पदार्थोंमें हमारा स्नेह और ममत्व नहीं होता उनके बनने-बिगड़नेमें हमें सुख-दुःख हर्ष-शोक आदि नहीं होते। इसी तरह ज्ञानीका अपने शरीरमें अहंभाव न रहनेसे और शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, गृह आदिमें ममत्व और स्नेह न रहनेसे किसी अवस्थामें भी हर्ष-शोकका न होना उचित ही है । अतः लोकदृष्टिमात्रसे उनके स्त्री, पुत्र, गृह आदि पदार्थोंका बनना-बिगड़ना

रूप प्रारब्धकर्मका भोग होते हुए भी न होनेके समान ही है ।

ज्ञानीसे शरीरद्वारा लोकदृष्टिसे क्रियमाण कर्म होते हुए-से दिखलायी देते हैं; परन्तु अहंकार, स्वार्थ और राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण उनके कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं । कोई-कोई कह दिया करते हैं कि ज्ञानीद्वारा किये हुए क्रियमाण पुण्यकर्मोंका फल उनकी स्तुति करनेवालोंको और पापकर्मोंका फल उनकी निन्दा करनेवालोंको मिलता है । किंतु यह कहना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता; क्योंकि ज्ञानीद्वारा पापकर्मोंका आचरण होता ही नहीं । साधनावस्थामें ही उसके अंदर राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुणोंका एवं चोरी, जारी, हिंसा, मिथ्याभाषणादि दुराचारोंका प्रायः अभाव हो जाता है; फिर सिद्धावस्थाकी तो बात ही क्या ? अविद्या, अहंकार, राग-द्वेष और भय—ही सब पापाचारके कारण हैं । इनका सर्वथा अभाव होनेके बाद पापाचार कैसे हो सकता है । बुद्धिपूर्वक पापकर्म तो ज्ञानीद्वारा हो नहीं सकते और अज्ञात हिंसादिका पाप लगता नहीं । इनके सिवा जो शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंमें हिंसादि पापकर्म होते हुए दिखलायी देते हैं वे भी वास्तवमें अहंकार और राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण पापकर्म नहीं हैं । कहा भी है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

(गीता १८ । १७)

'हे अर्जुन ! जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और सम्पूर्ण

कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।'*

ऐसे पुरुषके द्वारा शास्त्रविहित पुण्यकर्म केवल लोकसंग्रहार्थ होते हैं। वे कर्म भी फलेच्छा, आसक्ति या अहंकारपूर्वक नहीं किये जाते, तब वे दूसरे किसीको भी फलदायक कैसे हो सकते हैं? उनका तो यही प्रत्यक्ष फल है कि जो कोई उनके आचरणोंपर श्रद्धा करके उनका अनुकरण करने लग जाता है, वह अपने जीवनका सुधार कर लेता है। अश्रद्धालु उनके कर्मोंसे विशेष लाभ नहीं उठा सकते।

उनकी निन्दा या स्तुति करनेवालोंको पाप-पुण्य अवश्य होता है; पर वह ज्ञानीके कर्मोंका फल नहीं है, उन्हींकी क्रियाका फल उन्हें मिलता है। साधारण मनुष्यकी निन्दा करनेसे भी पाप होता है, पर ज्ञानी, शास्त्र और ईश्वरकी निन्दाका पाप अधिक होता है; क्योंकि उनकी निन्दासे लोगोंकी विशेष हानि होती है। संचित कर्म

---

* जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी हिंसा होती देखनेमें आवे, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है, वैसे ही जिस पुरुषका देहमें अभिमान नहीं है और जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वार्थरहित तथा केवल संसारके हितके लिये ही स्वाभाविक होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है; क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती तथा बिना कर्तृत्व-अभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, इसलिये वह पुरुष पापसे नहीं बँधता।

तो ज्ञानीके सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, प्रारब्ध कर्मोंका फल दूसरोंको मिल नहीं सकता और क्रियमाण कर्म भुने हुए बीजकी भाँति फल उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित होते हैं। अतः ज्ञानीके पुण्य-पापोंका सर्वथा अभाव होते हुए ज्ञानीके कर्मोंका फल निन्दा-स्तुति करनेवालोंको मिलनेका प्रसंग ही कैसे आ सकता है।

कोई-कोई विद्वान् ज्ञान होनेके अनन्तर भी प्रारब्धकर्मके आधारपर लेशाविद्याका आश्रय लेकर राग-द्वेष, काम-क्रोधादिको अन्तःकरणका धर्म मानकर झूठ, चोरी, व्यभिचारादि दुराचरणोंका भी उस ज्ञानीके द्वारा होना मानते हैं। किंतु वस्तुतः ज्ञानोत्तर-कालमें जीवन्मुक्त पुरुषके अंदर सर्वकर्मोंका सर्वथा अभाव बतलाया गया है (गीता ४ । ३७), उसका देह अज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रारब्धभोगके लिये रहता है। जो तत्त्ववेत्ता पुरुष हैं उनकी दृष्टिमें तो एक नित्य विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त शरीर और संसारका सर्वथा अभाव है; फिर वहाँ लेशमात्र भी अविद्या (अज्ञान) को गुंजाइश कहाँ है ? यदि लेशमात्र भी अविद्या (अज्ञान) माना जाय तो इस लेशाविद्याका धर्मी किसको माना जायगा ? जैसे सूर्योदयके उत्तरकालमें रात्रिका लेशमात्र भी रहना सम्भव नहीं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेपर, अज्ञानका लेशमात्र भी रहना सम्भव नहीं। अतएव उन ज्ञानी महात्माओंमें लेशमात्र भी अविद्याका मानना भूल है।

वे लोग यह भी कहते हैं कि 'प्रारब्धवश ज्ञानीद्वारा भी चोरी, परस्त्रीगमनादि पापकर्म हो सकते हैं; क्योंकि काम-क्रोधादि अब गुण

अन्तःकरणके धर्म होनेके कारण जबतक शरीर रहेगा तबतक ये रहेंगे ही, साक्षीका इनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है; अतः प्रारब्धकर्म अपना भोग देनेके लिये ज्ञानीको भी बलात् पापकर्मोंमें प्रवृत्त कर देते हैं, पर इतनेमात्रसे उनका तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं हो जाता इत्यादि । तथा अपने मतकी पुष्टिके लिये वे यह भी कहते हैं कि 'कुपथ्यसेवी, राजाकी स्त्रीसे प्रेम रखनेवाला और चोरी करनेवाला—ये तीनों भविष्यमें दण्ड मिलना जानते हुए भी, प्रारब्धभोगके वशमें होकर स्वेच्छासे कुपथ्यसेवन, चोरी और परस्त्रीगमनादि पापकर्म करते हैं ।' पर यह कहना न तो शास्त्रसम्मत है और न युक्तियुक्त ही है ।

किसी पापकर्मका फल भोगनेके लिये पुनः पापकर्म करना पड़ेगा, इस कथनको शास्त्रसम्मत माननेसे पापकर्मोंकी अनवस्थाका दोष आयेगा; ऐसी व्यवस्था करनेवालेमें भी मूर्खता और निर्दयताका दोष आयेगा, 'धर्मका आचरण करो, सत्य बोलो, पाप मत करो' इत्यादि शास्त्रोक्त विधि-निषेधबोधक वचन व्यर्थ होंगे और शास्त्रोंमें पापकर्मका फल दुःख बतलानेवाले जो वचन मिलते हैं, उन वचनोंमें विरोध आयेगा । अतः चोरी, व्यभिचार आदि पापकर्मोंका फल दुःखभोग होना शास्त्रसम्मत है, न कि पुनः पाप करना । यदि पापकर्म प्रारब्धका फल हो तो उस पापका फल दुःख कैसे होगा और उससे बचनेके लिये शास्त्रोंमें प्रेरणा क्यों की जायगी ।

साधारण न्यायकर्ता राजा भी ऐसा कानून नहीं बनाता कि अमुक पापकर्म करनेवालेको उसके फलस्वरूप पुनः पापकर्म करना पड़ेगा, बल्कि लोगोंको पापकर्मसे रोकनेके लिये ऐसा कानून

बनाता है कि अमुक आज्ञाका पालन नहीं करनेसे यह दण्ड मिलेगा और जो कोई उसकी आज्ञाके विरुद्ध चलता है उसको राजा दण्ड देता भी है, ताकि दूसरे उसे देखकर सावधान हो जायँ और आज्ञाका पालन करें। फिर परम दयालु सर्वशक्तिमान् ईश्वरद्वारा ऐसा कानून कैसे बनाया जा सकता है कि अमुक निषिद्ध कर्मका फल भोगनेके लिये अमुक निषिद्ध कर्म करना पड़ेगा।

गीता ३।३३ में जो यह लिखा गया है कि ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, वहाँ प्रकृति उसके स्वभावका नाम है। उसका स्वभाव साधनकालमें ही शुद्ध हो जाता है, अतः उसकी चेष्टा पापरूप नहीं होती। उसके द्वारा स्वेच्छा-पूर्वक प्रारब्धभोगके लिये जो कुछ चेष्टा होती है, सभी न्याययुक्त होता है और लोक-हितार्थ जो क्रियमाण कर्मोंकी चेष्टा होती है, वह भी न्याययुक्त ही होती है। ज्ञानियोंके लोकदृष्टिसे अवशिष्ट प्रारब्ध-भोग भिन्न-भिन्न रहते हैं, एवं साधनकालमें भिन्न-भिन्न ही अभ्यास होता है। इस उद्देश्यको लेकर यह कहा गया है कि सब ज्ञानियों-की चेष्टा एक-सी नहीं होती, अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार होती है। अभिप्राय यह है कि सभी मनुष्योंको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता, इसके लिये हठ करना व्यर्थ है। मनुष्यको उचित है कि प्रत्येक इन्द्रियके भोगमें जो राग और द्वेषरूप शत्रु छिपे हुए हैं, जो पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाले हैं, उनके वशमें न हो और धर्मपालनमें डटा रहे। यदि भगवान्का यहाँ यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि प्रारब्धवश मनुष्यको पापकर्म करने पड़ते हैं, तब तो राग-

द्वेषके वशमें न होने और धर्मपालनके लिये तत्पर होनेके लिये जो अगले श्लोकोंमें जोर दिया गया है, उन श्लोकोंकी कोई संगति ही न बैठेगी और भगवान्‌का महत्त्वपूर्ण उपदेश व्यर्थ हो जायगा। अतः गीताके श्लोकका ऐसा उलटा अर्थ समझाना लोगोंको भ्रममें डालना है। अवश्यम्भावीका प्रतीकार नहीं हो सकता, उसे कोई टाल नहीं सकता, यह कहना सर्वथा सत्य है; परंतु प्रारब्धकर्मके भोगरूप सुख-दुःखादिकी प्राप्तिके लिये फिर नया पापकर्म स्वेच्छापूर्वक अवश्य करना पड़े, ऐसा अवश्यम्भावी नहीं हो सकता; क्योंकि यह न्याय-संगत नहीं है। यदि धन-प्राप्तिके लिये चोरी करनी पड़ेगी या स्त्रीसुखभोगके लिये परस्त्रीगमन करना पड़ेगा या राजदण्ड पानेके लिये चोरी-व्यभिचार आदि पापकर्म करना पड़ेगा—ऐसा अवश्यम्भावी प्रारब्ध होता तो शास्त्रोंमें न्यायपूर्वक धन प्राप्त करनेकी, स्त्रीसुखभोगके लिये विवाहादिकी, रोगादिसे बचनेके लिये औषध और पथ्यकी, चोरी, व्यभिचार आदि पापकर्मोंसे बचनेके लिये राजदण्ड आदिकी व्यवस्था ही क्यों की जाती ?

प्रत्यक्षमें भी देखा जाता है कि साधनद्वारा जो मनुष्य अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है एवं राग द्वेष और काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है, उसकी भी प्रायः पापाचारमें प्रवृत्ति नहीं होती और साधनहीन मनुष्य काम क्रोधसे प्रेरित होकर पापाचार करते हैं। इसके सिवाय उपर्युक्त सिद्धान्त माननेसे किसी स्त्रीसे पुरुषका परस्पर संयोग परस्त्रीगमनरूप पाप-कर्मके द्वारा होना या किसी पुरुषका स्वस्त्रीव्रती होना स्वाधीन नहीं हो सकेगा, पापकर्मोंके करनेमें और धर्मके त्यागमें भी

प्रारब्धको कारण मानना होगा, जो कि सर्वथा न्यायविरुद्ध है।

धनकी प्राप्ति या रतिभोगकी प्राप्ति आदि सुखभोगके निमित्त अवश्यम्भावी बनाये जाते हैं, ऐसा माननेसे कोई राजा या धनी वैराग्य होनेपर भी गृहस्थका त्याग न कर सके, ऐसा न्याय प्राप्त होगा। इससे 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' (जाबाल० ४) अर्थात् 'जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन गृहस्थको छोड़कर संन्यास ग्रहण करना चाहिये' इस प्रकार कहनेवाली श्रुतियाँ व्यर्थ हो जायँगी तथा आश्रमका परिवर्तन और मुक्तिका होना भी प्रारब्धहीपर निर्भर हो जायगा जो सर्वथा अयुक्त है। अतः यही सिद्ध होता है कि शुभ कर्मोंका फल जो प्रारब्धफलरूप सुखभोग है उसका त्याग करनेमें मनुष्य सदा ही स्वतन्त्र है। 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (कैवल्य० १ । २)—त्यागसे ही मुक्तिका होना शास्त्र बतलाता है, अगर त्यागमें यह स्वतन्त्रता न होगी तो मुक्ति कैसे होगी।

हाँ, यह बात अवश्य है कि पाप-कर्मका फल जो दुःखभोग है, उसका त्याग करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। परंतु प्रारब्धरूप पापकर्मका फल भोगनेके लिये नया पापकर्म करना पड़े, यह मानना न्यायसंगत नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे होनेवाला दुःखरूप फल कौन-से पापकर्मका फल है, यह निर्णय होना भी मुश्किल हो जायगा और पापकर्मोंमें अनवस्थाका दोष आयेगा। संसारमें भी देखा जाता है कि कोई राजा चोरी, जारी आदि बुरे कर्मोंका फल यह नहीं देता कि ऐसा करनेवाला राजाज्ञाके विरुद्ध कर्म फिर करे, बल्कि फिर कभी वह राजाज्ञाका उल्लंघन न करे इसके लिये उसे दण्ड देता है।

प्र०--तब स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मका फलभोग किस प्रकार होता है?

उ०-स्वेच्छासे न्याययुक्त चेष्टा करते हुए जो उसका परिणामस्वरूप सुखभोग होता है, वह प्रारब्धरूप पुण्यकर्मका फल है और जो दुःखभोग होता है, वह प्रारब्धरूप पापकर्मका फल है। जैसे अपनी धर्मपत्नीके साथ न्यायपूर्वक रतिसुखभोग, स्ववर्णोचित न्याययुक्त वृत्तिद्वारा धनलाभ होना, उससे न्यायपूर्वक भोगोंका भोगना, न्यायपूर्वक चेष्टासे पुत्रादिका उत्पन्न होना एवं न्यायपूर्वक व्यवहार करते हुए भी धनादिकी हानि, अपने या स्त्री-पुत्रादिके शरीरमें बीमारी होनेपर न्याययुक्त उपाय करते हुए भी आराम न होना बल्कि उलटा परिणाम हो जाना इत्यादि अनेक प्रकारसे स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मका फलभोग होता है।

इसलिये प्रारब्धकर्मका फल भोगनेके लिये पापकर्म करना अवश्यम्भावी नहीं है, चेष्टा करनेसे मनुष्य पापोंसे बच सकता है। ऐसा होते हुए भी जो लोग धनोपार्जन या स्त्रीभोगादिके लोभसे पापाचरण करते हैं, वे राग-द्वेषादि अवगुणोंके वशीभूत होकर भारी भूल करते हैं। सुखभोगके अनुसार उनके पुण्यका क्षय होगा और पापकर्मका फल आगे जाकर अवश्य भोगना पड़ेगा तथा अन्यायाचारकी चेष्टा करनेसे भी बिना प्रारब्धके सुख नहीं मिलेगा। यह सोचकर भी मनुष्यको उचित है कि भोगोंके लोभसे पापाचरण न करे।

इसके सिवा उन विद्वानोंका यह भी कहना है कि अनिच्छापूर्वक प्रारब्धभोगके लिये भी मनुष्यको अपनी इच्छा न रहते हुए भी पापाचार करना पड़ता है; इसकी पुष्टिमें वे गीताके इन श्लोकोंका प्रमाण देते हैं—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥
(३ । ३६)

'हे कृष्ण ! यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ?'

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

(इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण महाराज बोले—) 'हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है । इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ।'

किंतु ऐसा सिद्धान्त मानकर गीताद्वारा उसका समर्थन करना गीताका दुरुपयोग करना और लोगोंको भ्रममें डालना है; क्योंकि यहाँ अर्जुनका प्रश्न अनिच्छाप्रारब्धभोगके विषयमें नहीं है; क्रियमाण पापकर्मके विषयमें है । अर्जुनके प्रश्नका भाव यह है कि भगवान् मनुष्यसे पापकर्म कराना नहीं चाहते, फिर भी उसके द्वारा पापकर्म होते हैं, मानो कोई जबरन् उनसे ऐसा कराता है, तो इसमें कारण क्या है ?

उसके उत्तरमें भगवान् नवीन क्रियमाण पापकर्मोंके होनेमें न तो ईश्वरको कारण बताते हैं और न प्रारब्धको ही कारण मानते हैं। वे तो स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! काम और उसीका दूसरा रूप क्रोध, जो मनुष्यके ज्ञान और विज्ञानके नाशक प्रबल शत्रु तथा नरकके द्वाररूप हैं, यही नवीन पापकर्ममें

हेतु हैं। अतः इन्द्रियोंको वशमें करके तू इनका नाश कर।'

यदि काम-क्रोध भी प्रारब्धके ही परिणाम होते तो भगवान् उन्हें नाश करनेकी बात कैसे कहते ? क्योंकि प्रारब्ध तो अवश्यम्भावी है। अतः यह प्रसंग अनिच्छाप्रारब्धभोगविषयक नहीं है, क्रियमाण-कर्मविषयक है। उसका दुरुपयोग करना लोगोंको भ्रममें डालना है।

प्र०—तब फिर अनिच्छासे प्रारब्धकर्मका भोग कैसे हो सकता है ?

उ०—अनिच्छासे यानी किसी दैवी घटनासे, अपने आप अपनी या दूसरेकी इच्छाके बिना ही जो सुख और दुःखोंका भोग होता है वह अनिच्छापूर्वक प्रारब्धभोग है; जैसे बिजली गिरनेसे लोग मर जाते हैं, धन और मकानकी हानि हो जाती है। इसी प्रकार जलकी बाढ़से, भूकम्पसे, रोगसे या अन्य किन्हीं कारणोंसे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र आदिका वियोग हो जाना, अथवा धनादि सुखभोगोंका प्राप्त हो जाना इत्यादि अनेक भोग हुआ करते हैं। ये सभी अनिच्छापूर्वक प्रारब्धभोग हैं। इनमें अन्यथा कल्पना करके उनमें पापाचारका समावेश कर देना लोगोंको धोखेमें डालना है।

प्र०—तो परेच्छापूर्वक प्रारब्धभोगका क्या स्वरूप है ?

उ०—इसी तरह दूसरोंकी इच्छा और प्रयत्नसे जो मनुष्यको सुख और दुःखोंका भोग प्राप्त होता है, वह परेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मका भोग है; जैसे चोर, डाकू आदिके द्वारा धनहरण, मृत्यु या स्त्री-पुत्रादिका नाश या अन्य किसी प्रकारकी हानिका होना इत्यादि।

यदि किसीको दत्तक पुत्र बना लेनेके नाते कोई धन देता है, तो ऐसे पुत्रको उस धनका मिलना; कोई स्त्री न्यायपूर्वक किसीको अपना पति बनाती है, तो ऐसे पतिको स्त्रीका मिलना;

कोई अपने जामाता या बेटी आदिको जो धन देते हैं, ऐसी हालतमें उन जामाता, बेटी आदिको धनका मिलना—ये सब परेच्छापूर्वक प्रारब्धभोगके उदाहरण हैं।

अतः स्वेच्छा, अनिच्छा और परेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मफलभोगकी अन्यथा कल्पना करके प्रारब्धकर्मका फल भोगनेके लिये पापकर्मोंका अवश्यम्भावी होना मानना या ज्ञान होनेके पश्चात् भी ज्ञानीके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अवगुणोंका होना स्वीकार करना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध, न्यायविरुद्ध और भ्रमपूर्ण है।

मनका धर्म मनन करना और बुद्धिका धर्म निश्चय करना होते हुए भी इस रहस्यको न जाननेके कारण ही काम-क्रोध, राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंको लोग अन्तःकरणके धर्म बतलाते हैं। किंतु ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं। भगवान्‌ने भी इनको गीतामें विकार ही माना है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

(१३ । ६)

'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूल देहका पिण्ड एवं चेतनता* और धृति, इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित† संक्षेपसे कहा गया।'

इनको अन्तःकरणके धर्म माननेसे, जबतक अन्तःकरण रहेगा तबतक इनका नाश नहीं होगा और विकार माननेसे नाश हो सकता

---

* शरीर और अन्तःकरणकी एक प्रकारकी चेतनशक्ति

† पाँचवें श्लोकमें कहा हुआ तो क्षेत्रका स्वरूप समझना चाहिये और इस श्लोकमें कहे हुए इच्छादि क्षेत्रके विकार समझने चाहिये।

है । तत्त्ववेत्ता पुरुषोंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदिका अत्यन्त अभाव बतलाया है, इसलिये भी ये विकार ही सिद्ध होते हैं ।

ज्ञानोत्तरकालमें ज्ञानीके मन-बुद्धि भी भुने हुए बीजके समान रह जाते हैं । फिर भला, उनमें काम-क्रोधादि विकारोंके लिये गुंजाइश कहाँ ? काम-क्रोधादि तो आसुरी सम्पदावालोंमें होते हैं और वे नरकके द्वार माने गये हैं (गीता १६ । २१); ये आत्माके पतन करनेवाले हैं । इसीलिये कल्याणकामी मनुष्यको इनसे मुक्त होनेके लिये भगवान् कहते हैं और सिद्धमें तो ये हो ही नहीं सकते ।

भगवान्‌ने कहा है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

(गीता ५ । २६)

'काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं ।'

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

(गीता १५ । ५)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ।'

मिलनेका पता
गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)